B.A.

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन

(MODERN WESTERN PHILOSOPHY)

B.A. Philosophy
Paper-II
PHIL-102

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा–846008

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

संपादक मंडल

1. प्रो. सरदार अरविन्द सिंह : निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा
2. डॉ. विजय कुमार : उपनिदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा
3. डॉ. राजीव कुमार : दर्शनशास्त्र विभाग, सी. एम. कॉलेज, दरभंगा
4. प्रो. मनोज कुमार झा : संकायाध्यक्ष, मानविकी-सह विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा
5. डॉ. शंभु प्रसाद : सहायक निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

लेखक एवं समन्वयक

डॉ. राजीव कुमार, दर्शनशास्त्र विभाग, सी. एम. कॉलेज, दरभंगा

Dr. Shambhu Prasad-Co-ordinator, DDE, LNMU, Darbhanga

प्रिय-छात्रगण

दूर शिक्षा ब्यूरो-विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली से मान्यता प्राप्त एवं संस्तुत बी. ए. (दूरस्थ माध्यम) पाठ्यक्रम के लिए हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। इस स्व-अधिगम पाठ्य सामग्री को सुलभ कराते हुए हमें अतीव प्रसन्नता हो रही है कि छात्रगण के लिए यह सामग्री प्रामाणिक और उपादेय होगी। ''आधुनिक पाश्चात्य दर्शन" (Modern Western Philosophy) नामक यह अध्ययन सामग्री अब आपके समक्ष है।

(प्रो. सरदार अरविन्द सिंह)
निदेशक

प्रकाशन वर्ष 2019

दूरस्थ पाठ्यक्रम सम्बन्धी सभी प्रकार की जानकारी हेतु दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, ल. ना. मिथिला यूनिवर्सिटी, कामेश्वरनगर, दरभंगा (बिहार)-846008 से संपर्क किया जा सकता है। इस संस्करण का प्रकाशन निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, ललित नारायण मिथिला यूनिवर्सिटी, दरभंगा हेतु मेसर्स लक्ष्मी पब्लिकेशंस प्रा. लि. दिल्ली द्वारा किया गया।

DLN-2680-172.50-ADHU PASCH DARSH PHIL-102 **C–**
Typeset at : Modern India, Delhi Printed at :

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभंगा-846004 (बिहार)
फोन एवं फैक्स : 06272 - 246506, वेबसाईट : www.ddelnmu.ac.in, ई-मेल : dde@lnmu.ac.in

माननीय कुलपति
ल. ना. मि. विश्वविद्यालय

प्रिय विद्यार्थी

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय द्वारा विकसित तथा विभिन्न निकायों से अनुशंसित स्व-अधिगम सामग्री को सुलभ कराते हुए अतीव प्रसन्नता हो रही है। विश्वास है कि दूरस्थ शिक्षा प्रणाली के माध्यम से उपाधि प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को बिना किसी बाह्य सहायता के विषय-वस्तु को ग्राह्य करने में किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होगी। हम आशा करते हैं कि पाठ्य-सामग्री के रूप में यह पुस्तक आपके लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रो. (डॉ.) एस. के. सिंह
कुलपति

खंड

2

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन

इकाई 1
पाश्चात्य दर्शन 1

इकाई 2
ज्ञान 22

इकाई 3
बुद्धिवाद 27

इकाई 4
दकार्त 38

इकाई 5
स्पिनोजा 56

इकाई 6
लाइबनित्ज 78

इकाई 7
अनुभववाद 102

इकाई 8
लॉक 118

इकाई 9
बर्कले 136

इकाई 10
ह्यूम 155

इकाई 11
कांट 180

इकाई-1 पाश्चात्य दर्शन

नोट

इकाई की रूपरेखा:

1. पाश्चात्य दर्शन की भूमिका
2. दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता
3. पाश्चात्य दर्शन और भारतीय दर्शन में अंतर
4. ऐतिहासिक सर्वेक्षण
5. अभ्यास प्रश्न

पाश्चात्य दर्शन की भूमिका

अपने दर्शन और सांस्कृतिक मूल्यों को आत्मसात करने के लिए अन्य दार्शनिक विचारधाराओं का सम्यक् बोध भी आवश्यक होता है। जो विचारक अन्य संस्कृतियों और जीवन-मूल्यों की उपेक्षा करते हैं, उनका अपना सांस्कृतिक मूल्य-बोध एकांगी तथा संकीर्ण हो जाता है। पाश्चात्य दर्शन के मूल तत्त्वों को बिना समझे हुए हमारी भारतीयता की पहचान भी अपूर्ण होगी। इसलिए विभिन्न पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धांतों का विवेचन करते समय उनकी संक्षिप्त तुलना प्रासंगिक भारतीय दार्शनिकों के मतों से की गयी है। दार्शनिक अनुशीलन के प्रारम्भ से लेकर अर्वाचीन दर्शन तक ज्ञान, सत् और मूल्य अथवा सत्यं-शिवं-सुन्दरं का विवेचन और मूल्यांकन ही दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र रहा है। केवल बीसवीं शताब्दी का विश्लेषी दर्शन इसका अपवाद है क्योंकि विश्लेषी दार्शनिकों की अभिरूचि परम्परागत दार्शनिक समस्याओं के निरूपण में नहीं थी। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में समसामयिक दर्शन की इस प्रवृत्ति का विवेचन नहीं हो सका है।

आज की बदलती हुई वैश्वीकरण और उत्तर आधुनिक चिन्तन की परिस्थितियों में स्वयं दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता से सम्बन्धित प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। अत: किसी विशिष्ट दार्शनिक परम्परा का विवेचन करने से पूर्व स्वयं दार्शनिक अनुशीलन की सामाजिक प्रासंगिकता से सम्बन्धित प्रश्नों के विभिन्न पक्षों पर संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है।

दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता (The Social Relevance of Philosophy)

मनुष्य का जीवन और चिन्तन दोनों साथ-साथ प्रारम्भ होता है। जब तक मनुष्य में चिंतन का विकास प्रारम्भ नहीं होता है तब तक वह सही अर्थों में मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं होता है। मनुष्य में यह जानने की स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि जीवन का क्या लक्ष्य है? मानव-जीवन का क्या अर्थ है? मानवेतर प्राणी न तो यह जानने का प्रयास करते हैं और न यह जानने में समर्थ हैं कि जीवन का क्या लक्ष्य है अथवा जीवन का क्या अर्थ है? इस जिज्ञासा की संतुष्टि के लिए मानव अपने जीवन के लक्ष्यों एवं जीवन-मूल्यों के प्रति अपना एक दृष्टिकोण विकसित कर लेता है। जीवन के स्वरूप और लक्ष्य को समझने के लिए जगत् के स्वरूप एवं प्रयोजन को समझना भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि मनुष्य का जीवन और

मूल्यों का अनुसंधान इस जगत् में ही संभव होता है। अत: यह जगत् भी स्वाभाविक रूप से मानव-चिंतन का विषय हो जाता है।

नोट

यदि जगत् के स्वरूप पर अनुशीलन किया जाय तो यह अत्यन्त विचित्र प्रतीत होता है। हम यह देखते हैं कि एक ओर बसन्त की सुषमा एवं मादकता समस्त प्राणियों को आह्लादित करती है तो दूसरी ओ गरमी की तपन से वे व्याकुल हो जाते हैं। इसी प्रकार ऋतुओं का परिवर्तन, ऊपर तारों से भरा हुआ आकाश, भूकम्प, तूफान, महामारी, ज्वालामुखी-विस्फोट आदि मनुष्य के मन में कौतूहल, भय, आश्चर्य एवं जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। वैज्ञानिक इन घटनाओं के स्वरूप की व्याख्या कारण-कार्य नियम के आधार पर करते हैं। किन्तु कारण-कार्य श्री शृंखला का ज्ञान मानव-कौतूहल को शान्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है। कारण-कार्य का सिद्धान्त केवल यह निर्दिष्ट करता है कि ये घटनाएँ किसी विशेष नियम के अनुसार घटित होती हैं। किन्तु विज्ञान यह नहीं स्पष्ट कर पाता है कि इस जगत् का क्या प्रयोजन है? ये घटनाएँ इस नियम के अनुसार क्यों घटित होती हैं? यही कारण है कि वैज्ञानिक ज्ञान के विकसित होने पर भी आज 21वीं शताब्दी में भी यह प्राकृतिक जगत् मनुष्य के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। यह ब्रह्माण्ड सौन्दर्य से युक्त (Beautious) और उदात्त (Sublime) है। इसके समग्र स्वरूप को समझने की जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से मनुष्य को एक विशेष प्रकार के चिन्तन के लिए प्रेरित करती है। इसे फलस्वरूप दार्शनिक अनुशीलन का विकास होता है। इस दृष्टि से चिन्तन की दो विधाएँ हो सकती हैं :-

(1) समस्त विषय के स्वरूप को उसकी समग्रता में एक साथ जानने का प्रयास करना।

(2) किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके प्रत्येक अंश को पृथक्-पृथक् जानने का प्रयास करना।

इनमें से प्रथम पद्धति ही दार्शनिक चिंतन का आधार हो सकती है, जबकि दूसरी विधा का प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में किया जाता है। दार्शनिकों ने ब्रह्माण्ड के स्वरूप का ज्ञान इसकी सम्पूर्णता में करने के लिए चिन्तन की प्रथम विधि का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त दार्शनिक पद्धति का बौद्धिक होना अनिवार्य है ताकि रोग-द्वेष आदि मनोविकारों से मुक्त होकर तत्त्व के स्वरूप का निष्पक्ष एवं तटस्थ दृष्टि से ज्ञान प्राप्त किया जा सके। इस प्रकार परम्परागत रूप से दर्शनशास्त्र मनुष्य की अनुभूतियों का तार्किक विश्लेषण और मूल्यांकन करके यह निर्धारित करने का प्रयास करता है कि इस जीवन और जगत् (ब्रह्मांड) का मूल आधार कोई तात्त्विक सत्ता है अथवा नहीं? दर्शनशास्त्र की यह अवधारणा मुख्य रूप से पाश्चात्य दर्शन के परिप्रेक्ष्य में की गयी है। यद्यपि भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों की चिन्तन पद्धतियों एवं दृष्टिकोणों में कुछ मौलिक अन्तर है, तथापि दोनों दार्शनिक परम्पराओं में सम्पूर्ण ब्रह्मांड एवं उसके तात्त्विक आधार की खोज (तत्त्व-ज्ञान) को अपने अपने ढंग से दार्शनिक चिंतन का विषय माना गया है। सम्पूर्ण ब्रह्मांड को दार्शनिक चिंतन का विषय कहने का तात्पर्य यह है कि प्राय: दार्शनिक विश्व की व्यवस्था के संचालक आधारभूत, अर्थात् मौलिक (Foundational) नियमों की खोज करने का प्रयास करते रहे हैं।

दर्शनशास्त्र के विरुद्ध प्राय: यह आक्षेप लगाया जाता है कि दार्शनिक प्रश्नों को कभी भी हल नहीं किया जा सकता है। इन प्रश्नों का अन्तिम समाधान प्राप्त करने के लिए हम कब तक प्रतीक्षा करते रहेंगे? किन्तु ऐसे आक्षेप दर्शनशास्त्र के साथ-साथ विज्ञान के क्षेत्र में भी लागू होते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में ऐसी अनेक समस्याएँ रही हैं, जिनका उत्तर बहुत बाद

में मिला। यहाँ तक कि आज भी वैज्ञानिक ऐसे अनेक प्रश्नों के उत्तर खोजने में लगे हुए हैं, जिनका संतोषप्रद उत्तर विज्ञान नहीं दे पा रहा है। यदि इन प्रश्नों को अनुत्तरणीय मान करके वैज्ञानिक उनकी खोज का प्रयास न करें तो विज्ञान की प्रगति ही अवरूद्ध हो जायेगी। गैलीलियो और न्यूटन के अनेक सिद्धांतों में परवर्ती वैज्ञानिकों ने संशोधन एवं परिमार्जन किया। इसके फलस्वरूप वैज्ञानिक अनुसंधान उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होता रहा है। यही बाद दार्शनिक अनुसंधान के विषय में लागू होती है। यह अवश्य है कि दार्शनिक प्रश्नों का स्वरूप वैज्ञानिक प्रश्नों से भिन्न होता है। दार्शनिक समस्याएँ अत्यंत गंभीर, व्यापक एवं सार्वभौमिक प्रकृति की होती हैं। इसलिए उनका कोई सर्वमान्य एवं सबके द्वारा स्वीकृत उत्तर प्राप्त करना कठिन होता है। विश्व का स्वरूप और प्रयोजन क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? सत् क्या है? ज्ञान क्या है? ज्ञान, मूल्य और सत् में क्या सम्बन्ध है? ज्ञान और आचरण का आदर्श प्रतिमान क्या हो सकता है? इत्यादि। इस प्रकार के दार्शनिक प्रश्न अत्यंत जटिल, व्यापक एवं गहन चिन्तन की माँग करते हैं। ये प्रश्न भले ही कठिन और जटिल हों, परन्तु हम इसके बारे में सोचना बन्द नहीं कर सकते हैं। इन प्रश्नों के अनेक उत्तर दिये गये हैं और अभी अनेक उत्तर दिये जा सकते हैं। इन प्रश्नों के बारे में विभिन्न दार्शनिकों या दार्शनिक सम्प्रदायों के अपने अलग-अलग दृष्टिकोण हो सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्य की अपनी एक जीवन-पद्धति होती है। उसका ज्ञान, मूल्य एवं सत् के प्रति अपना एक दृष्टिकोण होता है। इस दृष्टिकोण और जीवन-पद्धति के अनुरूप ही मानव-जीवन के समस्त कार्यक्रम निर्धारित होते हैं। अतः बुद्धिजीवियों के बीच में विवाद कुशल या अकुशल, सुसंगतिपूर्ण या विसंगतिग्रस्त दार्शनिक चिंतन, विचार- पद्धति, तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, मूल्यमीमांसा आदि के स्वरूप को लेकर हो सकता है। किन्तु कोई भी विचारशील मनुष्य दार्शनिक चिंतन से बच नहीं सकता है। वस्तुतः दार्शनिकों में सहमति अथवा असहमति का प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता है जितना कि चिन्तन-पद्धति का सामञ्जस्यपूर्ण होना महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान युग में दार्शनिक अनुशीलन के प्रमुख बिन्दु क्या हो सकते हैं? आज के दबलते हुए परिवेश में, देश-काल एवं परिस्थिति के अनुरूप दार्शनिक चिंतन की दिशा क्या होनी चाहिए? इन प्रश्नों पर दार्शनिकों में मतभेद हो सकता है। किन्तु इन प्रश्नों पर मतभेद होते हुए भी दार्शनिक चिन्तन समाज की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह अवश्य है कि दार्शनिक प्रश्नों को लेकर दार्शनिकों में विवाद होता रहता है। उनमें प्रायः असहमति पायी जाती है। इस संदर्भ में पश्चिम में एक समालोचक और दर्शनिक पी॰ए॰ शिल्प का यह कथन उल्लेखनीय है-"शायद (इन गहन और व्यापक दार्शनिक प्रश्नों के स्वरूप को लेकर) दर्शनिकों में असहमति होनी ही चाहिए।" किन्तु इस असहमति का कारण न तो दार्शनिकों का अज्ञान है और न उनका गहन चिन्तन में अकुशल एवं असमर्थ होना। इस असहमति का कारण दार्शनिक समस्याओं का बहुआयामी एवं जटिल होना है। इसके अतिरिक्त इन दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर मनुष्य की जीवन-शैली, उनकी सांस्कृतिक संरचना एवं उनके पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से प्रभावित होते हैं।

वस्तुतः दर्शनिक विचारों में भिन्नता के कारण ही विभिन्न सम्प्रदायों की जीवन-शैली अलग-अलग होती है। इस जीवन-शैली एवं विचार-पद्धति के अनुरूप ही मनुष्य के समस्त कार्यक्रमों का निर्धारण होता है। यही कारण है कि हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक मूल्यों का स्वरूप और संरचना दार्शनिक अनुशीलन से प्रभावित होती है। उदाहरण के लिए, ईश्वर के अस्तित्व के बारे में भिन्न-भिन्न मत रखने वाले व्यक्तियों की जीवन-पद्धति एक-दूसरे से अलग होती है। यही बात व्यक्ति और राष्ट्र दोनों कें संदर्भ में लागू होती है। प्रत्येक

राष्ट्र की अपनी एक अलग सांस्कृतिक पहचान होती हैं उसके दार्शनिक चिन्तन का भी अपना एक अलग ढाद्दचा (मॉडल) होता है। हमारी जीवन-पद्धति, मूल्यबोध, आचरण, लोक कल्याण के प्रतिमान, अर्थव्यवस्था, राजनीति की प्रणालियाँ आदि हमारी दार्शनिक सोच (विचारधारा) से प्रभावित होती हैं। किसी सैद्धांतिक आधार के बिना मानव-जीवन, पर्यावरण, राजनीति, समाज-नीति एवं आर्थिक नीति अस्त-व्यस्त हो जाती ही। इन सब को सुव्यवस्थित, संतुलित एवं परस्पर सामञ्जस्यपूर्ण बनाने के लिए जिस आधारभूमि एवं सिद्धांत की आवश्यकता होती है, वह दर्शनशास्त्र से प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि दार्शनिक प्रश्न कोरे अमूर्त-चिंतन पर आधारित कल्पना नहीं हैं। ये प्रश्न मानव-जीवन की आवश्यकताओं से उत्पन्न होते हैं और जीवन एवं जगत् को सुव्यवस्थित, आह्लादक एवं कल्याणकारी बनाने के सूत्र हैं। इन प्रश्नों के उत्तर देने के प्रयत्न में ही अनेक दार्शनिक सिद्धांतों (जेसे-तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय, मूल्यमीमांसीय इत्यादि) का प्रतिपादन किया गया है।

दार्शनिक प्रश्नों के विरुद्ध एक आक्षेप यह है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक इन प्रश्नों का कोई एक सुनिश्चित उत्तर नहीं दिया जा सका है। दर्शनशास्त्र अपनी परम्परागत (घिसी-पिटी) पुरानी समस्याओं तक ही सीमित है। ये समस्याएँ भविष्य में भी इसी प्रकार बनी रहेंगी। उनका कोई समुचित समाधान संभव न हो सकेगा। इस प्रकार दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में नवीनता का अभाव है। इन पर विचार करने से क्या लाभ है?

वस्तुतः यह आक्षेप दर्शनशास्त्र के इतिहास की गलत समझ के कारण किया जाता है। यह कहना सत्य नहीं है कि दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर देने में कोई सफलता नहीं मिली है। सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने के साथ-साथ दार्शनिक समस्याओं के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता रहता है। आधुनिक युग का मानव दार्शनिक प्रश्नों को अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से समझता है। ये प्रश्न भले ही अभी तक हल नहीं हुए हैं, परन्तु आज के उत्तर पहले दिये गये उत्तरों की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत, परिमार्जित एवं विकसित हैं। दार्शनिक समस्याओं के विषय में हमारी समझ प्राचीन काल के मनुष्यों की तुलना में अधिक परिपक्व और विकसित हुई है। दार्शनिक समस्याएँ भले ही प्राचीन हों, परंतु उनके प्रति विभिन्न युगों में दार्शनिकों के दृष्टिकोण नवीन होते हैं। सच तो यह है कि प्राचीन समस्याओं के प्रति नवीन दृष्टि एवं नवीन व्याख्याएँ, ही दार्शनिक चिन्तन को मौलिकता प्रदान करती हैं। इस प्रकार दार्शनिक चिन्तन समाज, साहितय, धर्म और विज्ञान के घात-प्रतिघात से विकसित होता है। यही कारण है कि प्रत्येक युग में दार्शनिक समस्याओं के नवीन आयाम विकसित होते रहते हैं। जिस प्रकार साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, अर्थात् जिस प्रकार युग के अनुरूप नवीन साहित्यिक दृष्टि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार समय-परिवर्तन के साथ-साथ प्रत्येक संस्कृति के मार्गदर्शन के लिए दार्शनिक चिन्तन की भी आवश्यकता होती है। अतः यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि दर्शनशास्त्र के प्रारम्भ से लेकर आज तक दार्शनिक समस्याओं के स्वरूप में कोई नवीनता नहीं है।

जीवन और जगत् के प्रति हमारा चिन्तन जितना अधिक व्यवस्थित (Systematic) और सामंजस्यपूर्ण होगा, वह उतना ही अधिक संतुलित एवं सफल होगा। किसी दार्शनिक की सफलता अपने ज्ञान एवं विचारों को जीवन में आत्मसात् करने में निहित होती है। दार्शनिक भले ही स्वयं कोई आन्दोलन और क्रान्ति न कर सकें, परन्तु उनके विचार किसी न किसी

समाज-सुधारक अथवा राजनीतिज्ञ को माध्यम बनाकर आन्दोलन का रूप धारण कर लेते हैं। कोई भी क्रान्ति अथवा आंदोलन समाज में घटित होने के पूर्व मनुष्य के विचारों में जन्म लेता है। क्रान्तिकारी विचार किसी न किसी दार्शनिक दृष्टि पर आधारित होने पर ही अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करते हैं। जैसे-उदाहरण के लिए कार्ल मार्क्स के विचारों ने लेनिन को प्रभावित किया। उसके फलस्वरूप उसने अपने समय के रूसी समाज को व्यवस्थित एवं संगठित करने का महान कार्य सम्पन्न किया। स्वयं मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हेगल एवं फ्वेरबाक (Feuerbach) के विचारों से प्रभावित हुआ था। इसी प्रकार पश्चिम में सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, कांट, रूसो इत्यादि एवं भारत में महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, आदि शंकराचार्य, कौटिल्य, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी आदि के दृष्टान्त विद्यमान हैं। इन विचारकों ने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से समाज, धर्म और राजनीति को प्रभावित किया।

उत्तर आधुनिकता (Post Modernity) से प्रभावित कुछ विचारकों एवं समालोचकों के अनुसार आधुनिक दार्शनिक चिन्तन ज्ञान, सत् और मूल्य के जिन निरपेक्ष, सार्वभौम और सर्वग्राह्यमानदण्डों की खोज करने का प्रयास कर रहा है, वे संभव ही नहीं हैं क्योंकि सत्ता का कोई निरपेक्ष एवं सार्वभौम ज्ञान नहीं हो सकता है। ज्ञान के प्रामाण्य (वैधता) के सार्वभौम नियम संभव नहीं हैं। इसी प्रकार कोई निरपेक्ष मूल्य भी नहीं है। अतः दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में सार्वभौमिकता, तार्किक सुसंगति और सत्य की खोज करने का प्रयास निरर्थ है। इस दृष्टि से ज्ञान, सत् और मूल खण्डित, बहुवचनीय और देश-काल एवं परिस्थिति-सापेक्ष है।

प्रस्तुत संदर्भ में उत्तर आधुनिकतावाद की व्याख्या एवं मूल्यांकन करना विषयान्तर होगा। किन्तु यहाँ यह कहना प्रासंगिक होगा कि इस विचारधारा से प्रभावित विचारकों को अपने मतों की स्थापना के लिए किसी न किसी मानदण्ड अथवा प्रतिमान को अवश्य अपनाना पड़ेगा। ज्ञान, मूल्य और सत् की कोई ओचना किसी न किसी मानदंड के आधार पर ही की जा सकती है। यदि बिना किसी मानक के दर्शनशास्त्र की आलोचना की जाती है तो उसे सारगर्भित और युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता हैं इसके विपरीत यदि दार्शनिक समस्याओं का खंडन करने के लिए कोई मानदंड प्रयुक्त किया जाता है तो निश्चित रूप से वह किसी न किसी दार्शनिक विचारधारा पर ही आधारित होगा। अतः किसी विशेष प्रकार की दार्शनिक पद्धति एवं दार्शनिक विचारधारा के निराकरण को सम्पूर्ण दर्शन का निराकरण नहीं कहा जा सकता है।

कुछ आलोचकों के अनुसार दर्शनशास्त्र अव्यावहारिक होता है। यह दृष्टिकोण साधारण लोगों की सतही सोच पर आधारित है। दार्शनिक चिंतन के प्रति उनकी गलत समझ को दूर करने की आवयकता है। किसी दार्शनिक विचारधारा से सहमत होना अाविा असहमत होना एक अलग बात है, परन्तु दर्शनशास्त्र मात्र को निरर्थक, अव्यावहारिक एवं अनुपयोगी कहना दर्शन के प्रति एक भ्रामक दृष्टिकोण पर आधारित है। क्या व्यावहारिक होने का अर्थ बिना किसी सिद्धांत के अपने संवेगों, भवनाओं एवं वासनाओं के वशीभूत होकर आचरण करना है? क्या व्यावहारिक होने का अर्थ अवसरवादी एवं चापलूस होना है? वास्तव में 'व्यावहारिक होने के नाम पर' अवसरवादी, कुतर्क, वितंडा और चापलूसी को गलत प्रोतसाहन देना व्यवहार और दर्शनशास्त्र दोनों की गलत समझ है। मनुष्य के व्यावहारिक होने का निहितार्थ यह है कि जीवन की वास्तविकताओं (Grand Realities) को ध्यान में रखकर उनके अनुरूप व्यक्ति एवं समाज के कल्याण की दिशा निर्धारित की जाय। इसके लिए तार्किक एवं मूल्यपरक दृष्टिकोण को विकसित करने की आवश्यकता है जो बिना किसी दार्शनिक चिंतन प्रणाली के संभव नहीं हो सकता है।

कुछ आलोचकों का यह कहना है कि आज का युग अर्थ-प्रधान है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं कम्प्यूटर के इस युग में मनुष्य की प्रमुख आवश्यकता जीविकोपार्जन के साधन सुलभ कराना है। ऐसी परिस्थिति में दर्शनशास्त्र की क्या उपयोगिता हो सकती है? इसी प्रश्न से जुड़ा हुआ एक अन्य प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य जीविकोपार्जन के साधन उपलब्ध कराना है? यह सत्य है कि अर्थोपार्जन मानव की जीविका के लिए एक मूलभूत आवश्यकता है। किन्तु यह मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। दर्शनशास्त्र का सम्बन्ध भले ही प्रतयक्ष रूप से जीविकोपार्जन न हो, परन्तु इसका प्रयोजन जीविकोपार्जन के लक्ष्य को निर्धारित करना है। दूसरे शब्दों में, जीविकोपार्जन मनुष्य की एक मूलभूत आवश्यकता है, परन्तु यह अपने आप मे साध्य नहीं है। यह किसी उच्चतर साध्य की प्राप्ति का साधन मात्र है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी, अर्थोपार्जन आदि मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिए साधन-मूल्य हैं। उनका लक्ष्य कतिपय साध्यमूल्यों की प्राप्ति है। मानव जीवन का परम आदर्श, निः श्रेयस एवं अन्तिम लक्ष्य क्या है? दार्शनिक अनुशीलन इसी का बोध कराता है। यह जीविका भले न प्रदान कर सके, परन्तु जीवन के यथार्थ स्वरूप एवं लक्ष्य का मार्ग-दर्शक है। कोई भी संवेदनशील एवं बुद्धिजीवी मनुष्य केवल खाने के लिए (जीविकोपार्जन हेतु) जीवित नहीं रहना चाहता है, बलिक जीवन में कुछ लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जीवित रहना चाहता है, बल्कि जीवन में कुछ लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जीवित रहना चाहता है। अतिशय भोगवाद एवं सुखवाद की आलोचना करते हुए जे॰एस॰ मिल ने कहा है कि 'एक असंतुष्ट सुकरात होना एक संतुष्ट शूकर (Pig) होने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है।' असंतुष्ट ज्ञानी एवं दार्शनिक होना एक संतुष्ट मूर्ख होने से अच्छा है। कोई मूर्ख व्यक्ति अपने को अधिक सुखी या धन्य समझता है तो इसका कारण यह है कि वह (मूर्ख) केवल अपने ही दृष्टिकोण को समझता है। इसके विपरीत दार्शनिक दोनों के दृष्टिकोणों (अर्थात्) व्यष्टि एवं समष्टि दोनों के दृष्टिकोणों) को जानता है। इससे स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र ऐसे मूल्यों, आदर्शों एवं निःश्रेयस से सम्बन्धित है जो मनुष्य को सदैव मनुष्य बने रहने के लिए प्रेरित करते हैं। जब तक मनुष्य की चिंतन-पद्धति सन्तुलित, मूल्यपरक और निष्पक्ष नहीं होगी तब तक हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी से प्राप्त संसाधनों का सुदपयोग लोक कल्याण की दिशा में नहीं कर सकते हैं। आधुनिक युग संकट का युग है। विश्व के विभिन्न भागों में व्याप्त हिंसा, तनाव, आतंकवाद, धार्मिक एवं जातीय संघर्ष, नशाखोरी, भ्रष्टाचार एवं अन्य सामाजिक बुराइयाँ केवल विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं कम्प्यूटर से दूर नहीं की जा सकती हैं। इनसे बचने के लिए व्यवस्थित विचार-पद्धति एवं मूल्यपरक शिक्षा के द्वारा मनुष्य की सोच को, जीवन-दृष्टि को बदलने की आवश्यकता है। जब-जब मानव समाज सांस्कृतिक क्षरण की त्रासदी से गुजरता है, तब-तब दार्शनिक अनुशीलन की अत्यधिक आवश्यकता होती है। वस्तुतः दार्शनिक प्रक्रिया एक सामाजिक प्रक्रिया है। दार्शनिक दृष्टि से रहित समाज एक असभ्य, बर्बन एवं आदिम समाज (Primitive Society) होगा। प्रायः ऐसा समाज दिशाहीन, लक्ष्यहीन एवं अदूरदर्शी मनुष्यों की एक भीड़ के समान होता है। दर्शनशास्त्र समाज की प्रज्ञा चक्षु है और प्रज्ञा समाज की गतिशील आत्मा है। दर्शनशास्त्र का उद्‌भव एवं विकास समाज में होता है। उस पर सामाजिक मान्यताओं, भाषा, धर्म, संसकृति आदि का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक होता है। हम दर्शनशास्त्र और समाज की एक-दूसरे से पृथक् रूप में कल्पना नहीं कर सकते हैं, अर्थात् दोनों में अवियोज्य सम्बन्ध है। यह प्रश्न करना कि दर्शनशास्त्र की समाज के लिए क्या प्रासंगिकता है, एक अप्रासंगिक प्रश्न है। दार्शनिक चिन्तन की सामाजिक प्रासंगिकता दर्शनशास्त्र का एक अवियोज्य आयाम है।

यदि कोई दर्शन समाज की सृजनात्मक आत्मा, अर्थात् समाज की जमीनी वास्तविकताओं, मूल्यों एवं संस्कृति की उपेक्षा करता है तो वह अप्रासंगिक हो जाता है। वह समाज के लिए ग्राह्य नहीं रह जाता है। इसके अतिरिक्त यदि दार्शनिक चिंतन को अभिव्यक्त करने वाली भाषा मृतप्राय हो जाती है तो दर्शनशास्त्र समाज को प्रभावित नहीं कर पाता है। इसके फलस्वरूप वह समाज के लिए अप्रासंगिक हो जाता है। उदाहरण के लिए आधुनिक यूरोपीय समाज के लिए लैटिन भाषा में अभिव्यक्त दर्शन और आज के भारतीय समाज के लिए संस्कृत, पाली एवं प्राकृत भाषा में व्यक्त दर्शन अप्रासंगिक हो जायेगा। इसी प्रकार किसी भी विदेशी भाषा में व्यक्त स्वदेशी दर्शन उस देशीय समाज के लिए दुर्बोध हो जाता है। वस्तुतः किसी भी राष्ट्र के दर्शन की अभिव्यक्ति उसकी अपनी भाषा में होना चाहिए। यदि किसी दार्शनिक विचारधारा को व्यक्त करने वाली भाषा समाज के जनमानस के लिए अपिरिचित हो तो ऐसा दार्शनिक चिन्तन समाज से दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई विचारधारा सामाजिक प्रगति, वेचारिक स्वतंत्रता आदि मूल्यों को बाधित करती है तो वह समाज के लिए न केवल अप्रासंगिक हो जाती है, बल्कि बहुत ही घातक (खतरनाक) हो जाती है। उदाहरण के लिए, शास्त्रीय ईसाई दर्शन (कैथोलिक सम्प्रदाय की कट्टरपंथी विचारधारा) आधुनिक यूरोपीय दर्शन के विकास के पूर्व बहुत घातक सिद्ध हुआ। अनेक वैज्ञानिकों और दार्शनिकों को कठोर यातनाएँ दी गयीं। इससे सामाजिक प्रगति एवं वैचारिक स्वतंत्रता कुण्ठित हुई। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि किसी दार्शनिक विचारधारा के विकास, सामाजिक प्रासंगिकता और सृजनात्मकता के लिए कुछ आवश्यक शर्तें होती हैं। इनमें से प्रथम शर्त यह है कि दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति राष्ट्र भाषा और साधारण भाषा में होनी चहिए। यदि दार्शनिक चिंतन को अभिव्यक्त करने वाली भाषा सुबोध न हो तो ऐसा दर्शन सरलतापूर्वक ग्राह्य न होने के कारण समाज की मुख्य धारा से कट जाता है। इसके अतिरिक्त किसी दार्शनिक आदर्श को जीवन्त और सृजनशील (Creative) बनाये रखने के लिए दार्शनिक वाद-विवाद के फलस्वरूप 'असहमति के प्रति सद्भाव' का होना आवश्यक है। बौद्धिक सहनशीलता (Intellectual Tolerance) और आत्मलोचन (Self-Criticism) की प्रवृत्ति के अभाव में कोई दर्शनशास्त्र न तो समाज के लिए प्रासंगिक हो सकता है और न चिरस्थायी हो सकता है। वस्तुतः बौद्धिक सहनशीलता एवं आत्मालोचन की प्रवृत्ति से वंचित दार्शनिक विचारधाराएँ फासीवाद एवं नस्लवाद को अनुचित रूप से प्रोतसाहित करती रहती हैं। इससे दर्शनशास्त्र के अपने लक्ष्य से विचलित होने का भय (खतरा) रहता है। अपने से विपरीत (विरोधी) मतों के प्रति सद्भाव, शाश्वत संवाद एवं वाद-विवाद तथा समन्वय की प्रक्रिया से प्रतयेक जीवन्त दार्शनिक सम्प्रदाय अपना पुनर्मूल्यांकन और अपने सिद्धांतों की पुनर्संरचना (Reconstruction) अाविा पुनर्गठन करता रहता है। इसी में उसकी सामाजिक प्रासंगिकता निहित होती है।

कुद विचारकों के अनुसार दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता दर्शन का न तो साध्य है और न सर्वस्व है क्योंकि विश्व में न तो कोई सार्वभौमिक समाज है और न कोई सार्वभौम दर्शनशास्त्र है। यह सच है कि विश्व में अनेक समाज एवं अनेक प्रकार की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ हैं। जो दर्शनशास्त्र किसी विशेष देश-काल एवं परिसिीति में एक समाज के लिए प्रासंगिक हैं, हो सकता है कि अन्य परिस्थितियों में एवं अन्य समाजों के लिए सार्थक और उपयोगी न हो। किन्तु विश्व में अनेक समाजों एवं संस्कृतियों का होना कोई समस्या नहीं है। प्रतयेक समाज की अपनी अलग-अलग दार्शनिक एवं सांस्कृतिक मान्यताएँ, विचार एवं मूल्यबोध हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि समाज और दर्शनशास्त्र एक-दूसरे को तर्कतः प्रतिपन्न करते हैं। अतः दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता उसका एक अवियोज्य आयाम है।

आज के बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवेश में दार्शनिकों का यह दायित्व है कि वे अपने विचारों और सिद्धांतों से समाज की चिन्तन-प्रणाली (सोचने के तरीके) को परिमार्जित करें। समाज के व्यावहारिक प्रश्नों का समाधान खोजने की आवश्यकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के महान विचारक कार्ल मार्क्स ने अपने युग के दार्शनिकों के आचरण पर क्षोभ व्यक्त करते हुए यह चेतावनी दिया-'दार्शनिकों का कार्य है संसार (समाज) को बदलना', अर्थात् शोषण-मुक्त समाज की सीापना के लिए प्रयत्न करना। दर्शनिकों का कार्य केवल अनुशीलन ही नहीं, बल्कि उन्हें समाज को बदलने का प्रयत्न भी करना चाहिए। दर्शनशास्त्र की एक प्रमुख उपलब्धि बुद्धि के परिमार्जन के फलस्वरूप मनुष्य को व्यवस्थित एवं युक्तिसंगत चिंतन के योग्य बनाना है। मनुष्य के जीवन की अधिकांश सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक समस्याएँ अव्यवस्थित, अतार्किक, संकुचित एवं स्वार्थपरक दृष्टि के कारण पैदा होती हैं। यदि दर्शन की इस पद्धति का उपयोग पूर्वोक्त समस्याओं को हल करने के लिए अपनाया जाय तो विश्व की अनेक समस्याएँ स्वत: हल हो सकती हैं। साम्प्रदायिक एवं जातीय उन्माद, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, अपराध आदि से सम्बन्धित समस्याएँ केवल विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं कम्प्यूटर के द्वारा दूर नहीं की जा सकती हैं। इन कुरीतियों को दूर करने के लिए समाज की मानसिकता (सामाजिक सोच) में परिवर्तन अथवा विचार-प्रणाली में परिमार्जन की महती आवश्यकता है। इसके लिए दर्शनशास्त्र की तार्किक पद्धति एवं मूल्यात्मक दृष्टि (Evaluative Vision) की उपयोगिता और प्रासंगिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर खोजने की जिज्ञासा मनुष्य के लिए स्वाभाविक होती है। मनुष्य की यह एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है कि वह अपने यथार्थ जीवन और अपनी सीमाओं से प्राय: संतुष्ट नहीं रहता हैं उसके मन में अपनी सीमाओं से परे 'जो कुछ है', उसके बारे में जानने की एक 'अदम्य इच्छा-शक्ति' (Nisus of Whole) पायी जाती है। कुछ विचारकों ने इसे मनुष्य में पायी जाने वाली 'स्वातिक्रमण' (Self Transcendence) की प्रवृत्ति कहा है। मनुष्य के पास 'जो कुछ है', वह उससे संतुष्ट नहीं होता है। यदि कोई मनुष्य अपने यथार्थ से संतुष्ट हो जाता है तो वह या तो देवत्व को प्राप्त कर लेता है अथवा विचारशून्य पशुओं की श्रेणी (कोटि) में सम्मिलित हो जाता है। किन्तु ये दोनों विकल्प मानव-जीवन एवं संस्कृति की प्रगति के लिए उपयुक्त नहीं हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और दार्शनिक अनुशीलन एक सामाजिक व्यापार है। दर्शनशास्त्र का इतिहास एक प्रकार से सामाजिक संस्कृति के इतिहास की ही मुख्य धारा है। अत: कोई संवेदनशील और जागरूक बुद्धिजीवी दार्शनिक चिंतन की उपेक्षा नहीं कर सकता है। वस्तुत: दार्शनिक प्रश्नों की उपेक्षा करना अथवा इन प्रश्नों को जटिल और कठिन होने के कारण टाल देना एक प्रकार का बौद्धिक पलायनवाद है। इससे स्पष्ट है कि दार्शनिक अनुशीलन प्रत्येक सुसंस्कारित समाज का स्वाभाविक व्यापार है। अत: समाज के लिए दर्शनशास्त्र की उपयोगिता और प्रासंगिकता से सम्बन्धित प्रश्न बहुत प्रासंगिक नहीं है।

पाश्चात्य दर्शन और भारतीय दर्शन

पाश्चात्य चिंतन के क्षेत्र में प्रयुक्त अंग्रेजी का 'फिलॉसफी' (Philosophy) शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दों से व्युत्पन्न है। इन्हें क्रमश: 'फिलॉस' (Philos) और 'सोफिया' (Sophia) के नाम से जाना जाता है। 'फिलॉस' पद का प्रयोग ग्रीक भाषा में प्रेम अथवा अनुराग (Love) के अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार 'सोफिया' का प्रयोग ज्ञान या विवेक

(Knowledge or Wisdom) को निर्दिष्ट करने के लिए किया गया है। दर्शनशास्त्र में 'ज्ञान' (Knowldedge) शब्द का प्रयोग कभी-कभी 'विवेक' (Wisdom) के अर्थ में भी किया जाता है। किन्तु व्यवहार में 'ज्ञान' (नॉलेज) का प्रयोग साधारण अर्थ (Ordinary Sense) के साथ-साथ वैज्ञानिक संदर्भों में भी किया जाता है। वस्तुत: पाश्चात्य दर्शन में 'नॉलेज' शब्द का प्रयोग भारतीय प्रमाण मीमांसा में प्रयुक्त 'प्रमा' (Valid or True Cognition), अर्थात् वैध अथवा सत्य ज्ञान के अर्थ में किया गया है। व्यवहार में इसका (नॉलेज का) अनुवाद संस्कृत या हिन्दी भाषा में प्रचलित ज्ञान के अर्थ में किया जाता है। किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान का वर्गीकरण 'सत्य ज्ञान' के साथ-साथ 'असत्य ज्ञान' के रूप में भी किया है। तकनीकी दृष्टि से 'नॉलेज' का अनुवाद 'प्रमा' के अर्थ में करना अधिक समीचीन माना गया है। पश्चिम में 'फिलॉसफी' का प्रयोग इसी नॉलेज अथवा विवेक के प्रति बौद्धिक प्रेम के अर्थ में किया गया है। विवेक के प्रति बौद्धिक प्रेम एक प्रकार की जिज्ञासा का द्योतक है। प्राचीन ग्रीक विचारकों ने सृष्टि एवं मानव-जीवन के मूल आधारों की खोज के साथ-साथ ग्रहों, नक्षत्रों, तारा-मंडल, गणित आदि के विषय में जानने की उत्सुक्ता (Curiosity) व्यक्त किया। उन्होंने ब्रह्मांड (Universe) और मानव-जीवन के स्वरूप एवं लक्ष्य से संबंधित प्रश्नों के उत्तरों का अध्ययन फिलॉसफी के अन्तर्गत किया।

किन्तु पश्चिम में फिलॉसफी की कोई निश्चित परिभाषा देना संभव नहीं है क्योंकि प्राचीन काल से लेकर बीसवीं शताब्दी तक वहाँ दार्शनिक चिंतन का स्वरूप और लक्ष्य विभिन्न युगों और परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहा है। इसके फलस्वरूप वहाँ इसका प्रयोग तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, मूल्यमीमांसा, विश्लेषण, द्वितीय क्रम की गवेषणा (The Second Order-Inquiry), निकषमीमांसा (Criteriology) आदि के संदर्भ एवं अर्थों में किया जाता रहा है। मध्यकाल में ईसाई धर्म से प्रभावित दार्शनिक सिद्धांतों को छोड़कर 'फिलॉसफी' का प्रयोग 'समालोचनात्मक अनुशीलन' के ही अर्थ में किया गया है। किन्तु समालोचनात्मक चिन्तन (Critical Refelction) पर आधारित दार्शनिक ज्ञान स्वयंकल्पित एवं स्वत:प्रेरित अथवा स्वत:स्फूर्त होता है। इससे स्पष्ट है कि दार्शनिक अनुशीलन किसी के ऊपर बलपूर्वक थोपा नहीं जा सकता है। यह ज्ञान के प्रति बौद्धिक अनुराग और श्रद्धा के बिना संभव नहीं है। अत: पश्चिम में फिलॉसफी को ज्ञान अथवा विवेक के प्रति (बौद्धिक या सुक्तिसंगत) प्रेम अथवा श्रद्धा कहा गया है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति विवेक के प्रति श्रद्धा एवं प्रेम से युक्त होता है, वही सद्गुणी भी हो सकता है। इसीलिए सुकरात ने ज्ञान (विवेक) और सद्गुण में तादात्म्य (अभेद) स्थापित किया।

भारतीय चिन्तन परम्परा में प्रयुक्त 'दर्शन' का शाब्दिक अर्थ 'दृष्टि' (Vision) है। यह साधारण अर्थ में प्रयुक्त 'देखना' (Seeing and Looking) क्रिया से भिन्न है। व्यवहार में 'दर्शन करना' और 'देखना' दोनों का प्रयोग अलग-अलग संदर्भों में किया जाता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में इसका अर्थ तत्त्व का दर्शन, तत्त्व-ज्ञान अथवा तत्त्व का साक्षात्कार है। इस तत्त्व साक्षात्कार का लक्ष्य मानव-जीवन के समस्त दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति, अर्थात् समूल नाश है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में इसे परा विद्या कहा गया है। दूसरे शब्दों में तत्त्व-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार, ब्रह्म-विद्या, निर्वाण एवं संबोधि, मोक्ष, कैवल्य, अपवर्ग आदि के साक्षात्कार या विवेक के लिए 'दर्शनशास्त्र' का प्रयोग किया जाता रहा है। इसके विपरीत भारत में लौकिक जीवन से सम्बन्धित ज्ञान को अपराविद्या के अनतर्गत सम्मिलित किया गया है। उल्लेखनीय है कि भारतीय परम्परा में दर्शनशास्त्र धर्म (Religion) से स्वतंत्र नहीं है। यहाँ धर्म और दर्शन

में अलगाव नहीं है। भारतीय दर्शन उस विवेक की खोज है जिसको जान लेने से जो अज्ञात है, वह सब ज्ञात हो जाता है। इस दृष्टि से दर्शन अशेष ज्ञान या सम्यक् ज्ञान है जिसको जान लेने से किसी वस्तु का ज्ञान शेष नहीं रहता है। उपनिषद् काल से लेकर आज तक भारतीय दर्शन अनेक सम्प्रदायों, विचारधाराओं और मतमतान्तरों में विभक्त रहा है। किन्तु सभी सम्प्रदायों के दार्शनिक अनुशीलन का लक्ष्य समस्त दु:खों से पूर्णतया मुक्त होना रहा है। प्राच्य एवं पाश्चात्य परम्पराओं में दर्शनशास्त्र अपने मौलिक स्वरूप में ईश्वरमीमांसा (Theology) और विज्ञान (Science) दोनों से भिन्न है। ईश्ववरमीमांसा अथवा धर्म (Religion) का प्रतिपाद्य विषय भाषा, तर्कबुद्धि एवं सामान्य मानव-अनुभूति से परे है। इसके विपरीत दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत तर्क (Logic) और भाषा अपरिहार्य हैं। उन्हें दर्शन का उपकरण कहा जाता है। यहाँ तक कि धर्मपरायण दार्शनिक भी धार्मिक तत्त्व की व्याख्या एवं मूल्यांकन के लिए तार्किक तथा भाषिक आकलों या पेरामीटरों (Parameters of Logic and language) का प्रयोग करते हें। इसी प्रकार दर्शन विज्ञान (Science) से भी भिन्न है क्योंकि विज्ञान आनुभविक प्रेक्षण (Empirical Observation) और परीक्षण (Experiment) का सहारा लेकर तथ्यों का विश्लेषण करता है। विज्ञान एक प्रकार का तथ्यात्मक अध्ययन है। इसके विपरीत दर्शनशास्त्र विज्ञानों की पूर्वमान्यताओं का विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन करता है। दर्शन (Philosophy) के अन्तर्गत मनुष्य के कर्मों के औचित्य, ज्ञान के प्रतिमानों, सौन्दर्य, उदात्त (Sublime), सत्ता शुभ आदि के मानदण्डों का मूल्यात्मक अध्ययन किया जाता है। अत: दर्शन को एक मूल्यात्मक (Evaluative) और निकषमीमांसीय विज्ञान (Criteriological Science) कहा जा सकता है। धर्मशास्त्र और विज्ञान के विपरीत दर्शन 'द्वितीय क्रम की गवेषणा' (Second Order Inquiry) है। संभवत: रसल ने दर्शनशास्त्र के इस स्वरूप को ही ध्यान में रखकर कहा है- दर्शनशास्त्र की स्थिति ईश्वरमीमांसा और विज्ञान के बीच (मध्यवर्ती) की है।' (Philosophy is something intermediate between Theology and Science..... a No Man's land), वे विज्ञान और दर्शन के अंतर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-'विज्ञान वह है जिसे आप जानते हैं, जबकि दर्शनशास्त्र वह है जिसे आप नहीं जानते हैं' (अर्थात् जिसे जानने की मनुष्य में जिज्ञासा होती है) (Science is what you know, Philosophy is what you don't know) इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य एवं प्राच्य दोनों ही परम्पराओं में दर्शनशास्त्र की चरम परिणति ज्ञान (विवेक) की खोज में हुई। किन्तु ज्ञान की खोज करने में दोनों के उद्देश्य अलग-अलग रहे हैं। पाश्चात्य दर्शन की मूल प्रेरणा मानव जीवन में व्याप्त सभी दु:खों से मुक्ति प्राप्त करने में रही है।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि समाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ दार्शनिक चिंतन की दिशा और दार्शनिकों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता रहता है। इस स्थल पर दर्शनशास्त्र की कोई एक सुनिश्चित परिभाषा देना न तो संभव है और न आवश्यक है। यहाँ पर हमारा लक्ष्य पाश्चात्य और भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में अन्तर स्पष्ट करना है।

पाश्चात्य दर्शन का विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से सभी विज्ञानों का आधार और स्रोत दर्शनशास्त्र है। सभी विज्ञान दर्शन की संतान हैं क्योंकि आरम्भ में किसी विज्ञान का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। किन्तु ज्ञान के विकास-क्रम में धीरे-धीरे प्रत्येक विज्ञान अपने मूल आधार दर्शनशास्त्र से पृथक् होले लगा। इस प्रकार विभिन्न विाान दर्शन से स्वतंत्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुए। यही कारण है कि भारतीय दर्शन के विपरीत पाश्चात्य दर्शन

में प्रत्येक वैज्ञानिक खोज दार्शनिक चिन्तन को गति प्रदान करती रही है। वहाँ प्रत्येक नवीन दार्शनिक विद्या ने विज्ञान के लिए प्रेरणा प्रदान किया। भौतिकशास्त्र के कुछ प्रसिद्ध विद्वानों ने इसे स्वीकार किया है कि यदि विज्ञानों की पद्धति का सम्यक् अनुसरण किया जाय तो उसका पर्यवसान दर्शनशास्त्र में होता है। पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित दार्शनिक और वैज्ञानिक दर्शनशास्त्र से विज्ञान को अलग रखने के पक्ष में नहीं हैं। अपने अन्तिम प्रयोजन की दृष्टि से विज्ञान और दर्शनशास्त्र एक-दूसरे के विरोधी नहीं हो सकते हैं। पाश्चात्य दर्शन की अधिकांश विचारधाराएँ यूक्लिड की ज्यामिति, न्यूअन की भौतिकी और डार्विन के विकासवाद से प्रभावित रहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि विज्ञान और दर्शनशास्त्र की निकटता और सामंजस्य पाश्चात्य दर्शन की एक प्रमुख विशेषता है। उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य परम्परा में प्रारम्भ से ही सत् के विवेचन के साथ-साथ सामाजिक, राजनीतिक एवं भौतिक (प्राकृतिक) जगत् की समस्याओं का विवेचन एवं मूल्यांकन होता रहा है। विज्ञान से प्रभावित होने के कारण पाश्चात्य दर्शन जहाँ एक ओर प्रकृतिवादी (Naturalistic) और बौद्धिक दृष्टि से युक्त है, वहीं दूसरी ओर धर्म (Religion) से भी प्रभावित है। पाइथागोरस के युग से ही प्राचीन ग्रीक विचारधारा पर आर्फिक धर्म का प्रभाव रहा है। इसके अतिरिक्त बहुदेववाद एवं अन्य धार्मिक सम्प्रदायों का प्रभाव भी समाज में व्याप्त रहा है। इस कारण से पाश्चात्य दर्शन प्रकृतिवादी होते हुए भी मूल्यपरक जीवन दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित है।

इसके विपरीत भारतीय दर्शन पर धर्मशास्त्र, मोक्षशास्त्र, योगशास्त्र और व्याकरण-दर्शन का जितना अधिक प्रभाव पड़ा है, उतना गणित, विज्ञान और ज्योतिषशास्त्र का प्रभाव नहीं पड़ा है। किन्तु यह अवश्य है कि भारतीय तत्त्वमीमांसकों ने भी दर्शन और विज्ञान के सम्बन्ध के विषय में मौलिक कल्पना किया है। यद्यपि भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही आध्यात्मवादी रहा है, तथापि वे लौकिक जगत् एवं वैज्ञानिक चिंतन के प्रति उदासीन नहीं हैं। कुछ भारतीय समालोचकों और विद्वानों ने यह दावा किया है कि भारतीय ऋषियों ने लौकिक विज्ञानों की उन्नति के लिए उतना ही ध्यान दिया था, जितना कि ज्ञान की अन्य विधाओं को विकसित करने का प्रयत्न किया। किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने विज्ञान को दर्शनशास्त्र का सहायक माना है। उनके अनुसार दर्शनशास्त्र परा विद्या है। जीवन का परम श्रेय आत्म-ज्ञान अथवा मोक्ष है। दर्शन परम श्रेय (मोक्ष) की प्राप्ति का साधन है। ज्ञान की अन्य शाखाएँ जो व्यावहारिक सत्य की खोज करती है, उन्हें अपरा विद्या के नाम से जाना जाता है। वे परमार्थ तक पहुँचने में असमर्थ हैं। इस दृष्टि से समस्त विज्ञान मानव-जीवन और जगत् के भिन्न-भिन्न अंशों का ज्ञान प्रदान करते हैं। व्यावहारिक विज्ञानों का लक्ष्य मनुष्य के लौकिक जीवन को सुखमय और क्लेश-रहित बनाना है। वे दु:ख के किसी विशेष प्रकार को ही दूर कर सकते हैं। वे सभी प्रकार के दु:खों का आत्यन्तिक निरोध (निवारण) करने में असमर्थ हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य दु:खों का पूर्ण विनाश है। अत: भारतीय आचार्यों ने विज्ञानों के पथ-प्रदर्शक के रूप में दर्शनशास्त्र की परिकल्पना की है।

यह उल्लेखनीय है कि भारत में सांख्य-योग, न्याय एवं वैशेषिक सम्प्रदाय वैज्ञानिक और तार्किकदृष्टि से युक्त हैं, परन्तु बौद्धों और वेदान्तियों की अतिशय आध्यात्मिक एवं वैराग्यवादी प्रवृत्ति के समक्ष उनकी विचारधारा गौण हो गयी। बौद्धों औ वेदान्तियों ने प्राकृतिक दृष्टिकोण की उपेक्षा किया। यद्यपि चार्वाकों का दर्शन विशुद्ध रूप से भौतिकवादी, सुखवादी एवं लौकिक है, तथापि उनका उग्र भौतिकवाद एवं भोगवाद बौद्धों और वेदान्तियों के आध्यात्मवाद, वैराग्यवाद और संन्यासवाद के समक्ष टिक न सका।

पाश्चात्य दर्शन में परम्परागत एवं समष्टिगत चिन्तन की अपेक्षा वैज्ञानिक और व्यष्टिगत चिंतन का अधिक महत्त्व रहा है। वहाँ दार्शनिक प्रवृत्तियाँ प्रायः दार्शनिकों के व्यक्तित्व पर आश्रित रही हैं। वहाँ जितने दार्शनिक हुए हैं वे सभी अपने पूववर्ती दार्शनिकों के सिद्धांतों का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हैं। वे किसी परम्परा को केवल आस्था के आधार पर नहीं स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत भारतीय विचारधारा में दार्शनिक परम्पराओं एवं सम्प्रदायों का विशेष महत्त्व रहा है। भारतीय दर्शन में खंडन-मंडन की जो प्रवृत्ति विभिन्न सम्प्रदायों के बीच में रही है वह प्रवृत्ति पाश्चात्य दर्शन में विभिन्न दार्शनिकों के बीच में रही है। उदाहरण के लिए डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनित्ज बुद्धिवादी होते हुए भी द्रव्य के स्वरूप एवं परिभाषा के बारे में एकमत नहीं है। वे एक-दूसरे के मतों का खंडन करते हैं। इसी प्रकार लॉक के अनुभववाद को अपनाते हुए भी बर्कले ओर ह्यूम के दार्शनिक निष्कर्ष अलग-अलग हैं। वस्तुतः पाश्चात्य दार्शनिक अपनी मौलिकता एवं नवीनता को जितना अधिक महत्त्व देते हैं उतना किसी परम्परा की स्थिरता को महत्त्व नहीं देते हैं। इससे स्पष्ट है कि पश्चिम की दार्शनिक विचारधारा में दृष्टि एवं परम्परा की अपेक्षा द्रष्टा और मौलिकता को अधिक महत्त्व दिया गया है।

विज्ञान से प्रभावित होने के कारण पाश्चात्य दर्शन विश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाकर दर्शनिक समस्याओं पर विचार करता है। सुकरात और प्लेटो के युग में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन-अध्यापन संश्लिष्ट रूप में दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत ही किया जाता था। किन्तु कालान्तर में (अरस्तू के समय से ही) उनका विवेचन पृथक्-पृथक् शाखाओं के रूप में होना प्रारमी हुआ। बौद्धिक विकास के फलस्वरूप शनैः शनैः दर्शनशास्त्र एवं विज्ञान की अनेक शाखाओं एवं विधाओं का विकास हुआ। इसके फलस्वरूप पाश्चात्य दर्शन में तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, सौनदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान, विज्ञान का दर्शन (Philosophy of Science) इतयादि का अध्ययन अलग-अलग शास्त्रों के रूप में किया जाने लगा। विभिन्न समस्याओं के अध्ययन के लिए पाश्चात्य दार्शनिकों के द्वारा अपनायी गयी विश्लेषणात्मक पद्धति का लक्ष्य जटिल समस्याओं का सरलीकरण है। इसका लक्ष्य विचारों में स्पष्टता और सुभिन्नता लाना है। किसी समस्या के सम्यक् बोध के लिए विश्लेषण की इस पद्धति को उपयुक्त माना गया है। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन बुद्धिवादी और प्रकृतिवादी होने के साथ-साथ विश्लेषणात्मक भी रहा है। उनकी विश्लेषणात्मक पद्धति पाश्चात्य दर्शन की द्वैतवादी सांस्कृतिक चेतना और उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिणाम है।

इसके विपरीत भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण संश्लेषणवादी है। इसके अन्तर्गत तत्त्वशास्त्रीय, धार्मिक, नैतिक, प्रमाणमीमांसीय मनोवैज्ञानिक, तर्कशास्त्रीय आदि विधाओं का समिश्रण हो गया है। इसके फलस्वरूप भारतीय दर्शन में दार्शनिक चितन और आस्थापरक धार्मिक मान्यताओं एवं मूल्यों में परस्पर अतिव्यापन (Overlapping) अथवा घपला हो जाता है। वे परस्पर इस प्रकार मिश्रित हो गये हैं कि उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करना कठिन हो जाता है। वास्तव में, दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य की तार्किक, भाषिक, प्रमाणमीमांसीय एवं मूल्यमीमांसीय विधाओं को ही सम्मिलित करना समीचीन होगा। भारतीय दर्शन का संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। यह भारतीय संस्कृति की विविधता में एकता एवं समरसता की विशेषता का प्रभाव है। समसामयिक युग में पाश्चात्य दर्शन ने अनेक भारतीय विद्वानों को प्रभावित किया है। इस प्रभाव के फलस्वरूप पाश्चात्य दर्शन की विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग भारतीय दर्शन के संदर्भ में भी करने का प्रयास किया गया है। पाश्चात्य दार्शनिक पद्धति से प्रभावित भारतीय विचारकों में प्रो॰ बालकृष्ण मतीलाल, प्रो॰ पी॰टी॰ राजू, प्रो॰ संगमलाल पाण्डेय, प्रो॰ नन्द किशोर

देवराज, प्रो॰ दयाकृष्ण, प्रो॰ शिबजीवन भट्टाचार्य आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पश्चिम की विश्लेषणात्मक पद्धति से प्रभावित भारतीय विद्वानों ने इसका प्रयोग भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के संदर्भ में भी करने का प्रयास किया। वैशेषिकों का दार्शनिक चिन्तन विश्लेषणात्मक है। उनका विलेषण वस्तुओं स्वरूप का विश्लेषण है। उनकी पदार्थमीमांसा एक प्रकार के दार्शनिक विश्लेषण पर आधारित है। इसी प्रकार मीमांसा समप्रदाय का दर्शन भाषा-विश्लेषण (Analysis of Language) है। नैयायिकों ने तर्कणा, ज्ञान, प्रमाण आदि का विश्लेषण किया है। किनतु भारत में विश्लेषण को दर्शन नहीं माना गया है। इस परिप्रेक्ष्य में सांख्य योग एवं वेदान्त की परम्परा महत्त्वपूर्ण है। वे दर्शन का प्रयोग दृष्टि (Vision) के अर्थ में करते हैं। यहाँ 'दृष्टि' का अर्थ 'सम्यक् ज्ञान' है। यह 'सम्यक् ज्ञान तत्त्व-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार (Self-Realisation) है। यद्यपि प्राच्य अथवा पाश्चात्य किसी भी परम्परा के 'दर्शनशास्त्र' का अभेद 'विश्लेषण' से करना युक्तिसंगत नहीं है, तथापि दर्शन की विश्लेषण ात्मक उद्धति की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। यह एक वैज्ञानिक पद्धति है। वस्तुत: विश्लेषण की विधि का उपयोग पाश्चात्य दर्शन का एक गुण है। विचारों की स्पष्टता के लिए विश्लेषण की इस पद्धति को भारतीय दर्शन के संदर्भ में अपनाना दर्शनशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

पाश्चात्य दर्शन के विरुद्ध आक्षेप

सामान्यतया भारतीय दर्शन से प्रभावित कुद समालोचकों ने पाश्चात्य दर्शन के विरुद्ध आक्षेप लगाये हैं। इनमें से यह एक अत्यन्त प्रचलित आक्षेप है कि पाश्चात्य दर्शन भौतिकवादी और बहिर्मुखी है। किन्तु सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन को बहिर्मुखी, सतही और भौतिकवादी कहना एक प्रकार का पूर्वाग्रह प्रतीत होता है। यह सत्य है कि पाश्चात्य दर्शन अपने उद्भव और विकास के प्रारम्भिक युग में प्रकृतिवादी, एकतत्ववादी (Monistic), बुद्धिवादी और वैज्ञानिक दृष्टि से युक्त रहा है। माइलेशियन सम्प्रदाय के तीनों विचारक थेलीज, एनैक्जिमेन्डर और एनैक्जिमेनीज, ने क्रमश: जल (ह्यूल) एपीरन (Apiron) अाविा असीमित (Boundless) एवं वायु को सृष्टि के मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार किया था। किन्तु पाश्चात्य दर्शन के इतिहास का अध्ययन करने से स्पष्ट है कि पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा के प्रारम्भिक काल से ही बहिर्मुखी प्रवृत्ति के साथ-साथ एक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की धारा भी चलती रही है। पाइथागोरस एवं एनैक्जेगोरस के दार्शनिक विचार इसके जीवंत प्रमाण हैं। पाइथागोरस के नैतिक एवं धार्मिक विचार उसकी आध्यात्मिक दृष्टि को प्रमाणित करते हैं। एनॉक्जेगोरस के दर्शन में नाऊस (Nous), अर्थात् चेतन बुद्धि को सृष्टि के संचालन एवं गतिशीलता के लिए आवश्यक माना गया है। उसके अनुसार अचेतन परमाणु किसी चेतन बुद्धि के अभाव में स्वत: गतिशील नहीं हो सकते हैं। यह प्राचीन ग्रीक विचारधारा की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का द्योतक है। इसके अतिरिक्त सुकरात, प्लेटो, स्पिनोजा, लाइबनित्ज, बर्कले, काण्ट, हेगल एवं नव्य हेगलवादी दार्शनिक न तो भौतिकवादी हैं और न ही उनकी दार्शनिक मान्यताएँ सतही चिनतर पर आधारित हैं। उनका दृष्टिकोण प्रत्ययवादी, अध्यात्मवादी एवं अन्तर्मुखी हैं। अत: यह आक्षेप कि 'पाश्चात्य दर्शन बहिर्मुखी एवं भौतिकवादी है', युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है।

वस्तुत: पाश्चात्य दर्शन धर्म और विज्ञान दोनों से प्रभावित है। सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व का पाश्चात्य दर्शन किसी न किसी रूप में धर्म से प्रभावित था। किन्तु आधुनिक युग

में कुछ दार्शनिकों ने दर्शन को धर्म से अलग कर लिया। आधुनिक दर्शन की मुख्य पहचान बौद्धिकता और वैज्ञानिक दृष्टि है। इसके अतिरिक्त आधुनिक दर्शन का केन्द्र-बिन्दु ज्ञानमीमांसा (Epistemology) है। डेकार्ट से लेकर हेगल पर्यन्त कोई भी दार्शनिक ज्ञानमीमांसीय समस्याओं की उपेक्षा न कर सका। काण्ट ने तो यहाँ तक कहा कि दर्शनशास्त्र केवल ज्ञानमीमांसा के रूप में ही संभव है। उसके अनुसार तत्त्वमीमांसा (Meatphysics) के रूप में दर्शनशास्त्र असंभव है। इसके विपरीत हेगल तत्त्वशास्त्र और ज्ञानशास्त्र दोनों को परस्पर आन्तरिक रूप से सम्बद्ध कर देता है। दोनों का प्रतिपाद्य विषय एक ही तत्त्व है। उसे चाहे सत् (Real) कहा जाय अथवा बौद्धिक (Rational) कहा जाय। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध तत्त्वमीमांसक एफ॰एच॰ ब्रैडले विचार और सत् के विवेचन में ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा में स्पष्ट भेद करते हैं। इस प्रकार वहाँ का कोई भी दार्शनिक ज्ञानमीमांसा की उपेक्षा नहीं करता है।

उल्लेखनीय है कि आधुनिक यूरोपीय दर्शन की दो प्रमुख धाराएँ हैं जो एक-दूसरे से भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भिन्न हैं। इंग्लैण्ड की अनुभववादी एवं यथार्थवादी दार्शनिक प्रवृत्ति उसे अन्य यूरोपीय देशों (विशेष रूप से जर्मनी की बुद्धिवादी, प्रतययवादी एवं आध्यात्मवादी परम्परा से पृथक् करती है। नव्य हेगलवाद के अपवाद स्वरूप ब्रैडले और टी॰एच॰ ग्रीन के दर्शन को छोड़कर सम्पूर्ण आंग्ल-दर्शन (British Philosophy) अनुभववादी प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है। 1924 ई॰ में ब्रैडले की मृत्यु के बाद आंग्ल दर्शन पुनः अपनी अनुभववादीएवं यथार्थवादी प्रवृत्ति को अपना लेता है। इससे स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड की दार्शनिक परम्परा अन्य यूरोपीय देशों की दार्शनिक परम्पराओं से भिन्न है।

पाश्चात्य दर्शन के विरुद्ध एक आक्षेप यह है कि वहाँ के दार्शनिकों का चिन्तन एकांगी और खंडित है। किन्तु यह आक्षेप आलोचकों के अपने सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों पर आधारित है। पाश्चात्य दर्शन का मूल्यांकन अद्वैतवाद की दृष्टि से करना समीचीन नहीं है क्योंकि यह उसकी सम्यक् समझ में बाधक हो सकती है। वस्तुतः पाश्चात्य दर्शन का मूल्यांकन करते समय पश्चिम की सांस्कृतिक परम्परा एवं जीवन-दृष्टि (प्राकृतिक एवं बौद्धिक दृष्टिकोण) को ध्यान में रखना आवश्यक है। यद्यपि प्लेओ, प्लॉटिनस, स्पिनोजा, काण्ट, हेगल, ब्रैडले आदि के कुछ दार्शनिक सिद्धांत वेदान्तियों, बौद्धों एवं अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की मान्यताओं से समानता रखते हैं, तथापि पाश्चात्य चिन्तन का ढाँचा वेदान्त अथवा भारतीय दर्शन के मॉडल पर खड़ा करना पाश्चात्य दर्शन की समालोचना के लिए तर्कसंगत नहीं है। पाश्चात्य दर्शन की अपनी एक अलग मूल्य-दृष्टि एवं भारतीय दर्शन से पृथक् पहचान है।

एक आक्षेप यह है कि पाश्चात्य दर्शन अनुभव को खंडित रूप में ग्रहण करता है। यूरोप में अनुभववाद, बुद्धिवाद एवं प्रातिभवाद (Intuitionism) अथवा रहस्यवाद (Mysticism) की पृथक्-पृथक् धारायें हैं। इसके विपरीत भारतीय दर्शन में प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय में प्रत्यक्ष, अनुमान और अपरोक्षानुभूति या प्रतिभान का उपयोग किया जाता रहा है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय दर्शन में (चार्वाक दर्शन के अपवाद को छोड़कर) प्रत्यक्षवाद, तर्कबुद्धिवाद और प्रातिभवाद का अलग-अलग विचारधाराओं के रूप में विकास न हो सका। इसका कारण यह है कि यहाँ अनुभव को सर्वांगीण अथवा अखण्ड अनुभूति के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः किसी खण्डित अनुभव के आधार पर दार्शनिक सम्प्रदायों की स्थापना न की जा सकी।

उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य परम्परा में रहस्यवाद, प्रातिभवाद या अपरोक्षानुभूति को धर्म (Religion) के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया। वहाँ दर्शनशास्त्र के अनतर्गत अनुभव

और तर्कबुद्धि को प्राथमिक स्थान दिया गया। अपरोक्षानुभूति पर आधारित रहस्यवादी साधना का स्थान दर्शन में नगण्य अथवा गौण है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन में प्रातिभ ज्ञान को प्रधानता दी गयी। वेदान्त और बौद्ध दोनों परम्पराओं में अपरोक्षानुभूति को प्राथमिक महत्त्व दिया गया। उसकी तुलना में प्रत्यक्ष, अनुमान, तर्कबुद्धि आदि का स्थान गौण माना गया। भारत में आगनात्मक और निगमनात्मक इन दोनों ही प्रणालियों का प्रयोग परस्पर सम्बद्ध रूप में किया गया। वे एक-दूसरे से अवियोज्य हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन में दर्शन की सभी शाखाओं एवं विधाओं का विवेचन एक साथ चलता रहा है। इसके विपरीत पश्चिम में दर्शन की सभी शाखाओं का अध्ययन अलग-अलग विधा के रूप में किया जाता रहा है।

पाश्चात्य दर्शन में सोफिस्टों के युग से ही राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का भी विवेचन होता रहा है। इसके अतिरिक्त सुकरात, प्लेटो और अरस्तू की ग्रीक परम्परा से लेकर अर्वाचीन दार्शनिक चिंतन तक लोकजीवन की समस्याओं और शास्त्रों (विज्ञानों) का विवेचन और मूल्यांकन होता रहा है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन सर्वत्र सूक्ष्म अनुशीलन एवं विवेचन से सम्बन्धित रहा है।

अपने चिन्तन में भारतीय दार्शनिक समाज और राजनीति की समस्याओं को सम्मिलित नहीं करते हैं। यहाँ लोक जीवन की समस्याओं का विवेचन अर्थशास्त्र, वार्ताशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र के अन्तर्गत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिकों ने लौकिक विषयों पर उतना अधिक विचार नहीं किया जितना कि पाश्चात्य दार्शनिकों ने किया। पश्चिमी परम्परा में व्यवहार और परमार्थ के बीच में अधिक अन्तराल अथवा 'अलंघ्य भेद' नहीं है। इस प्रकार वे व्यावहारिक (प्राकृतिक) जगत् की उपेक्षा नहीं करते हैं, बल्कि इसे ही अपने दर्शन का प्रमुख विषय मानते हैं।

इस स्थल पर यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि पाश्चात्य दर्शन भी अपने चिन्तन की पराकाष्ठा में व्यावहारिक (प्राकृतिक) जगत् से परे, अर्थात् लोकोत्तर (पारमार्थिक) हो जाता है किन्तु पश्चिम के विचारक प्राकृतिक जगत् को मिथ्या एवं अशुभ नहीं मानते हैं। अरस्तू, लाइबनित्ज, हेगल आदि ने जड़ जगत्, वनस्पति जगत् पशु जगत्, मानव-जगत् और उससे परे अतीन्द्रिय एवं पारमार्थिक जगत् के विकास का जो मॉडल प्रस्तुत किया है, उसमें प्राकृतिक जगत् तथा लौकिक जीवन की उपेक्षा नहीं की गयी है। प्रायः सभी पाश्चात्य दार्शनिक इस जगत् को ईश्वर की सर्वोत्तम रचना कहते हैं। वे इस जगत् को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इस प्रकार उनका जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण आशावादी है। वे इस जगत् को सुखमय, आनन्दमय एवं समस्त उपलब्धियों की प्राप्ति का आधार मानते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि पश्चिमी विचारक विकास-यात्रा की समाप्ति केवल मानव जगत् तक ही सीमित नहीं मानते हैं। मानव-जगत् के बाद भी विकास-प्रक्रिया का सातत्य उनके आशावादी दृष्टिकोण का द्योतक है। पाश्चात्य दर्शन की यह आशावादी सोच मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के लिए प्रेरणाप्रद और उत्साहवर्धक है।

संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण

ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से पाश्चात्य दर्शन को विभिन्न कालखण्डों में विभक्त किया जा सकता है। किन्तु इनमें चार बृहद् काल खंड (युग) प्रमुख हैं, जो इस प्रकार हैं:-

(1) ईसाई धर्म के विकास से पूर्व का युग (प्राचीन ग्रीक दर्शन)- इस युग का प्रारम्भ माइलेशियन सम्प्रदाय के प्रथम विचारक थेलीज (624 ई॰पू॰ से 550 ई॰पू॰) के दार्शनिक चिन्तन से प्रारम्भ होता है। इस युग के अन्तिम दार्शनिक नव्य प्लेटोवादी प्लॉटिनस (204 ई॰

से 270 ई॰) को माना जा सकता है। इस युग को दार्शनिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से पुनः चार खण्डों में विभक्त किया जा सकता है:-

(अ) सोफिस्टों के पूर्व का युग (Pre-Sophistic Period)- इस युग का दार्शनिक चिन्तन प्रकृति के स्वरूप की जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है। इस युग का दर्शन मुख्य रूप से प्रकृतिवादी (Naturalistic) और एकतत्त्ववादी (Monistic) है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम पकृति और उसके बाद मानव-जीवन के स्वरूप एवं प्रयोजन का निरूपण प्रकृति के आलोक में किया गया है। मालेशियान सम्प्रदाय के दार्शनिकों में थेलीज, एनॉक्जिमेन्डर और एनैक्जिमेनीज ने क्रमशः जल (ह्यूल), असीमित द्रव्य (एपिरन) और वायु को मूलतत्त्व और सृष्टि का आधार माना है। पाइथागोरस ने संख्या को, पार्मेनाइडीज ने सत् (Being), हेराक्लाइटस ने संभूति (Becoming), ल्युसिपस और डिमॉक्रिटस ने परमाणुओं को सृष्टि के उद्‌भव के लिए मूल तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया। इससे स्पष्ट है कि इस युग के विचारकों ने सृष्टि की व्याख्या के लिए किसी एक ही तत्त्व का सहारा लिया। इनमें से कोई भी तत्त्व दैवी अथवा अलौकि (Divine or Supernatural) नहीं है। किन्तु एनेक्जेगोरस ने सृष्टि के कारण के रूप में एक चेतन बुद्धि (नाउस) को स्वीकार किया क्योंकि जड़ (अचेतन) परमाण ुओं में स्वतः गति नहीं हो सकती है। इस प्रकार सोफिस्ट-पूर्व युग का ग्रीक दर्शन प्राकृतिक एवं बहिर्मुखी दृष्टि से प्रारम्भ होता है। किन्तु धीरे-धीरे चेतन-बुद्धि, अर्थात् मनुष्य के जीवन एवं प्रयोजन की ओर उन्मुख होता है। यह एक प्रकार से बहिर्मुखी प्रवृत्ति से अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की ओर संक्रमण का द्योतक है।

(ब) सोफिस्टों का युग- इसे मानववादी युग के नाम से जाना जाता है। यह युग अत्यंत क्रानितकारी, मानववादी, संशयवादी एवं तत्त्वमीमांसीय चिंतन के प्रति तटस्थ है। इस युग के दार्शनिकों में प्रोटागोरस, जार्जियस एवं उनके अनुयायियों के नाम उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार मानव-बुद्धि जगत् की समस्याओं को हल करने के लिए पर्याप्त नहीं है। सोफिस्ट विचारकों ने मनुष्य को केन्द्र में रख करके ज्ञान और आचरण की समस्याओं का विवेचन किया है। उनके अनुसार मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता ओर शुचिता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युग में शिक्षा के व्यवसायीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला। वे शिक्षा, राजनीति, नैतिकता, कला आदि को मानव-केन्द्रित मानते हैं। किन्तु वे ज्ञान, नैतिकता और सत्य के सार्वभौम मानदण् डों को न खोज सके। इस कारण परवर्ती दार्शनिकों ने सोफिस्टों की कटु आलोचना किया।

(स) सुकरात का युग- इसे रचनात्मक दर्शन का युग कहा जाता है। इसके अन्तर्गत सुकरात और उसकी परम्परा के दार्शनिकों में प्लेटो और अरस्तू के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस युग के दार्शनिकों ने पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित किया उन्होंने संशयवाद की आपत्तियों से ज्ञान, सत्य शुभ, सुन्दर, न्याय आदि के स्वरूप की प्रतिरक्षा करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। इसके अतिरिक्त इस युग में नैतिक जीवन के विज्ञान, सद्‌गुण, तर्कशास्त्र राजनीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र (Poetics) तत्त्वमीमांसा आदि की तार्किक व्याख्या और मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया। प्रायः इस युग के दार्शनिकों की चिन्तन-पद्धति बुद्धिवादी है। इस युग में साहित्य, कला और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में प्रचुर उन्नति हुई एवं 'सत्ता' तथा 'मूल्य' में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया।

इस युग के दार्शनिकों का दृष्टिकोण समालोचनात्मक एवं मूल्यात्मक (Evaluative) रहा है। इस युग में सत्य के अनुसंधान के लक्ष्य को ध्यान में रखकर बुद्धि की क्षमताओं एवं कुशलता का निरूपण किया गया। यदि इस युग को 'ग्रीक दर्शन का स्वर्ण युग' कहा जाय

तो कोई अतिशयोक्ति न होगी क्योंकि इस युग में अर्थात् प्लेटो और अरस्तू के दर्शन में ग्रीक विचारधारा का सर्वोत्कृष्ट रूप मिलता है।

(द) अरस्तू के बाद का युग (Post Aristotelian Period)- अरस्तू के बाद ग्रीस की अवनति प्रारम्भ हो गयी। वहाँ के नागरिकों का जीवन अशान्तिमय एवं अव्यवस्थित रहा। मनुष्य का अपनी बुद्धि में विश्वास क्षीण होने लगा। बाह्य जीवन में सुख और शान्ति प्राप्त करने का प्रयास करने लगे। कुछ दार्शनिकों ने सुकरात के दर्शन की एकांगी व्याख्या करके अपनी-अपनी सुविधानुसार पृथक्-पृथक् सिद्धांतों का प्रतिपादन करना आरम्भ कर दिया। इनमें से सिरेनाइक सम्प्रदाय, सिनिक सम्प्रदाय, मेगारी, स्टोइक और सन्देहवादी सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण घटना है। इसके अतिरिक्त इस युग में नव्य-'प्लेटोवाद का उदय एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस युग के सिद्धांतों की स्थापना एथेन्स, अलेक्जेन्ड्रिया (सिकन्दरिया) और रोम में हुई। नव्य-प्लेटोवाद के दर्शन पर सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के दर्शन का प्रभाव है। इस युग के दार्शनिक चिन्तन के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं-नैतिक एवं ईश्वरमीमांसीय। जेनो (स्टोइक) और एपीक्यूरस ने नैतिक आचरण से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार किया। जैसे-सर्वोच्च श्रेय क्या है? इस संदर्भ में एपीक्यूरस और जेनो के मतों में अन्तर है। एपीक्यूरस ने आनन्द को तथा जेनों ने सद्गुणी जीवन (Virtuous Life) को जीवन का नि:श्रेयस माना है। ये दोनों दार्शनिक एवं उनके अनुयायी तर्कशास्त्र और तत्त्वमीमांसा की समस्याओं में गहरी रूचि रखते हैं। सिकन्दरिया में विकसित ग्रीक, दर्शन प्राच्य धर्मों से प्रभावित है। यह अपने पूर्ण विकसित रूप में नव्य प्लेओवाद में परिणत हो गया। प्लॉटिनस ने सृष्टि की व्याख्या ईश्वर के निष्क्रमण (Emnation) के रूप में की है। प्लॉटिनस ग्रीक विचारधारा के अन्तिम महत्त्वपूर्ण दार्शनिक थे। उसके अनुयायियों ने कुछ समय तक नव्य-प्लेटोवाद की विचारधारा को अकादमी में जीवित बनाये रखा। किन्तु उस समय के शासन ने अकादमी को बन्द करके इस प्रकार के दर्शन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार ग्रीक दर्शन का अन्त हो गया।

(2) ईसाई धर्म के प्रभाव से विकसित मध्य युग का दर्शन-पाश्चात्य दर्शन के विकास का द्वितीय चरण मध्यकालीन दर्शन के नाम से जाना जाता है। यह युग अकादमी के बन्द होने, अर्थात् 600 ई॰ से 1500 ई॰ तक माना जाता है। इसका समय पुनर्जागरण काल तक माना जा सकता है। इस युग के दार्शनिकों के चिन्तन पर ईसाई धर्म का गहरा प्रभाव है। चर्च की सर्वोच्चता का वर्चस्क शिक्षा, राज्य और समाज पर हावी (प्रभावी) रहा। इस काल में चर्च को पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में मान्यता मिली। राज्य के द्वारा बनाया गया कोई कानून चर्च की मान्यताओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता था। यह एक प्रकार से धर्मनिगडित (Theocratic) राजतंत्र का युग है। ईसाई धर्म के विकास की प्रारम्भिक अवस्था पैट्रिस्टिक युग के नाम से जानी जाती है। इस युग में प्लेटो और नव्य प्लेटोवाद का प्रभाव ईसाई दार्शनिकों के चिन्तन पर उपलक्षित होता है। इस काल के प्रतिनिधि दार्शनिकों में सन्त आगस्टाइन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सन्त आगस्टाइन के समकालीन दार्शनिकों को अरस्तू के दर्शन की बहुत कम जानकारी थी। अरस्तू के विचारों की जानकारी यूरोप को बारहवीं शताब्दी तक हो चुकी थी। अरबी भाषा से, लैटिन में अनूदित विचारों के माध्यम से मध्य युग के यूरोपियन विचारकों को अरस्तू के दर्शन का ज्ञान होने लगा था। ईसाई धर्म के विकास का यह द्वितीय चरण शास्त्रीय युग (Scholastic Period) के नाम से जाना जाता है। इस काल में ईसाई धर्म के सिद्धांतों की तार्किक व्याख्या करने का प्रयास किया गया। इस युग में भी कैथोलिक ईसाई धर्म का वर्चस्व

कायम रहा। आध्यात्मिक विषयों में चर्च के माध्यम से ईश्वरीय आदेश लागू हो सकते हैं। पोपों और पादरियों ने चर्च का सहारा लेकर अपने पद का दुरुपयोग किया। इस युग के प्रतिनिधि दार्शनिक के रूप में सनत थामस एक्विनास का नाम बड़े आद के साथ लिया जाता है। मध्यकाल की दार्शनिक परम्परा में दैवी प्रकाशना (Reason) का स्थान गौण रहा। इसलिए इसे 'दर्शन के अन्धकार का युग' कहा गया है।

(3) आधुनिक युग-पुनर्जागरण काल की विचारधाराओं से विकसित दार्शनिक चिन्तन मध्यकाल और आधुनिक काल की एक विभाजक रेखा के समान है। आधुनिक युग के विकास में वैज्ञानिक प्रगति और सांस्कृतिक पुनर्जाकरण की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। यह युग यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति का युग है। इस काल के वैज्ञानिक अनुसंधानों से धार्मिक अंधविश्वासों को गहरा आघात पहुँचा। यह पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवीं से आधुनिक युग पर्यन्त दार्शनिक प्रवृत्तियों के विकास से सम्बन्धित है। आधुनिक विज्ञान और तकनीकी की उपलब्धियों ने इस युग के दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की विचार-पद्धति और जीवन एवं जगत् के प्रति उनके दृष्टिकोण को प्रभावित किया।

विज्ञान, दर्शनशास्त्र और कला की प्रगति ने रूढ़िवादी मान्यताओं को हतोत्साहित किया। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन को प्रोत्साहन मिला। विज्ञान और दर्शन दोनों सत्य की खोज के लिए स्वतंत्र बौद्धिक अनुशीलन की दिशा में अग्रसर हुए। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए बुद्धि को सर्वोच्च मान्यता प्राप्त हुई। इसके फलस्वरूप दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में चर्च और पोप का वर्चस्व समाप्त होने लगा। अधुनिक चिंतन के क्षेत्र में चर्च और पोप का वर्चस्व समज्ञपत होने लगा। आधुनिक दर्शन की प्रमुख विशेषता इसकी बौद्धिकता, वैज्ञानिकता और प्रकृतिवाद है। आधुनिक दर्शन को इस दृष्टि से प्रकृतिवादी कहा जा सकता है क्योंकि इस युग में प्राकृतिक जगत् के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए किसी अलौकिक या दैवी सत्ता को एक पूर्वमान्यता एवं धर्मग्रन्थों के आधार पर स्वीकार नहीं किया गया है। यद्यपि इस युग में अनेक दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है, तथापि वे ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए तार्किक युक्तियों का प्रतिपादन करते हैं। वे ईश्वर को किसी दैवी प्रकाशना एवं धर्मग्रन्थ के आधार पर नहीं मानते हैं। वस्तुतः आधुनिक दर्शन विज्ञान से बहुत अधिक प्रभावित है।

कुछ समालोचकों ने यूबरबेग के बाद आधुनिक दर्शन को अधोलिखित तीन लघु खण्डों में विभाजित किया है-

(अ) पुनर्जागरण काल (संक्रमणकाल)- इसका प्रारम्भ 1453 ई॰ से होता है। इस काल में साहित्य, कला, धर्म, दर्शन आदि क्षेत्रों में सुधार हुआ।

(ब) मौलिक विचारों का युग- इसके अन्तर्गत डेकार्ट से लेकर ह्यूम तक के विचारों का उद्‌भव और विकास हुआ। इस युग का दार्शनिक चिन्तन चर्च एवं धर्म (Religion) से पूर्ण स्वतंत्र रूप में विकसित हुआ। यद्यपि इस काल के अधिकांश दार्शनिक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं, तथापि उनके द्वारा ईश्वर की सत्ता को मानना किसी मताग्रह (Dogma) एवं धार्मिक अंधविश्वास पर आधारित नहीं है। वे अपने-अपने दार्शनिक मतों की स्थापना के लिए तर्क देते हैं। इस प्रकार के दार्शनिक अपने चिन्तन की मौलिकता पर विशेष बल देते हैं।

(स) अर्वाचीन युग- आधुनिक दर्शन के अन्तर्गत अर्वाचीन दर्शन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युग की प्रमुख विचारधारा काण्ट का आलोचनात्मक दर्शन है। इस युग

को काण्ट केक विचारों से प्रभावित युग कहा जा सकता है क्योंकि काण्ट के बाद का कोई दार्शनिक, चाहे वह काण्ट का समर्थक हो अथवा काण्ट का विरोधी हो, उसके आलोचनावाद की उपेक्षा न कर सका। यह युग रूढ़िवाद (Dogmatism), अनुभववाद (Empiricism), संशयवाद (Scepticism) एवं विाान तथा यूक्लिड की ज्यामिति से प्रभावित होकर विकसित होता है। इसके अतिरिक्त इस युग की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति हेगल एवं नव्य हेगलवाद के विचारों पर आधारित है। हेगल के निरपेक्षण हत्ययवाद ने जर्मनी के साथ-साथ इंग्लैण्ड, इटली, अमेरिका आदि अनेक देशों के दार्शनिकों को प्रभावित किया। इसके फलस्वरूप प्रत्ययववाद इस युग की एक प्रमुख विचारधारा के रूप में यूरोपीय देशों में स्थापित हो जाता है। इटली में नव्य प्रत्ययवाद के प्रमुख समर्थक क्रोचे (Croce) तथा जेन्टिले (Gentile) रहे हैं। अमेरिका में जोसिया रायस इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। क्रोचे का दर्शन ऐतिहासिक प्रत्ययवाद और जेन्टिले का मत वास्तविक प्रत्ययवाद (Actual Idealism) के नाम से जाना जाता है। हेगल के दर्शन से प्रभावित होते हुए भी उनका मत हेगल के निरपेक्षण प्रत्ययवाद से भिन्न है।

किन्तु हेगलीय निरपेक्ष प्रत्ययवाद, सर्वबुद्धिवाद एवं द्वन्द्वन्याय के विरुद्ध दर्शन जगत् में एक तीक्ष्ण प्रतिक्रिया भी हुई। अमेरिका में अर्थक्रियावाद एवं उत्कट अनुभववाद, प्रयोगवाद, मानववाद एवं व्यक्तिवाद की स्थापना हुई। इसी प्रकार अस्तित्ववाद, अन्तःप्रज्ञावाद (Intuitionism) आदि विचारधाराएँ हेगलीय सर्वबुद्धिवाद के विरूद्ध हैं। वे बुद्धिवाद के विपरीत अनुभूति पक्ष पर अधिक बल देती हैं। शोपेनहावर और तीत्शे से प्रभावित दार्शनिकों ने प्राणवान जीवन्त अनुभव की अपेक्षा बुद्धि को कम महत्त्व दिया। यद्यपि एफ॰एच॰ ब्रेडले और हेनरी बर्गसाँ बीसवीं शताब्दी के दार्शनिक हैं, तथापि वे अर्वाचीन दार्शनिक प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं। इन दोनों दार्शनिकों का बुद्धि के प्रति दृष्टिकोण शोपेनहावर और नीत्शे से प्रभावित प्रतीत होता है। यहाँ तक कि ब्रेडेले भी हेगले की बुद्धि विषयक इस अवधारणा को स्वीकार नहीं करता है कि 'बुद्धि सर्वोच्च सत्ता है' अथवा 'सत्ता और बुद्धि एक हैं।' अर्वाचीन दर्शन का महत्त्व इस दृष्टि से है कि यह आधुनिक दर्शन और समकालीन दर्शन के मध्य एक सेतु अथवा कड़ी है। इसके अन्तर्गत आधुनिक दार्शनिकों के द्वारा अपनायी गयी तार्किक युक्तियों के साथ-साथ बीसवीं शताब्दी के तार्किक परमाणुवादियों और तार्किक भाववादियों के द्वारा अपनायी गयी वैज्ञानिक दृष्टि का भी समावेश हुआ है। इस युग की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों में आलोचनावाद, जर्मन प्रत्ययवाद और उससे प्रभावित नव्य-हेगलवाद, अमेरिका का अर्थक्रियावाद (Pragmatism), बर्गसाँ का प्राणवाद आदि उल्लेखनीय हैं। यह एक प्रकार से विचारधाराओं का युग है। यद्यपि ये विचारधाराएँ एक-दूसरे से पृथक् हें, तथापि उनका उद्भव और विकास एक-दूसरे से घात-प्रतिघात से प्रभावित होकर हुआ है।

(4) समकालीन दर्शन-इसका सम्बन्ध बीसवीं शताब्दी में विकसित दार्शनिक प्रवृत्तियों से है। समसामयिक दार्शनिक चिन्तन की नींव विज्ञान और गणित पर आधारित है। इस युग के अधिकांश दार्शनिक परम्परागत दर्शन में प्रचलित तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, मूल्यमीमांसा आदि का खडन करते हैं। इस युग की सर्वाधिक प्रसिद्धि तार्किक परमाणुवाद, तार्किक भाववाद, साधारण भाषा दर्शन, विश्लेषी दर्शन, संवृत्तिशास्त्र (Phenomenology) एवं अस्तित्ववाद के कारण है। इस युग के विश्लेषी दार्शनिक इस बिन्दु पर सहमत हैं कि तत्त्वमीमांसीय कथन निरर्थक हैं। चूँकि तत्त्वमीमांसीय संप्रत्ययों को वैज्ञानिक विधि के द्वारा सत्यापित नहीं किा जा सकता है, इसलिए तत्त्वमीमांसीय कथन निरर्थक हैं। तत्त्वमीमांसा की समस्याएँ वास्तविक नहीं हैं, बल्कि वे छद्म (Pseudo) समस्याएँ (समस्याभास) हैं। अब दर्शनशास्त्र का कार्य भाषा

की समालोचना, विश्लेषण, तार्किक वाक्य-विन्यास का स्पष्टीकरण एवं भाषा के अर्थविज्ञान (Semantics) तक सीमित रह गया। अब दर्शन का लक्ष्य सत्य और ज्ञान, सद्गुणों और नैतिक मूल्यों की खोज नहीं रहा। तार्किक भाववादियों ने तो यहाँ तक कहा कि दर्शनशास्त्र का विश्लेषण के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य अथवा प्रयोजन नहीं है। दर्शन विश्लेषण है अथवा विश्लेषण दर्शन है। दार्शनिकों का उत्तरदायित्व यह है कि वैज्ञानिक सिद्धांतों में सामंजस्य है टावा नहीं, उन सिद्धांतों को स्पष्ट भाषा में व्यक्त किया जा सकता है अथवा नहीं? वे इन प्रश्नों पर विचार करें। इस प्रकार वे विज्ञानों की भाषा का तार्किक विश्लेषण एवं व्याख्या करने तक सीमित रह गये। बीसवीं शताब्दी के विश्लेषी दार्शनिक न तो तत्त्वमीमांसक रह गये और न मूल्यमीमांसक रह गये। यहाँ तक कि वे ज्ञानमीमांसक भी नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि उनकी अभिरूचि परम्परागत ज्ञानमीमांसा की समस्याओं में नहीं थी। अधिक से अधिक उन्हें वाक्यमीमांसा कहा जा सकता है।

इस युग के अधिकांश दार्शनिकों ने मूल्यों को मानसिक संरचना के रूप में स्वीकार किया। मूल्य संवेगात्मक होते हैं। संवेगों के समान मूल्यों का भी उद्भव और विकास होता है। इस प्रकार मूल्यों को स्थिर एवं शाश्वत रूप से सत् नहीं कहा जा सकता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मूल्य मानव-व्यक्तित्व की अभिरूचि और दृष्टिकोण पर आश्रित होते हैं। मूल्यों की समुचित व्याख्या दर्शन की अपेक्षा समाज-मनोविज्ञान के द्वारा की जा सकती है। विज्ञान से प्रभावित बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों ने दर्शनशास्त्र को विज्ञान पर आश्रित बना दिया। इसके फलस्वरूप दार्शनिक की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है, किन्तु अस्तित्ववादियों ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया।

यद्यपि अस्तित्ववादियों ने मानव-अस्तित्व और स्वतंत्रता पर, मनुष्य के प्रामाणिक अस्तित्व और स्वानुभूतिपरक सत्य अथवा सत्य की आत्मनिष्ठता पर बल दिया, तथापि वे इस युग के दर्शन का उद्धार न कर सके। उनका दार्शनिक चिन्तन निर्बल है क्योंकि वे तत्त्वमीमांसा, मूल्यमीमांसा और ज्ञानमीमांसा को सुदृढ़ और व्यवसिति ढंग से स्थापित न कर सके। यह अवश्य है कि अस्तित्ववादियों ने दार्शनिक अनुशीलन को विज्ञान की चहारदीवारी एवं यांत्रिकता से मुक्त करके उसे मानव-जीवन की मौलिक अनुभूतियों के निकट लाने का प्रयास किया। वीसवीं शताब्दी के एक विचारक एडमंड हुसर्ल की संवृत्तिशास्त्रीय विधि दर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसके अनुसार दर्शन का लक्ष्य विशुद्ध रूप से सैद्धांतिक है। इसी कारण दार्शनिक सिद्धांत अत्यनत व्यापक दृष्ठिट पर आधारित होते हैं। हुसर्ल ने ग्रीक दर्शन की प्रमुख विशेषता सार्वभौमिकता को अपनी दार्शनिक पद्धति में सम्मिलित करने का प्रयास किया। दर्शन का कार्य केवल विश्लेषण तक सीमित नहीं किया जा सकता है। यह दर्शन की समग्र समझ मे लिए उपयुक्त नहीं है। इस दृष्टि से हुसर्ल डेकार्ट की प्रशंसा करता है। डेकार्ट ने अपनी सन्देह पद्धति में विश्लेषण के साथ-साथ संश्लेषण का भी समावेश किया।

इससे स्पष्ट है कि दार्शनिक अनुशीलन को केवल तार्किक और भाषित विश्लेषण तक सीमित नहीं किया जा सकता है। यद्यपि विचारों में स्पष्टता के लिए विश्लेषण की विधि का उपयोग करना समीचीन है, तथापि यह न तो दर्शन से अभिन्न है और न इसे अपने आप मे दर्शन का साध्य माना जा सकता है। वस्तुतः दर्शनशास्त्र और विज्ञान एक-दूसरे के विरोधी नहीं हो सकते हैं क्योंकि दोनों की दृष्टि संज्ञानात्मक (Cognitive) होती है। दार्शनिक पद्धति चिन्तन की एवं स्वतंत्र विधा है जो विज्ञान से भिनन होती है। विज्ञान का दृष्टिकोण तथ्यात्मक, भावात्मक और विवरणात्मक होता है। इसके विपरीत दार्शनिक चिंतन मूल्यात्मक,

समालोचनात्मक और निकषमीमांसीय (Criteriological) होता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न संज्ञानों की सत्यता एवं असत्यता, युक्तियों की वैधता एवं अवैधता, कर्मों के औचित्य एवं अनौचित्य इत्यादि के मूल्यांकन के लिए विभिन्न प्रकार के निकषों (कसौटियों), प्रतिमानों (Paradigms) और मानदण्डों की समीक्षा, विवेचन और विश्लेषण किया जाता है। किन्तु दर्शन का कार्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता है। उसके पश्चात् विभिन्न प्रकार के प्रतिमानों में अन्तर्सबन्धें की खोज की जाती है। इस प्रकार दर्शन के लिए विश्लेषण और संश्लेषण दोनों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः दर्शन का लक्ष्य समग्र दृष्टि प्राप्त करना है। इस दृष्टि से प्रज्ञात्मक ज्ञान और मूल्यबोध दर्शन के मुख्य विषय हैं।

वैज्ञानिक ज्ञान से लाभ उठाना इस युग में दार्शनिकों के लिए भी स्वाभाविक है, परन्तु दर्शन केवल विज्ञान तक ही सीमित नहीं है। कुछ दार्शनिकों ने विज्ञान के महत्त्वपूर्ण संप्रत्ययों के आधार पर दार्शनिक सिद्धांतों की रचना करने का प्रयास किया। इस प्रकार के दार्शनिक सिद्धांतों का अध्ययन करने के लिए समसामयिक दर्शन में विज्ञान के दर्शनशास्त्र (Philosophy of Science) का विकास हुआ। विज्ञान का दर्शनशास्त्र एक रचनात्मक दर्शन है। इस संदर्भ में जॉन निकोड, कार्ल रायमण्ड पॉपर (K.R. Popper), कार्ल जी॰ हेम्पेल, नेल्सन, गुडमैन, क्वाइन आदि के दार्शनिक अवदान महत्त्वपूर्ण हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समसामयिक पाश्चात्य दर्शन की एक विचारधारा विज्ञान, गणित और तर्कशास्त्र से प्रभावित है। किन्तु इस युग की एक दूसरी प्रवृत्ति भी है जो विज्ञान और गणित से भिन्न रूप में मनुष्य के संकल्पों, क्रिाओं, संवेगों और अनुभूतियों पर आधारित दार्शनिक चिन्तन पर बल देती है।

इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य दर्शन का एक दीर्घकालिक एवं बहुआयामी इतिहास है। पाश्चात्य दर्शन आज सम्पूर्ण विश्व में प्रतिष्ठित हो चुका है। कोई भी संस्कृति इसकी उपेक्षा नहीं कर सकती है। आज के बदले हुए विश्व एवं वैश्वीकरण के इस युग में विभिन्न प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओं का परस्पर संवाद होना स्वाभाविक हो गया है। आज हमे पाश्चात्य और प्राच्य दार्शनिक विचारधाराओं की उत्कृष्टता के विवाद में न उलझकर उनके लोक कल्याण ाकारी पक्षों को ग्रहण करने की आवश्यकता है। इन दोनों दार्शनिक प्रवृत्तियों की समानताएँ उन्हें एक-दूसरे के निकट लाती हैं, जबकि उनके मतभेद एवं अन्तर उन्हें एक-दूसरे का पूरक बनाते हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. पाश्चात्य दर्शन से आप क्या समझते हैं?
2. दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता क्या है?
3. पाश्चात्य दर्शन और भारतीय दर्शन में अंतर स्पष्ट करें।
4. पाश्चात्य दर्शन का संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण कीजिए।

इकाई–2 ज्ञान (Knowledge)

इकाई की रूपरेखा:

1. ज्ञान की परिभाषा
2. ज्ञान के स्रोत
3. ज्ञान के निर्माण की विशेषताएँ
4. ज्ञान संबंधी प्रमुख सिद्धांत

ज्ञान की परिभाषा

ज्ञान शब्द की कोई व्यापक परिभाषा देना कठिन है क्योंकि दर्शन की प्रत्येक विचारधारा ने अपने ढंग से ज्ञान की परिभाषा दी है जिसका संबंध द्रव्य अथवा सत्य से होता है। ज्ञाता और ज्ञेय के पारस्परिक संबंध को ज्ञान माना जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक ज्ञान में एक ज्ञाता तथा एक ज्ञेय होता है और जब ज्ञाता का ज्ञेय के साथ इंद्रियों के माध्यम से संपर्क होता है तो ज्ञेय को पदार्थ के संबंध में एक चेतना मिलती है और जिसका अस्तित्व है और साथ ही उसके विशेष गुण है। इसी प्रकार की चेतना को ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। ज्ञानेंद्रियों से जो प्रत्यक्षीकरण तथा अनुभव होता है उसे भी ज्ञान कहते है। ज्ञान इंद्रियों तक ही सीमित नहीं होता अपितु जो इंद्रियों से परे की अनुभूतियां होती है उन्हें भी ज्ञान कहा जाता है।

ज्ञान के स्रोत (Sources of Knowledge)

ज्ञान प्राप्त करने के बहुत सारे स्रोत है। मुख्य रूप से ज्ञान को अनुभव के आधार पर प्राप्त किया जाता है और अनुभव हमारी इन्द्रियों के माध्यम से होता है। मुख्य रूप से ज्ञान हमारे कार्यकलापों तथा अनुभव के आधार पर प्राप्त होता है। इनके आधार पर ज्ञान को निम्न स्रोतों से प्राप्त किया जा सकता है।

1. इन्द्रियानुभव (Sensory Experience)

इन्द्रिय अनुभव हमारे ज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत है। मानव की पांच ज्ञानेन्द्रियां कान, नाक, आँख, त्वचा और जीभ आदि ध्वनि, रंग, गंध, ताप तथा रस का ज्ञान देती है जिन्हें हम ज्ञानेन्द्रियानुभव कहते है। ज्ञान का एक बहुत बड़ा भाग हमें ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञानेन्द्रिया ज्ञान का स्रोत है। जिस ज्ञान की प्राप्ति में अधिक से अधिक ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग होता है वह ज्ञान स्थायी तथा पूर्ण होता है।

2. तर्क बुद्धि (Reasoning)

तर्क ज्ञान का स्रोत है। तर्क में बुद्धि का सहारा लेकर अनुमान लगाया जाता है तथा इस क्रिया से ज्ञान प्राप्त होता है। बुद्धि का कार्य कल्पना, सोचना, विचारना तथा तर्क देना है। तर्क मानसिक तथा बौद्धिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के माध्यम से मानव अपना कोई मत बनाता है। या किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। ज्ञान प्राप्ति के लिए तर्क के अंतर्गत दो विधियाँ होती है जिनका प्रयोग किया जाता है–आगमन तथा निगमन विधियाँ।

3. शब्द या आप्तवचन (Verbal Testimony of Authority)

आप्तवचन ज्ञान का स्रोत न तो बुद्धि है न ही इन्द्रियानुभव। प्राय: देखा जाता है कि बहुत सा ज्ञान जो हमारे पास है उसे न तो ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त किया जाता है तथा न ही इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए बुद्धि का प्रयोग किया गया है। हमे ऐसे ज्ञान के लिए विशेषज्ञ पर निर्भर रहना पड़ता है। ज्ञान के लिए अलग-अलग क्षेत्रों के लिए अलग-अलग विशेषज्ञ होते है। जैसे-रसायन, भौतिकी, इतिहास, गणित आदि के विशेषज्ञ आदि।

उदाहरण-गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत न्यूटन ने तथा ताजमहल शाहजहाँ ने बनवाया था। ये ज्ञान हमे आप्त वचन से प्राप्त हुआ है। इसलिए ज्ञान भंडार का बहुत बड़ा भाग विशेषज्ञ के कथनों में विश्वास करके प्राप्त किया जाता है।

4. अन्त: प्रज्ञा (Intuition)

यह ज्ञान एक तरह की अन्त: करण की आवाज है। केवल इसका स्वरूप स्पष्ट नही है यह ज्ञान भी न तो इन्द्रियानुभव तथा न ही तर्क बुद्धि द्वारा होता है। अन्त: करण की आवाज से एक अलग तरह का अनुभव होता है। जो पाँच इन्द्रियों के अनुभव से परे का अनुभव है। इसलिए उस अनुभव को मनुष्य की छठी इंद्री का भी नाम दिया है। संपूर्णता का बोध और उसकी अनुमति का नाम अन्त: क्रिया है। इसको भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करने में कठनाई आती है। इसमें ज्ञात तथा ज्ञेय दो नही रहते। इस अनुभूति में ज्ञाता ज्ञेय में लीन हो जाता है।

5. प्रयोगात्मक (Exerimental)

इस प्रकार का ज्ञान व्यक्ति वेज्ञानिको द्वारा किये गए प्रयोगों से प्राप्त करता है। ये प्रयोग नियंत्रित स्थति में किये जाते है। इस ज्ञान की पुष्टि अन्य व्यक्तियों द्वारा पुन: प्रयोग करने से की जाती है। प्रयोगों द्वारा ही नियम निकलते जाते है।

6. श्रुति (Revelation)

श्रुति का सम्बंध धार्मिक ज्ञान से होता है। धार्मिक ज्ञान के लिए श्रुति महत्वपूर्ण स्रोत है। चाहे भारत हो या दूसरे देश, यहाँ के धार्मिक ग्रंथों का आधार श्रुति है। हमारे ऋषि-मुनियों तथा गुरुओं को दिव्य व अलौकिक शक्तियों से ज्ञान प्राप्त होता है जो बाहरी कानो से नही सुना जा सकता है अपितु अन्त: करण से सुना जा सकता है। यह ज्ञान काल इर देशों की सीमाओं से बंधा हुआ नही है। यह ज्ञान सार्वभौमिक होता है तथा इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही किया जा सकता है।

ज्ञान के निर्माण की विशेषताएँ

ज्ञान के निर्माण की प्रमुख विशेषताओं के बारे में विभिन्न विद्वानों, शिक्षाशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए है जो निम्नलिखित है-

1. सूचनाओं का संश्लेषण एवं विश्लेषण।
2. ज्ञान का निर्माण उद्देश्यपूर्णता के लिए।

3. ज्ञान का निर्माण विज्ञान सम्बंधी सूचनाओं के रूप में।
4. ज्ञान का निर्माण एक बौद्धिक ज्ञान के रूप में।
5. ज्ञान का निर्माण एक व्यापक प्रक्रिया के रूप में।
6. ज्ञान का निर्माण पुस्तकालय व्यवस्था के रूप में
7. ज्ञान का निर्माण एक दार्शनिक प्रक्रिया के रूप में।
8. ज्ञान का निर्माण तकनीकी सूचनाओं की प्रक्रिया के रूप में।
9. ज्ञान का निर्माण एक वर्गीकरण की प्रक्रिया के रूप में।
10. ज्ञान का निर्माण सूचनाओं के निर्धारण की प्रक्रिया के रूप में।
11. ज्ञान का निर्माण सूचनाओं के समन्वयन की प्रक्रिया के रूप में।
12. ज्ञान का निर्माण सूचनाओं की पुन:प्राप्ति की प्रक्रिया के रूप में।

ज्ञान संबंधी प्रमुख सिद्धांत

ज्ञानेंद्रियों के अनुभव तथा तर्क चिंतन ज्ञान के प्रमुख दो स्रोत है। दोनों स्रोत समान रूप से महत्वपूर्ण है। इनके विवेचन के लिए बुद्धिवाद, अनुभववाद तथा समीक्षावाद सिद्धांतो का उपयोग किया जाता है

1. बुद्धिवाद का सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार वास्तविक ज्ञान का स्रोत तर्क-चिंतन है। जैसा ऊपर कहा गया है कि अनुभव तथा चिंतन ज्ञान के दो स्रोत माने गए है जिनका दिन-प्रतिदिन अनुभव करके ज्ञान अर्जित किया जाता है परंतु "बुद्धिवाद" अनुभव को महत्व नही देता अपितु चिंतन को महत्व देता है जिससे वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। बुद्धिवाद के दो पक्ष है।

सार्वभौमिकता

सार्वभौमिक ज्ञान सभी कालों, सभी स्थानों तथा सभी व्यक्तियों के लिए सत्य होता है।

आवश्यकता

ज्ञान की आवश्यकता ही दूसरी विशेषता है जिसका अर्थ होता है ज्ञान की सत्यता में निश्चितता होना। सुकरात एवं प्लेटो ने सार्वभौमिक ज्ञान को अधिक महत्व दिया है। बुद्धिवादी इसे विचार तथा प्रत्यय कहते है और तर्क को ज्ञान का स्रोत मानते है।

बुद्धिवाद की प्रमुख विशेषताएँ

- यथार्थ ज्ञान साधारण दैनिक ज्ञान से भिन्न है। वही ज्ञान यथा है जो सार्वभौम तथा अनिवार्य होता है।
- ज्ञान का विषय संसार के अस्थाई और परिवर्तनशील तथ्य नही है परंतु कुछ ऐसे सत्य है जो मूलभूत तथा शाश्वत् है।
- यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति बुद्धि से होती है और बुद्धि के अलावा इसका अन्य कोई साधन नहीं है।

• अनुभव से भी ज्ञान होता है परंतु उस ज्ञान को यथार्थ ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। वह ज्ञान संदेहात्मक तथा भ्रमात्मक होता है।

• बुद्धि में समस्त ज्ञान संभावना एवं बीज रूप में जन्म से ही मौजूद रहता है। वस्तुत: हमारी बुद्धि की बनावट में ही ज्ञान के मूलभूत आधार मौजूद है।

• ज्ञानबुद्धि प्रारंभ से ही पूर्णत: क्रियाशील रहती है।

• ज्ञान की पद्धति निगमनात्मक होती है। इस निगमनात्मक पद्धति के द्वारा ही बुद्धि के अंदर बीज रूप में निहित ज्ञान प्रस्फुटित एवं विकसित होता है।

• आदर्श ज्ञान गणित का ज्ञान है। चूँकि यह यथार्थ रूप में सार्वभौम तथा अनिवार्य होता है।

• इस सिद्धांत की प्रमुख सीमांए या दोष यह है कि इसमें केवल ज्ञान के लिए तर्क व चिंतन को ही महत्व दिया गया हे जबकि इंद्रियाँ अनुभव का ज्ञान प्राप्त करने के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण हैं और इसी को प्राथमिक स्रोत भी माना जाता है।

2. अनुभववाद का सिद्धांत

अनुभववाद को ज्ञान मीमांसा का सिद्धांत भी कहते है। इस सिद्धांत के अनुसार ज्ञानेंद्रियों के अनुभव को ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत माना जाता है। अनुभववादी, बुद्धि एवं तर्क-चिंतन को ज्ञान का स्रोत नहीं मानते। ज्ञानेंद्रियों के अनुभव की व्यवस्था से ज्ञान का विकास होता है। श्रीमान जॉन लॉक के अनुसार, "हमारी बुद्धि एवं हमारी ज्ञानेंद्रियों में कुछ भी निहित नहीं होता है। ज्ञान का प्रमुख स्रोत प्रत्यक्षीकरण है और इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान सार्वभौमिक होता है।" अनुभववाद के अंतर्गत आगमन तर्क को ज्ञान के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अनुभववाद से भौतिक विज्ञान तथा अन्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। अनुभववाद के ज्ञान में सार्वभौमिकता और उसकी आवश्यकता होती है।

अनुभववाद की प्रमुख विशेषताएं

• दैनिक जीवन में जो विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान हमें होता है वह यथार्थ नहीं है बल्कि वह ज्ञान का वास्तविक उदाहराण है।

• ज्ञान का मूल और एकमात्र स्रोत अनुभव है और अनुभव का अर्थ इंद्रियों का अनुभव है।

• मन में कोई प्रत्यय जन्मजात नहीं है और जो भी प्रत्यय मन में नही होते है वे अनुभव के द्वारा प्राप्त होते है।

• मन ज्ञान में प्रारंभ से ही सक्रिय नही रहता बल्कि प्रारंभ में तो वह एक बिल्कुल निष्क्रिय रूप में सम्वेदनाओं को ग्रहण करता है।

• ज्ञान के मौलिक तत्व प्रत्यय हैं जो अनुभव से प्राप्त किए जाते है।

• ज्ञान के प्रत्यय आगमनात्मक है।

• आदर्श ज्ञान भौतिक विज्ञान में निहित ज्ञान है। विज्ञान में सामान्य या सार्वभौम ज्ञान मिलता है परंतु इसमें अनिवार्यता नहीं होती।

समीक्षावाद का सिद्धांत

समीक्षावाद ज्ञानमीमांसा का अधिनियम है। इस सिद्धांत के अंतर्गत तर्क और अनुभव दोनों को अपने आप में प्रर्याप्त नही मानते अपितु दोनों का परस्पर सहयोग ज्ञान की दृष्टि से आवश्यक है। अनुभव और तर्क दोनों ही ज्ञान के स्रोत है। इस सिद्धांत के अंतर्गत दोनों को ही समान महत्व दिया गया है। दोनों ज्ञान के समाहारक सिद्धांत है।

इस सिद्धांत को श्रीमान कांट ने दिया है। श्रीमान कांट ने यह तर्क दिया है कि दोनों ही ज्ञान के साधन है। उन्होंने किसी की आलोचना नहीं की है अपितु दोनों को समन्वित रूप में प्रयोग किया है। श्रीमान कांट ने ज्ञान की तीन विशेषताएं सार्वभौमिकता, आवश्यकता एवं नवीनता दी है।

श्रीमान कांट ने गणित और भौतिक विज्ञान संबंधी ज्ञान का संश्लेषण किया और ज्ञान की संभावना का उल्लेख किया। उन्होंने अनेकता, एकता, समग्रता, भाव, अभाव, सीमितता, कारण ाता, गुणार्थकता, अन्योन्यता, संभावना, वास्तविकता तथा अनिवार्यता। बारह पक्षों को सम्मिलित करने का प्रयास किया।

श्रीमान कांट ज्ञान की पूरी व्याख्या करते हुए कहते है कि ज्ञान का आरम्भ संवेदनाओ से होता है एवं अंतर्दृष्टि के अंतर्गत जाकर समाप्त हो जाता है। वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्षीकरण से होता है परंतु उससे बाह्य संसार का बोध नहीं होता बल्कि सभी अपनी संवेदनाओं के आधार पर उनका ज्ञान अर्जित करते है। बोध से वस्तुओं की प्रकृति की जानकारी होती है।

अभ्यास प्रश्न

1. ज्ञान से आप क्या समझते हैं? ज्ञान के निर्माण की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. ज्ञान के स्त्रोतों की व्याख्या कीजिए।
3. ज्ञान संबंधी प्रमुख सिद्धांतों की विवेचना कीजिए।

इकाई–3 बुद्धिवाद (Rationalism)

इकाई की रूपरेखा:

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
2. बुद्धिवाद के सामान्य लक्षण
3. समस्याएं
4. समर्थक
5. देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनित्ज
6. सारांश
7. प्रमुख शब्द
8. अभ्यास प्रश्न

उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को आधुनिक दर्शन में बुद्धिवादी परम्परा के अलोचनात्मक मूल्यनिर्धारण की जानकारी देना है। इस इकाई को पढ़ने के बाद छात्र समर्थ होंगे:

– बुद्धिवाद की कुल आलोचनाओं और उसका आधारभूत ज्ञान प्राप्त करने में।

– देकार्त के कोजिटो (Cogito), ईश्वर सिद्धि में प्रस्तुत प्रमाण के प्रति आपत्तियां और देकार्त द्वारा उनके प्रति उत्तर का ज्ञान प्राप्त करने में।

– स्पिनोजा के अद्वैतवाद एवं ईश्वर के विचार से संबंधित समस्याओं का आलोचनात्मक ज्ञान प्राप्त करने में।

– इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त करने में कि लाइबनित्स कैसे पर्याप्त हेतु के तर्क को ईश्वर-विचार के साथ समन्वित करते हैं? और कैसे पूर्व-स्थापित सामंजस्य के नियम के विरुद्ध आपत्तियों के उत्तर में 'सर्वोत्तम सम्भव विश्व' के विचार को प्रस्तुत करते हैं।

– कैसे देकार्त, स्पिनोजा एवं लाइबनित्स बुद्धिवादी थे? उनके दर्शन में क्या समानताएं थी? एवं उनके दर्शनों की विशिष्टताओं का ज्ञान प्राप्त करने में।

प्रस्तावना

आधुनिक दर्शन की शुरूआत 17वीं शताब्दी में हुई। 17वीं शताब्दी के तीन महान विचारक फ्रांसिस बेकन (1561-1626) गैलीलियो (1562-1642) और रेने देकार्त (1596-1650) थे। बेकन अपनी वैज्ञानिक पद्धति को प्रतिपादित करने के लिए प्रसिद्ध है, गैलीलियो आधुनिक विज्ञान के जनक के रूप में जाने जाते हैं एवं देकार्त आधुनिक दर्शन के जनक के रूप में प्रसिद्ध हैं। निश्चित रूप से गैलीलियो एवं बेकन का भी दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा। लेकिन ये देकार्त ही है जो एक महान गणितज्ञ एवं भौतिक विज्ञानी के साथ-साथ एक शुद्ध दार्शनिक भी थे।

तर्कबुद्धिवाद या बुद्धिवाद (Rationalism)

बुद्धिवाद वह ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत है जिसके अनुसार वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र सही स्रोत या साधन बुद्धि (Reason or Intellect) है। बुद्धिवाद के अनुसार ज्ञान सार्वभौम एवं अनिवार्य होता है। सार्वभौम होने का आशय है कि वह ज्ञान सभी स्थान एवं काल में सभी लोगों के लिए सत्य होता है। जबकि अनिवार्य होने का आशय है कि उसकी वैधता का खंडन नहीं हो सकता अर्थात् उसका विपरीत कभी सत्य नहीं हो सकता। ऐसे ही सर्वव्यापी, निश्चित या अनिवार्य ज्ञान की प्राप्ति के एकमात्र साधन के रूप में यहाँ बुद्धि को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार का ज्ञान सहज प्रत्ययों (Innate Ideas) पर आधारित होता है जो जन्म से ही तर्कबुद्धि में विद्यमान रहते हैं।

बुद्धिवादियों के अनुसार अनुभव से कभी भी ऐसे अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जा सकती अनुभवात्मक ज्ञान संदेहात्मक तथा भ्रमात्मक होता है।

पश्चिमी दर्शन का प्रारंभ ग्रीक दर्शन से माना जाता है। ग्रीक दर्शन में पार्मेनाइडिज, प्लेटो आदि इसके प्रमुख समर्थक रहे हैं। आधुनिक दर्शन में डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनित्ज इसके प्रबल समर्थक हैं। लाइबनित्ज के चिदणुवाद (Monadology) को बुद्धिवादी चिंतन की पराकाष्ठा माना जाता है। हीगल भी बुद्धिवाद के प्रबल समर्थक है। हीगल का प्रसिद्ध कथन है - "सत् बौद्धिक है और बौद्धिक सत् है।" (Real is rational and rational is real).

बुद्धिवाद के सामान्य लक्षण

1. यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति केवल बुद्धि से हो सकती है।

2. यथार्थ ज्ञान सार्वभौम और अनिवार्य होता है।

3. ज्ञान-प्राप्ति में मन निष्क्रिय नहीं बल्कि सदैव सक्रिय रहता है। अतः ज्ञान में कुछ भी बाहर से नवीन नहीं आता। मन स्वयं अपनी रचनात्मक प्रक्रिया से ज्ञान की रचना करता है। इसका स्पष्ट साक्ष्य लाइबनित्ज के दर्शन में दिखाई देता है। यह बुद्धि आत्मचेतन तथा अनुभव निरपेक्ष है।

4. ज्ञान का विषय संसार के अस्थायी और परिवर्तनशील तथ्य नहीं है, बल्कि कुछ वैसे सत्य हैं जो मूलभूत एवं शाश्वत है। बुद्धि मानवीय मस्तिष्क का मूल तत्व (Fundamental Essence of the Human Mind) है।

5. हमारी आत्मा में कुछ जन्मजात प्रत्यय (Innate Ideas) होते हैं। जैसे- आत्मा का प्रत्यय, ईश्वर का प्रत्यय आदि। इन्हीं जन्मजात प्रत्ययों से यथार्थ ज्ञान का निर्माण होता है। यह निर्माण निगमनात्मक तथा अंतर्निरीक्षण की पद्धति से होता है। इस पद्धति द्वारा ही बुद्धि के अंदर बीज रूप में निहित ज्ञान प्रस्फुटित एवं विकसित होता है। इसी संदर्भ में ज्ञान को अनुभव पूर्व या प्रागनुभविक (Apriori) कहा जाता है। ज्ञान का मूल आधार सहज प्रत्ययों को, जो कि अनुभव-निरपेक्ष है, मानने के कारण बुद्धिवाद को सहज ज्ञानवाद (Innatism) या अनुभव-निरपेक्ष ज्ञानवाद (A priorism) भी कहा जाता है।

6. हमारा समस्त ज्ञान प्रागनुभाविक या अनुभवपूर्ण होता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से जाले का निर्माण करती है, उसी तरह बुद्धि अपने जन्मजात प्रत्ययों से समस्त ज्ञान का निर्माण करती है। इसीलिए हमारे यथार्थ को अनुभवपूर्ण कहा गया है।

7. ज्ञान की कोई सीमा नहीं है।

8. आदर्श ज्ञान गणित का ज्ञान है।

बुद्धिवाद की प्रमुख समस्याएं

बुद्धिवादियों के समक्ष दो प्रमुख समस्याएं उत्पन्न होती हैं -

1. मन के अंदर ज्ञान के मूलभूत आधार या जन्मजात प्रत्यय या सहज प्रत्यय कहां से आते हैं और उनका वास्तविक स्वरूप क्या है?

2. जो ज्ञान पूर्णत: मन के अंदर से उत्पन्न होता है वह बाह्य जगत के संबंध में कैसे सत्य हो सकता है? इसकी प्रमाणिकता का निर्धारण कैसे होता है?

इन प्रश्नों का उत्तर विभिन्न बुद्धिवादी अपने-अपने ढंग से देते हैं।

बुद्धिवाद के समर्थक

वैसे ग्रीक दर्शन में 'पार्मेनाइंडीज, हेराक्लीटस, डेमोक्रेटिस, सकुरात, प्लेटो इत्यादि दिखाई देते हैं। परंतु बुद्धिवाद का स्पष्ट एवं पूर्ण विकसित रूप आधुनिक युग में, यूरोप में 17-18वीं शताब्दी में उभरकर सामने आता है। इसकी प्रमुख समर्थ हैं-डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनित्ज।

डेकार्ट के दर्शन में द्रव्य (Substance) की स्थिति

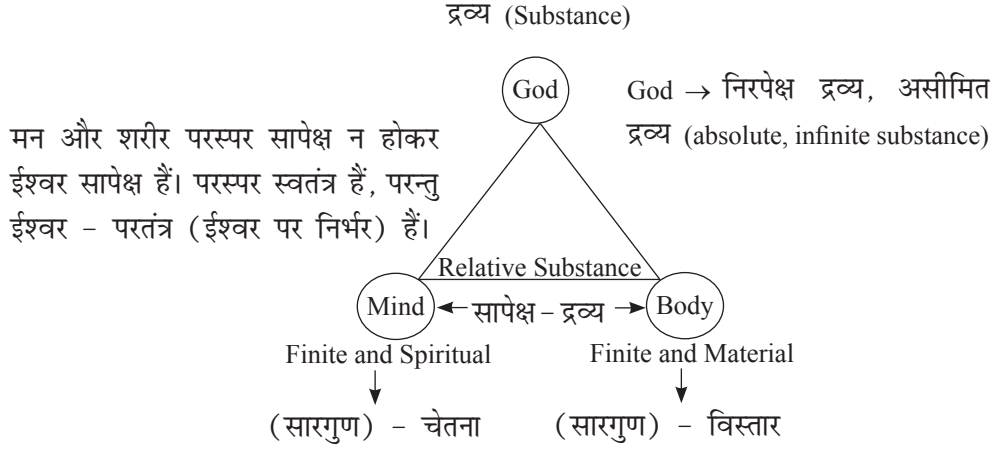

मन और शरीर परस्पर सापेक्ष न होकर ईश्वर सापेक्ष है। परस्पर स्वतंत्र है, परंतु ईश्वर-परतंत्र (ईश्वर पर निर्भर) है।

God → निरपेक्ष द्रव्य, असीमित द्रव्य (absolute, infinite substance)

देकार्त की निगमनात्मक पद्धति बनाम बैकन की वैज्ञानिक पद्धति

देकार्त ने बुद्धिवादी पद्धति के अनुप्रयोग में अग्रलिखित नियमों का पालन किया:

1. प्रथम किसी भी तथ्य को बिना स्पष्ट ज्ञान के स्वीकार नहीं करना अर्थात् सभी प्रकार की हड़बड़ाहट एवं पूर्वधारणाओं से सावधानी पूर्वक दूर रहना तथा निर्णय करते समय मन को प्रस्तुत सभी सन्देह से परे स्पष्ट और परिस्पष्ट तथ्यों के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार न करना।

2. द्वितीय, प्रत्येक समस्या के परीक्षण के अंतर्गत उसे जितना संभव हो उतने भागों में बाँटना जिससे कि उसे हल करने में आसान हो।

3. तृतीय समस्या के सरलतम स्तर से शुरू करके जटिल स्तरों की ओर क्रमशः बढ़ना

4. और अंत में, सदैव अपनी परिगणना को इतना पूर्ण कर लेना ताकि किसी भी भाग के छुट जाने की सम्भावना न रहे।

देकार्त की पद्धति दार्शनिक पद्धति है। उनकी पद्धति उस वैज्ञानिक पद्धति के विपरीत है जिसका पहली बार वर्णन 11वीं शताब्दी में पालीमेथ इब्न अल-हैथम (965-1040) के द्व ारा किया गया था। उनके अनुसार वैज्ञानिक पद्धति के निम्न लक्षण हैं:

(क) पर्यवेक्षण/अवलोकन

(ख) समस्या का कथन

(ग) परिकल्पना का निर्माण

(घ) प्रयोग के द्वारा परिकल्पना का परीक्षण करना

(ङ) प्रयोगात्मक परिणामों का विश्लेषण

(च) आंकड़ों का विवेचन एवं निष्कर्ष का प्रतिपादन

(छ) परिणामों का प्रकाशन

ऐसा लगता है कि अवलोकन, परिकल्पना एवं प्रयोग (क, ग और घ) देकार्त की पद्धति में सम्मिलित नहीं है। फ्रांसिस बेकन, जिनका जन्म देकार्त से 35 वर्ष पहले हुआ था, अल-हैथम की वैज्ञानिक पद्धति से प्रभावित थे तथा उन्होंने समय के साथ इसका और अधिक विकास किया और अपनी वैज्ञानिक पद्धति को इस प्रकार से समझाया:

(i) अनुसंधान करने जाओ किन्तु इसकी आशा मत करो कि इसके क्या परिणाम होंगे।

(ii) जहाँ तक संभव हो परिणामों को मापना चाहिए एवं व्यापक बनाना चाहिए।

(iii) आँकड़ों का प्रयोग परिणामों का विश्लेषण करने के लिए एवं दूसरों के विश्लेषण के साथ तुलना करने के लिए करें।

(iv) विशिष्ट प्रयोगात्मक परिणामों से प्रकृति के सामान्य सिद्धांतों की ओर धीरे-धीरे बढ़ना चाहिए।

(v) व्यक्ति के क्रियाकलापों के अतिरिक्त किसी अन्य पर अपना वैज्ञानिक अध्ययन केन्द्रित नहीं करना चाहिए।

(vi) यदि पर्याप्त मात्रा में साक्ष्य सिद्धांत को वैध नहीं ठहराते हैं तो उस परिकल्पना को छोड़कर किसी दूसरी व्याख्या पर काम करना चाहिए।

पर्यवेक्षण एवं प्रयोग के अतिरिक्त बेकन ने देकार्त के इस नियम के विरुद्ध कि व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल अपने आप पर विश्वास करना चाहिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए दूसरों के साथ सहयोग की आवश्यकता को भी महत्व दिया। तथापि, हम देकार्त का इस प्रकार से बचाव कर सकते हैं कि जहाँ अल-हैामि एवं बेकन वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए पद्धति प्रदान कर रहे थे, वहीं देकार्त हमें दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत आने वाले साधारण ज्ञान को प्राप्त करने के लिए पद्धति प्रदान कर रहे थे। यद्यपि, बेकन इस बात पर जोर देते हैं कि उनकी पद्धति ऐसी पद्धति है जो मानक के किसी भी प्रयास के लिए ज्ञान प्रदान करेगी।

बेकन की वैज्ञानिक पद्धति एवं देकार्त की दार्शनिक पद्धति में मुख्य अंतर यह है कि जहाँ पर पहली पद्धति आगमन पर बल देती है वहीं दूसरी शुद्ध रूप से निगमनात्मकता पर बल देती है। द न्यू ऑरगेनान (The New Organon) में बेकन कहते हैं : सत्य को खोजने एवं पता लगाने के दो ही तरीके हैं या हो सकते हैं। पहला अनुभव से निकलता है एवं विशेष से सार्वाधिक सामान्य सूक्ति की ओर चलता है, एवं इन सिद्धांतों से, सत्यों को सिद्ध करने के लिये, निर्णयों एवं मध्य सूक्तियों की ओर बढ़ता है। यह पद्धति आजकल चलन में है। दूसरे तरीके में सूक्तियों को अनुभवों एवं विशिष्टताओं से प्राप्त किया जाता है तथा क्रमिक रूप से बिना रूके बढ़ा जाता है ताकि अन्ततः सबसे सामान्य सूक्ति तक पहुंचा जा सके। यह उचित पद्धति है लेकिन अभी तक इसे जाँचा नहीं गया है (द न्यू ऑरगेनान, ऐफोरिज्म-19)।

यहाँ पर यह देखने लायक बात यह है कि बेकन ने ज्ञान की निगमनात्मक पद्धति की विवेचना देकार्त, जिसे उसने अपने डिस्कोर्स ऑन मेथड में 17 वर्ष बाद प्रस्तुत की थी, से पूर्व 1620 में ही प्रस्तुत कर दी थी। इससे भी अधिक बेकन ने पहले ही बुद्धिवाद, जो 17वीं शताब्दी में यूरोपियन दर्शन में प्रभावी रहा, और अनुभववाद, जो 19वीं और 18वीं शताब्दी में ब्रिटिश दर्शन में छाया रहा, के बीच होने वाली लम्बी और तीक्ष्ण बहस का पूर्वानुमान कर लिया था और उन्होंने इस बहस में ज्ञान के मूल आधार के रूप में अनुभववाद, जो उसकी आगमनात्मक पद्धति के लिये आवश्यक था, का पक्ष लिया था।

स्पिनोजा का अद्वैतवाद एवं ईश्वर का विचार

यह इतिहास में दुर्लभ है कि अरस्तू जैसा महान दार्शनिक दूसरे महान दार्शनिक प्लेटो का अनुसरण करता है। महान् गणितज्ञ दार्शनिक देकार्त का अनुसरण दो महान विचारक कर रहे थे, पहला प्लेटो की एकीकृत दार्शनिक पद्धति के रूप में स्पिनोजा और दूसरा विशाल बुद्धिवादी लाइबनित्स। जिस प्रकार से अरस्तू प्लेटो के दर्शन से विकसित हुआ और उसी समय में प्लेटो से मौलिक रूप से पृथक हो गया, इसी प्रकार से स्पिनोजा और लाइबनित्स देकार्त के बुद्धिवाद से विकसित हुए लेकिन प्रत्येक अपने ढंग से देकार्त से मौलिक रूप से पृथक हो गया।

स्पिनोजा ने देकार्त के बुद्धिवाद का अधूरा कार्य दो अर्थों में पूरा किया। देकार्त के दर्शन में एक अधूरापन या खाली स्थान था। स्पिनोजा ने देकार्त के दर्शन की इस रिक्तता को पूरा किया। विशेषतया, उन्होंने दावा किया कि देकार्तवादी पद्धति और बुद्धिवाद का तार्किक परिणाम ईश्वर वादी अद्वैतवाद होता है। ऐसा ईश्वर अनन्त पूर्ण एवं एकमात्र सत्ता है और जहाँ से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है। केवल इतना ही नहीं ईश्वर की सत्ता मीमांसा संबंधी प्राथमिकता, जो कि देकार्त के प्रमाणों के द्वारा प्रदर्शित की गयी थी, हमें ईश्वर के अस्तित्व संबंधी ज्ञानमीमांसा से प्रारम्भ करने के लिये बाध्य करती है न कि स्वयं (आत्मा) के अस्तित्व से या जगत के अस्तित्व से। देकार्त का ऐसा मत मध्यकालीन धर्मशास्त्रियों मेमोनाइडस से लेकर ईसाई और इस्लामिक धर्मशास्त्रियों के लिए बड़े हर्ष का विषय था क्योंकि देकार्त द्वारा प्रस्तुत ज्ञान मीमांसीय बदलाव के बाद भी ईश्वर ज्ञानमीमांसा के लिए पुनः प्रारंभिक बिन्दु बन कया था। स्पिनोजा कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का ज्ञान ईश्वर के ज्ञान पर निर्भर करता है। यद्यपि स्थिति यह पता चलते ही बदल जाती है कि स्पिनोजा माईमोनाइड्स के धर्मग्रंथों के विश्वास के प्रति भी आलोचनात्मक रूख रखते हैं।

यहां पर स्पिनोजा देकार्त से भी अधिक इस बात का दावा करते हैं कि उनके निष्कर्ष शुद्ध तर्क एवं शुद्ध चिंतन पर आधारित है तथा ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य बाहरी साधन पर आधारित नहीं है। जबकि देकार्त ने धर्मग्रंथों की सत्ता को अस्पष्ट रूप से, ना कि स्पष्ट रूप से, चुनौती अवश्य दी थी। इसके अतिरिक्त स्पिनोजा का ईश्वर का विचार पारम्परिक धर्मशास्त्रीय ईश्वर के विचार से एकदम भिन्न है। क्योंकि पारम्परिक रूप में ईश्वर न तो व्यक्तिगत है और न ही बौद्धिक (Deistic) है, बल्कि ईश्वर प्रकृति ही है। इस प्रकार स्पिनोजा अपने प्रकृति सम्बन्धि विचार में आधुनिक वैज्ञानिकों के समान हैं। अधिक पूर्ण और अधिक समग्र दार्शनिक प्रणाली बनाने के प्रयास के उपरान्त भी स्पिनोजा ने संदेह की जगह बनाये रखी, जबकि देकार्त संदेह को लेकर बहुत अधिक सजग थे। इसी कारण से स्पिनोजा अपने उत्तराधिकारियों जेसे कि कांट, रसेल एवं पॉपर के अधिक समीप पहुंच गये। इसके अतिरिक्त, स्पिनोजा देकार्त ने गणितीय दर्शनशास्त्र को ज्यामितीय पद्धति से प्रमाणित करके आगे तक ले गये। जहां देकार्त यह मान कर कि प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति अपने स्वयं के मूल आधार से स्वत: सिद्ध व्युत्पन्नों के आधार पर सत्य या असत्य होती है, अणुवादी हो सकते थे वहीं स्पिनोजा के लिये हमारी ज्ञानमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियों का पूर्ण तन्त्र एक साथ या तो सत्य होता है या असत्य।

अद्वैतवाद के विरुद्ध अति तकनीकी मतभेद के अतिरिक्त स्पिनोजा के विरुद्ध किसी भी प्रकार की तीक्षण आलोचना करना बहुत कठिन है। जहां हम देकार्त के कोजिटो (Cogito) की आलोचना या बचाव के लिए तकनीकी रूप से, सक्षम है वहीं स्पिनोजा के दर्शन की आलोचना करना आसान नहीं है। यद्यपि, यहां हम उस सामान्य आपत्ति को देख सकते हैं जो कि सभी प्रकार के अद्वैतवाद, चाहे वह परमेनाईडस (Parmenides), शंकर (Shankara), अथवा स्पिनोजा (Spinoza) का अद्वैत हो, पर लागू होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक प्रकार के अद्वैतवाद की शुरूआत की शुरूआत, अनेकता से होती है तथा इसके पश्चात् अनेकता की विवेचना से अंत में केवल एक प्राप्त होता है। या एक ही प्रकार की स्वतंत्र अस्तित्व वाली एक सत्ता जैसे कि आध्यात्मिक द्रव्य अथवा जैसा कि स्पिनोजा का एक असीमित ईश्वर प्राप्त होता है। अद्वैतवादी ऐसा क्यों करते हैं? जगत के सामान्य दृष्टिकोण के अनुसार जगत में अनेकता व्याप्त है। जैसे ही एक बच्चा अपने चारों ओर के संसार को पहचानना शुरू करता है वह अपनी माँ, अपने पिता, अपनी बहन, अपने भाई, फूल पेड़, चिड़ियाँ तथा विभिन्न प्रकार के जानवरों का अवलोकन करना शुरू कर देता है; तथा जैसे-जैसे वह बढ़ता है, अनेकता (Plurality) भी बढ़ती जाती है। इस प्रकार वह विभिन्न प्रकार की चिड़ियाँ तथा जानवरों में अंतर पहचानने लगता है। हम केवल सामान्य बुद्धि का प्रयोग करते हुए निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि यह सब अवास्तविक कैसे हो सकता है। परमेनाइडस एवं शंकरा के अद्व ैतवाद के अनुसार अनेकता का अस्तित्व केवल प्रतीति जगत में होता है ना कि वास्तविक जगत में। चूँकि परमेनाइडस एवं अद्वैतवाद की अनेकता के विरुद्ध तर्क केवल वाद-विवाद के लिए है और सकारात्मक तर्कों की भारी कमी है इसलिए अद्वैतवाद उन दार्शनिकों के लिए बहुत आकर्षक नहीं है जो सामान्य बुद्धि के विचार को अतयधिक महत्व देते हैं।

स्पिनोजा का अद्वैतवाद अनुवर्ती दार्शनिकों ने अद्वैतवाद से थोड़ा सा अलग है तथा यह सम्भवत: व्यावहारिक ज्ञान की सहजवृद्धि के प्रति अधिक अक्रामक नहीं है। स्पिनोजा कहते हैं कि यद्यपि परम सत ईश्वर के असीमित असांसारिक द्रव्य है जो न तो भौतिक है और न ही मानसिक है किन्तु वे संसार को मात्र भ्रम या केवल प्रतीत नहीं मानते हैं और न ही जगत में व्याप्त अनेकता को अस्वीकार करते हैं। बल्कि अनेकता स्पिनोजा के 'पर्यायों' के रूप में चरितार्थ होती हैं।

स्पिनोजा की पद्धति की अन्य आलोचना का संबंध इसकी पूर्णता से है। दूसरे शब्दों में, यह व्यापक एवं नियत प्रतीत होती है। इस पर बाहर से आपत्ति करना कठिन हो जाता है। तब क्या उस स्थिति में आंतरिक रूप से इसकी आलोचना करना संभव है? केवल स्पिनोजा का मर्मज्ञय ही ऐसा कर सकता था। लेकिन इस आपत्ति का क्या उत्तर दिया जाये कि स्पिनोजा की पद्धति आंतरिक रूप से लचीलेपन एवं दोषक्षमता दोनों को अनुमति देती है, जबकि देकार्त की पद्धति अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ एवं निर्दोष है। इस कारण से स्पिनोजा भविष्य के लिए जहां एक महत्वपूर्ण संक्रमण के लिये स्थान देते हैं जहां असत्यापनियता आधुनिक दर्शनाशास्त्र में दृष्टिगोचर होती है। असत्यापनियता से हमारा तात्पर्य यह है कि यह सदैव संभव है कि हम जो भी जानते हैं, उसका आधार ही गलत हो सकता है। यद्यपि देकार्त ने प्रत्येक बात की शुरूआत संशय से की थी तथा अंत उन्होंने आधारभूत सत्य ज्ञान, जिन पर कभी संशय नहीं किया जा सकता, की प्राप्ति पर किया। स्पिनोजा ज्ञान संबंधी किसी कट्टरता को स्वीकार नहीं करते जबकि वे देकार्त द्वारा ज्ञानमीमांसा के गणितीकरण को स्वीकार करते हैं और इसका अपनी तत्वमीमांसा में प्रयोग भी करते हैं।

लाइबनित्स का पर्याप्त हेतु नियम एवं पूर्वस्थापित सामंजस्य

लाइबनित्स का बुद्धिवाद उनके पर्याप्त तर्क के सिद्धांत में सम्भवत: सबसे अच्छी तरह से प्रदर्शित होता है। तथापि, यह धारणा कि प्रत्येक वस्तु का कारण होता है तथा बिना कारण के कुछ भी नहीं होता है, सदियों से वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों का मत रहा है। लाइबनित्स का यह विचार कि संसार में बिना कारण कुछ नहीं होता है पुरानी धारणाओं को बुद्धिवादी मोड़ देता है। लाइबनित्स की 'पर्याप्त' की धारणा इस बात से मजबूत होती है कि यह सिफ्र कहने के लिए ही नहीं है कि प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है। लाइबनित्स पर्याप्तता के तर्क को एस. क्लार्क को लिखे गये पत्र में इस प्रकार चित्रित करते हैं कि मेरे अनुसार पर्याप्त हेतु के नियम से यह तात्पर्य है कि बिना हेतु (कारण) के कुछ भी नहीं होता है। अर्थात् कोई जैसा है वह वैसा क्यों है, कुछ दूसरा क्यों नहीं है। इस प्रतिबन्ध कि 'इसके अतिरिक्त कुछ अन्य' प्रतिपादित करता है कि जो भी होता है और उसके होने के कारणों के मध्य एक आवश्यक संबंध होता है। इससे यह भी लक्षित होता है कि कारण इस ढंग से पूर्ण व्याख्या उपलब्ध कराते हैं कि उसके बाद उसकी व्याख्या के लिए किसी अन्य उपाधि की आवश्यकता नहीं रहती। उदाहरण के रूप में, पानी के भाप में बदलने की यह व्याख्या कि पानी को अगर एक निश्चित समय के लिए 100 डिग्री सेंटीग्रेड तापमान पर उबालें तो यह भाप बन जाता है एक पर्याप्त हेतु है। इससे यह भी लक्षित होता है कि सही व्याख्या केवल पर्याप्त कारण ही नहीं होती है बल्कि केवल यही एक सही कारण होता है।

लाइबनित्स अपने पूर्व स्थापित सामंजस्य के विचार के लिए भी प्रसिद्ध है। संसार पूर्व-स्थापित सामंजस्य के कारण यांत्रिकी के नियमों पर परिपूर्ण एवं सक्षम रूप में चलता है। उदाहरण के रूप में, मानव शरीर के बारे में विचार करे-मस्तिष्क सबसे ऊँचे स्थान पर स्थापित है। हृदय लगभग मध्य में है क्योंकि इसका कार्य खून को विभिन्न भागों में जाने के लिए पम्प करना है। मेरू रज्जु (Spinal Chord) पीछे स्थापित है, आदि। शरीर विज्ञान के शिक्षार्थी से यह

आशा नहीं की जाती है कि वह मानव शरीर के विषय में जानकर आश्चर्य व्यक्त करें। हम हृदय के खोपड़ी में होने का अनुमान एवं मस्तिष्क का यकृत के स्थान पर होने का अनुमान नहीं लगा सकते। अगर इन अंगों को इन स्थानों पर स्थापित कर दिया जाये तो मानव शरीर ठीक से कार्य नहीं कर सकेगा। लाइबनित्स का मानना है कि मानव शरीर को इस प्रकार से व्यवस्थित किया गया है ताकि यह अपना कार्य पूर्व स्थापित सामंजस्य के आधार पर सुचारू रूप से कर सके। वास्तव में, ईश्वर पूर्वस्थापित सामंजस्य के लिए आधारभूत पर्याप्त हेतु है।

लाइबनित्स ने यह भी दावा किया कि ईश्वर ने ही सबसे श्रेष्ठ संसार को संभव बनाया है। जैसे कि मानव शरीर जिस प्रकार से है उसके अतिरिक्त किसी और प्रकार से व्यवस्थित नहीं किया जा सकता था। यहां पर इस बात के लिए पर्याप्त तर्क है कि मानव शरीर की संरचना इस प्रकार से कयों है। ये तीनों नियम मिलकर संयुक्त रूप से लाइबनित्स के लिए परिपूर्ण व्याख्याओं का निर्माण करते हैं। हालांकि, इन तीनों की अत्यधिक आलोचना हुई है।

प्रश्न है; प्रत्येक स्थिति के लिए व्याख्या क्यों होनी चाहिए? यह सत्य है कि अधिकांश वैज्ञानिक एवं दार्शनिक पूरे इतिहास में शुरू से अंत तक इस पूर्वानुमान पर ही चलते रहे, लेकिन प्रत्येक वस्तु के लिए व्याख्या क्यों होनी चाहिए। सम्भव है कुछ वस्तुएं ऐसी होती हों जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। एक बुद्धिवादी के रूप में लाइबनित्स इसका उत्तर यह कह कर देंगे कि यद्यपि मानव प्रत्येक वस्तु के लिए व्याख्या देने में सक्षम नहीं है किन्तु एक परम बौद्धिक ईश्वर के पास प्रत्येक घटना, जो घटित होती है एवं प्रत्येक वस्तु जिसका अस्तित्व हे, की व्याख्या है। तथा मनुष्य ने ईश्वर से प्रत्येक स्थिति की व्याख्या करने, यहाँ तक कि जो हमें हमारी पहुँच की सीमा से बाहर लगती है, की योग्यता को प्राप्त किया है। अब यदि प्रत्येक वस्तु के लिए एक व्याख्या है तब उसकी एक और केवल एक ही सही व्याख्या क्यों है? किसी भी घटना के लिए वैकल्पिक पर्याप्त तर्क क्यों नहीं हो सकते हैं? लाइबनित्स इसका उत्तर साधारणतया के नियम के आधार पर दे सकते हैं और यह कह सकते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य को भ्रम से बचाने के उद्देश्य से वैकल्पिक प्रयाप्त हेतु का निर्माण नहीं किया है।

पूर्व स्थापित सामंजस्य क्यों होना चाहिए? विश्व में आकस्मिकता एवं अव्यवस्था व्याप्त क्यों नहीं हो सकती है? यदि वास्तव में कोई पूर्व-स्थापित सामंजस्य है तो फिर संसार में विसंगति क्यों है? ये भूकम्प एवं सुनामी क्यों है? लाइबनित्स का उत्तर है कि संसार के अवलोकन से पता चलता है कि यह मानव शरीर की तरह व्यवस्थित है न कि अव्यवस्थित। अव्यवस्था व्यवस्था के बिगड़ जाने के परिणाम स्वरूप होती है। संसार में व्याप्त विसंगति के उत्तर में लाइबनित्स मध्यकालीन समय में धर्मविज्ञानियों द्वारा दिये गये मानक उत्तर का सहारा लेते हैं कि जो भी हमें बुराई, पाप या अशान्ति दिखाई देती है वो वास्तव में अनिवार्य है और ईश्वरीय योजना के परिणामस्वरूप निर्मित वस्तुओं के अन्तिम उद्देश्यों के अनुरूप होने से अच्छी है।

लाइबनित्स के विरुद्ध सबसे तीखी आलोचना यह है कि जिस संसार में हम रहते हैं वह ईश्वर के द्वारा बनाये गये सभी संभावित संसारों में से सबसे अच्छा क्यों है? क्या यह कहना विरोधाभासी नहीं है कि ईश्वर अपने द्वारा सृजित वास्तविक संसार के विरुद्ध दूसरे किसी वैकल्पिक संसार का सृजन नहीं कर सकता था? यह इसलिये विरोधाभासी है क्योंकि एक ओर

तो ईश्वर सर्वशक्तिमान है, पूर्ण है लेकिन, दूसरी ओर, यदि यह कहा जाये कि कुछ ऐसा है जिसे ईश्वर नहीं कर सकता जैसे कि वैकल्पिक सम्भव विश्व, तब यह उसके सर्वशक्तिमान होने के गुण को सीमित करेगा और यह एक विरोधाभास होगा। लाइबनित्स इस आपत्ति के प्रति पहले से ही अवगत थे। उन्होंने उत्तर दिया कि यद्यपि तार्किक रूप से ईश्वर के लिये वैकल्पिक संसार की सृष्टि करना सम्भव है लेकिन नैतिक रूप से ये संभव नहीं है। इसका अर्थ यह है चूँकि ईश्वर सर्वज्ञ है और जानता है कि जिस भी वैकल्पिक संसार की सृष्टि वह करेगा वो सभी एक जैसे होंगे, इसलिए वह जितनी भी संभावित सृष्टियाँ होगी उनमें से सबसे अच्छी (एक नैतिक अर्थ में) सृष्टि का चुनाव करता है। वास्तव में यह एक कल्पित उत्तर है। प्राय: हम किसी दुर्घटना की दशा में यही तर्क देते हैं कि सोचो स्थिति और भी बुरी हो सकती थी। क्या ईश्वर एक नैतिक कर्ता है? ईश्वर को सर्वशुभ माना जाता है और इस अर्थ में वह परम नैतिक कर्ता है, अत: वह सदैव अपने द्वारा सृजित किये जा सकने वाली वैकल्पिक सृष्टियों में से नैतिक रूप से श्रेष्ठ सृष्टि का ही सृजन करता है।

अंत में, लाइबनित्स के उपरोक्त तीन तर्कों की प्रतिरक्षा के लिये हम उसके द्वारा ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रस्तुत दो गहनदृष्टि एवं गैर परम्परागत प्रमाणों को देखेंगे। इन प्रमाणों के बारे में गैर परम्परागत बात यह है कि ईश्वर के अस्तित्व के परम्परागत प्रमाण पूर्वानुभविक 'अनुभव से स्वतंत्र) श्रेणी के है वहीं लाइबनित्स यहाँ पर ईश्वर के अस्तित्व के दो उत्तरानुभविक (अनुभव पर आधारित) प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। पहले प्रमाण में वे कहते हैं कि घटनाओं की किसी S-1 शृंखला के लिए पर्याप्त हेतु के नियमानुसार घटनाओं की S-2 शृंखला अवश्य होनी चाहिए। केवल घटनाओं की S-2 शृंखला ही S-1 शृंखला की सत्य व्याख्या कर सकती है। S-2 शृंखला के लिए एक दूसरी S-3 शृंखला भी होगी जो कि इसकी एकमात्र सही व्याख्या प्रस्तुत करेगी। और इसी प्रकार से असीमित रूप से यह शृंखला चलती चली जाएगी। पर्याप्त हेतु के नियम का मानना है कि प्रत्येक स्थिति का एक अन्तम पर्याप्त हेतु होता है जिसे स्वयं किसी हेतु की आवश्यकता नहीं होती है और इस अन्तिम पर्याप्त हेतु होता है जिसे स्वयं किसी हेतु की आवश्यकता नहीं होती है और इस अन्तिम हेतु को हम ईश्वर के रूप में जानते हैं। अब, इस अन्तिम पर्याप्त हेतु (ईश्वर) का निश्चित रूप से अस्तित्व होना आवश्यक है अन्यथा सबसे पहली S-1 शृंखला का ही अस्तित्व सम्भव नहीं होगा। कोई यहाँ पर इस अनिवार्यता का यह कहकर विरोध कर सकता है कि S-1 शृंखला का अस्तित्व अनिवार्य नहीं है क्योंकि यह संभव है कि घटनाओं की शृंखला का ही अस्तित्व न रहा हो। लाइबनित्स यहां पर अपना पूर्व स्थापित सामंजस्य का नियम लेकर आते हैं और कहते हैं कि संसार के सुव्यवस्थित रूप से चलने के लिए यह आवश्यक है कि S-1 शृंखला का अस्तित्व हो; और यद्यपि यह तार्किक रूप से संभव है कि इसका अस्तित्व न हो। किन्तु, चूँकि ईश्वर ने संभव रूप में सबसे श्रेष्ठ संसार की रचना की है और यह नैतिक रूप से आवश्यक है कि S-1 शृंखला का अस्तित्व हो। यह प्रमाण इसलिये उत्तरानुभविक है क्योंकि इसकी शुरूआत आपतिक तथ्यात्मक सत्यों से होती है। लेकिन इस अनिश्चित सत्यों को लाइबनित्स हेतुफलाश्रित (Hyphothetical) अनिवार्य सत्य कहते हैं। फिर उत्तरानुभविक प्रमाण सरल एवं कम समुपयुक्त होते हैं। पूर्व स्थापित सामंजस्य के उत्तरानुभविक आकलनों जैसे कि मानव शरीर की शरीर संरचना से हम यह निष्कर्ष्ज निकालते हैं कि इस पूर्व-स्थापित सामंजस्य का कोई कारण एवं पर्याप्त तर्क अवश्य

होगा। यह वह एक समान कारण होगा जो विश्व की सभी वस्तुओं से संबंधित होगा। सीधे शब्दों में, किसी न किसी ने तो पूर्व-स्थापित कानमों को स्थापित किया होगा। सीधे शब्दों में, किसी न किसी ने तो पूर्व-स्थापित मानकों को स्थापित किया होगा और वह सत्ता ईश्वर है। और चूंकि पूर्व-स्थापित सामंजस्य का होना नैतिक रूप से आवश्यक है, उसी प्रकार से ईश्वर का अस्तित्व भी आवश्यक है।

सारांश

इस खंड में हमने तीन महान दार्शनिकों, देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनित्स का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। सम्भवत: पश्चिमी विचारों के इतिहास में ऐसा कभी भी हुआ हो कि मात्र 80 वर्ष के अंतराल में तीन महान विचारक फले-फूले हों। इन विचारकों से तीन या चार दशक पहले महान विचारक गैलीलियों (Galileo), केप्लर (Kepler), एवं बेकन (Bacon) थे। इसी समय में इन तीन विचारकों के अतिरिक्त हॉब्स (Malebranche) मैलब्रास एवं पास्कल (Pascal) आदि भी फले फूले। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि 16वीं शती के अन्त से 18 शती की शुरूआत तक हमारे पास विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में पश्चिम के महान विचारकों का स्वर्णिम दौर था तथा इस वक्त में की गई प्रगति उल्लेखनीय थी। इस प्रकार से हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि यह समय आधुनिक विज्ञान के साथ ही आधुनिक दर्शनशास्त्र के आविर्भाव का समय भी था।

देकार्त, स्पिनोजा एवं लाइबनित्स ने बुद्धिवाद को स्थापित किया। देकार्त ने अपने आधारभूतवाद से शुरू किया। आधारभूत के अनुसार, सभी प्रकार के ज्ञान को मजबूत आधार पर खड़ा होना चाहिए। इस से निर्मित ज्ञान की प्रणाली भी मजबूत होगी। साधारणतया, देकार्त साधारण ज्ञान को गणितीय ज्ञान के समान स्वयंसिद्ध ज्ञान बनाना चाहते थे। स्पिनोजा ने जयामितीय पद्धति के साथ देकार्त का अनुसरण किया एवं लाबनित्स के बुद्धिवाद ने अपना आधार तर्क को इसलिये बनाया क्योंकि लाइबनित्स का मानना था कि गणित मूलरूप से तर्क शास्त्र है। ये तीनों भिन्न-भिन्न प्रकार से ईश्वर में विश्वास करते थे। परिणाम स्वरूप, तीनों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण प्रस्तुत किये। इन तीनों ने ईश्वर के अस्तित्व में शुद्ध रूप से बुद्धिवादी तर्क दिये। जहां देकार्त द्वैतवादी थे वहीं स्पिनोजा तटस्थ अद्वैतवादी थे एवं लाइबनित्स एक बहुवादी थे। तीनों के मध्य के ये अंतर उन्हें वास्तव में एक दूसरे से अलग करते हैं। इसके अतिरिक्त, जहां देकार्त ने ज्ञानमीमांसा को महत्व दिया वहीं स्पिनोजा ने तत्वमीमांसा एवं नीतिशास्त्र को महत्व दिया, एवं लाइबनित्स का रूझान तर्क एवं शुद्ध प्रत्ययात्मक चिन्तन की ओर था। यह तथ्य भी इन दार्शनिकों को एक दूसरे से स्पष्ट रूप से अलग करता है।

इत तीनों महान बुद्धिवादियों की आलोचना, जो कि हम ऊपर समझा जुके हैं, के अतिरिक्त इन तीनों की सबसे महत्वपूर्ण आलोचना ब्रिटिश अनुभववादियों लॉक (Locke), बर्कले (Berkeley), एवं ह्यूम (Hume) के द्वारा प्रस्तुत की गई। अनुभववाद द्वारा बुद्धिवाद की सामान्य आलोचना यह है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय संवेदन आवश्यक है तथा बुद्धिवादी ज्ञान के गठन में इन्द्रिय संवेदन के महत्व को नकारने के दोषी हैं।

प्रमुख शब्द

अद्वैतवाद : इसके अनुसार, प्रदत्त विश्व में एकता विराजमान है। अतः ब्रह्माण्ड एक है। अनेकता एवं बहुलता भ्रम है।

मोनड : मोनड से तात्पर्य है 'इकाई'। मोनड को विभिन्न प्राचीन दार्शनिकों जैसे कि पाईथागोरस, प्लेटो, अरस्तू, प्लोटिनस ने विभिन्न ढ़ग से प्रयोग किया है। लाइबनित्स ने अपनी पुस्तक मोनडोलॉजी में मोनड को अनुभूत सत् की मूल इकाई बताया है।

अभ्यास प्रश्न

1. बुद्धिवाद से आप क्या समझते हैं? इसके सामान्य लक्षणों की चर्चा कीजिए।
2. बुद्धिवाद की प्रमुख समस्याएं क्या हैं?
3. देकार्त, स्पिनोजा तथा लाइबनित्ज ने बुद्धिवाद को कैसे परिभाषित किया है? संक्षिप्त विवरण दें।

इकाई–4 दकार्त (Descarte)

इकाई की रूपरेखा:

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. देकार्त के लेखन कार्य
4. देकार्त की विधि और निश्चित ज्ञान
5. द्रव्य, ईश्वर और बाह्य जगत
6. क्रिया-प्रतिक्रियावाद
7. संवेगों का मनोविज्ञान
8. अंतर्जात प्रत्ययों का सिद्धांत
9. क्रमबद्धता
10. महत्त्व
11. सारांश
12. प्रमुख शब्द
13. अभ्यास प्रश्न

उद्देश्य

इस प्रकार का मुख्य उद्देश्य संभवत: सभी महान दार्शनिकों में सबसे अधिक पढ़े जाने वाले दार्शनिक रेने देकार्त का परिचय और उनके दर्शन का अध्ययन करना है। देकार्त सामान्य रूप से 'आधुनिक दर्शन के जनक' कहे जाते है, क्योंकि उन्होंने अपने लिए जो दार्शनिक लक्ष्य स्थापित किए और उनके लिए जो प्रविधि अपनाई वो कुछ ऐसी थी कि उसने मध्यकालीन दार्शनिक परंपरा को तोड़ा और बाद के दर्शन को बहुत अधिक प्रभावित किया। वह आधुनिक चिंतन के संस्थापकों में से एक थे और किसी भी समय के सबसे मौलिकों दार्शनिको और गणितज्ञों में गिने जाते है। इस इकाई में हम देकार्त के जीवन और कृतिज्ञों, ज्ञान की उनकी विधि और कसौटी, ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण, जगत का अस्तित्व, मन-शरीर संबंध और अंतरजात प्रत्ययों का सिद्धांत का अध्ययन करेंगे।

प्रस्तावना

रेने देकार्त मध्य फ्रांस के तूरीन के ला हए में 1556 में पैदा हुए थे। वे एक कुलीन परिवार में पैदा हुए थे और ऐसे परिवार से संबंधित थे जिसने कई विद्धानों को जन्म दिया था। आठ साल की अवस्था मे वे अंजाऊ के ला फ्लेचे विद्यालय में चले गए और उन्होंने विद्यार्थी जीवन वहीं बिताया। सामान्य शास्त्रीय विषयों के अतिरिक्त उन्होंने गणित और स्कालस्टिसिज्म का अध्ययन किया। स्कालस्टिसिज्म मानव बुद्धि का प्रयोग ईसाई सिद्धांत समझने में करता था।

विद्यालयी शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् वे 1616 ई. में पोएटर विश्वविद्याालय में विधि में स्नातक हुए। तथापि उन्होंने वकालत कभी नहीं की और सेना की सेवा के लालच

में 1618 में नीदरलैंड के संयुक्त प्रान्तों के राजनेता नसाऊ के राजकुमार मारिस के यहां नौकरी करना स्वीकार कर लिया। बाद के वर्षो में उन्होंने कई सेनाओं की सेवा की परंतु उनका ध्यान पूर्व से ही गणित और दर्शन की समस्याओं की ओर आकर्षित रहता था इसलिए उनका शेष जीवन इन्हीं समस्याओं में उलझा रहा। उस समय के डच गणितज्ञ, आइज़क बीकमैन ने उन्हें प्रभावित किया और उन्हें आगे अध्ययन हेतु प्रेरित किया।

10 नवम्बर 1619 को उन्होंने तीन स्वप्न देखे जिसने उन्हें सत्य की खोज करने के प्रति प्रेरित किया और उन्होंने इटली के लेडी लोरेटो के मंदिर की यात्रा की शपथ ली। यद्यपि अन्य बांध्यताओं के कारण वे तुरन्त नहीं जा सके, परंतु 1623 ई. में वे वहाँ गए। कुछ समय तक वे पेरिस में रहें, जहाँ उनकी मित्रता मर्सीनरी और कार्डिनल द बेरुले से हुई। पेरिस के जीवन से उकता कर वे हालैंड आ गए जहाँ वे 1649 तक रहे।

हालैंड में देकार्त ने अपनी दार्शनिक पद्धति पर काम किया और 1634 ई. तक अपना वैज्ञानिक कार्य ले मोंदे (जगत्) पूरा किया। तथापि, जब उन्होंने गैलीलियो को कापरनिकस सिद्धांत के समर्थन के कारण दण्डित होने की बात सुनी तो अपनी कृति ले मोंदे को छपने से रोक दिया। उसके बाद वे रानी क्रिस्टीना के बुलावे पर स्वीडन चले गए। स्वीडन की ठंड उनको रास नहीं आई और उस पर रानी का प्रातः पाँच बजे पढ़ना उनके लिए अत्यधिक कष्टकारी हो गया। अन्ततः वे स्टाकहोम में 11 फरवरी 1650 को दिवंगत हो गए।

– गणितज्ञ एवं दार्शनिक डेकार्ट अपने दर्शन की विवेचना में गणितीय विधि से प्रभावित थे। गणित में सबसे पहले स्वयंसिद्धों की स्थापना की जाती है और उसके आधार पर निगमनात्मक पद्धति से अन्य निष्कर्ष स्थापित किये जाते हैं। डेकार्ट के दर्शन पर इसका प्रभाव है।

– आधुनिक युग की प्रमुख प्रवृत्तियां विद्यमान जैसे-बुद्धिवाद का समर्थन, श्रद्धा एवं विश्वास नहीं, बल्कि संदेह के आधार पर सत्य का अन्वेषण, अंधविश्वास और पूर्वाग्रह से मुक्त चिंतन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, व्यावहारिक उद्देश्य आदि।

– मध्ययुगीन दर्शन में श्रद्धा और विश्वास को ज्ञान का स्रोत माना गया। प्लेटो ने आश्चर्य को ज्ञान का स्रोत कहा (Philosophy begins in wonder) जबकि डेकार्ट ने संशय को निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्ति के स्रोत के रूप में स्वीकार किया।

– डेकार्ट के पहले दार्शनिक प्रायः पुरातन परंपरा का अनुकरण करते थे, और उस पर ही टीका-टिप्पणी तक ही उनका चिंतन सीमित था। डेकार्ट ने इस परंपरा का विरोध किया और एक नये ढंग से, बिना किसी अन्य दार्शनिक का अनुकरण करते हुए अपना दार्शनिक चिंतन प्रारंभ किया। उनका स्पष्ट कथन है- "प्लैटो और अरस्तू को पढ़कर हम कभी दर्शनिक नहीं बन सकते, जब तक कि हम स्वयं अपनी स्वतंत्र स्थपनाएं नहीं बना लेते या स्वतंत्र निर्णय नहीं कर पाते।'

देकार्त के लेखन कार्य

देकार्त का लेखन पर्याप्त रूप से अधिक है। उन्होंने न केवल दार्शनिक रचनाँए की वरन् गणित, जीवविज्ञान, भौतिक विज्ञान पर मूल पुस्तकों के साथ-साथ बहुत से पत्र भी लिखे।

उनकी प्रमुख दार्शनिक कृतियाँ है:

1. डिसकोर्स ऑन मेथड (1637)
2. मेडिटेशन्स ऑन फर्स्ट फिलासफी (1641)

3. प्रिंसिपल्स ऑफ फिलासफी (1644)

4. रूल्स फार द डाइरेक्शन ऑफ द माइंड (1701)

डेकार्ट की विधि और निश्चित ज्ञान (Cartesian Method and Certain Knowledge)

डेकार्ट का लक्ष्य दर्शन को गणित की तरह सुदृढ़ बौद्धिक आधार प्रदान करना था, जिससे दर्शन के क्षेत्र में असंदिग्ध और निश्चयात्मक ज्ञान मिल सके। डेकार्ट गणितीय विधि से बहुत प्रभावित थे। गणित में सबसे पहले स्वयंसिद्धों की स्थापना की जाती है और तब उनके आधार पर निगमनात्मक पद्धति से अन्य निष्कर्ष स्थापित किए जाते थे। गणितीय प्रणाली की दो विशेषताएं हैं- (1) अंत: प्रज्ञा द्वारा मौलिक पदों की परिभाषाएं करना, जो स्पष्ट, स्वयंसिद्ध एवं सर्वमान्य हों तथा (2) तर्कणा द्वारा उन असंदिग्ध सत्यों से एक-एक चरण संगतिपूर्वक आगे बढ़ते हुए अन्य सत्यों का निगमन करना। डेकार्ट भी अपने दर्शन में गणित के निगमनात्मक पद्धति के आधार पर ही अपनी विधि विकसित एवं स्थापित करना चाहते थे। इस आशय से डेकार्ट ने जिस पद्धति का प्रतिपादन किया उसे डेकार्ट की विधि या "***Cartesian Method***" कहा जाता है।

डेकार्ट की विधि का संबंध मूलत: उनकी संशय विधि से है। संशय के द्वारा ही डेकार्ट ये जानना चाहते हैं कि क्या कोई ऐसा सत्य है जो संदेह से परे हो? डेकार्ट ने जब अपना दार्शनिक चिंतन प्रारंभ किया तो वे यह जानते थे कि अन्य दार्शनिकों या विचारकों ने क्या कहा है? तथा उन्होंने किन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। यहां डेकार्ट का कहना है कि ये सारी बातें हमारी खोज और चिंतन को प्रभावित करती हैं। परंतु दूसरों के सिद्धांतों पर विचार करना, दूसरों के निर्णय को मान लेना या प्रचलित विश्वास को मान लेना दर्शन का आधार नहीं हो सकता है, जब तक कि कोई व्यक्ति स्वयं अपने लिए कोई निश्चित आधार न खोज ले। नया चिंतन या सत्य की खोज के लिए हमें स्वयं आगे बढ़ना होगा। डेकार्ट का यह स्पष्ट कथन है कि 'चाहे हम प्लेटो और अरस्तू के समस्त तर्कों का अध्ययन कर लें परंतु हम कभी भी दार्शनिक नहीं बनेंगे यदि हम किसी विषय पर कोई उचित निर्णय न कर सकें।" अत: किसी दार्शनिक समस्या पर विचार करने के लिए कुछ नियमों का पालन करना चाहिए।

डेकार्ट अपनी दार्शनिक विधि में बुद्धि को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। इनके अनुसार संसार की सभी वस्तुओं में से सबसे सुंदर बुद्धि का ही सबसे अधिक समान वितरण है। इनके अनुसार बुद्धि ही वह शक्ति है जिसमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की तथा यथार्थ ज्ञान को अयथार्थ ज्ञान से पृथक करने की क्षमता विद्यमान है। बुद्धि की इन्हीं क्षमताओं को वे 'बुद्धि का स्वाभाविक प्रकाश' (natural Light of Reason) कहते हैं। इस बुद्धि के दो व्यापार हैं -

1. प्रतिभान (Intuition)
2. निगमन (Deduction)

प्रतिभान (Intution)

डेकार्ट के अनुसार प्रतिभान से तात्पर्य उस धारणा से है जिसे विशुद्ध और सावधान बुद्धि इतनी तत्परता और सुभिन्नता से हमें प्रदान करती है कि उसके विषय में कोई संदेह या अनिश्चितता नहीं रह जातौ यह कोई इन्द्रिय ज्ञान या काल्पनिक ज्ञान न होकर बुद्धि का निरीक्षण है। प्रतिभान स्वयं प्रकाश्य तथा स्वत: प्रमाणित होता है। इसे अपनी प्रमाणिकता के

लिये लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती वरन् अन्य प्रमाण-व्यापारों के लिए इसकी आवश्यकता होती है। इसके द्वारा ही प्रमाणों में प्रमाणत्व आता है। यह अकाट्य एवं असंदिग्ध ज्ञान है। प्रतिभान के उदाहरण हैं- आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान, गति का ज्ञान, 2+2= 4 आदि। प्लेटो ने भी शारीरिक प्रत्यक्ष और बौद्धिक ज्ञान में भेद करते हुए यह कहा था कि तत्व का वास्तविक ज्ञान आत्म-चक्षु (Eye of the Soul) के द्वारा ही हो सकता है।

निमगन (Deduction)

निगमन प्रतिभान पर आधारित वह पद्धति है जिसमें प्रतिभान द्वारा स्थापित आधार-वाक्यों से निष्कर्ष निकाले जाते हैं। चूंकि निगमन प्रतिभान पर आधारित होता है अतः यह भी प्रतिभान की भांति अकाट्य और सत्य होता है। परंतु प्रतिभान के सामान यह स्वतः सिद्ध नहीं होता। इसीलिए इसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने की आवश्यकता होती है। यह प्रतिभान की भांति अपरोक्ष ज्ञान न होकर परोक्ष ज्ञान हैं।

स्पष्ट है कि डेकार्ट के अनुसार बुद्धि ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत है तथा प्रतिभान और निगमन इसके व्यापार हैं। ज्ञान की प्रत्येक प्रक्रिया में ये दोनों विद्यमान रहते हैं। इनसे प्राप्त ज्ञान ही विशुद्ध ज्ञान है। सत्य की अनुसंधान विधि में प्रतिभान और निगमन की संयुक्त प्रक्रिया काम करती है। इस रूप में प्रतिभान और निगमन ही डेकार्ट की दार्शनिक प्रणाली के वास्तविक अंग के रूप में उभरकर सामने आते हैं। परंतु इनका विशुद्ध रूप में प्रयोग हमारे लिये कठिन है क्योंकि बुद्धि पर शरीर का प्रभाव पड़ता है। शरीर के प्रभाव में आकर बुद्धि विकृत हो जाती है। जनश्रुति, परंपरा, लोकाचार तथा गलत दिशा भी मानव-बुद्धि को दूषित करती हैं। फलस्वरूप बुद्धि अनेक पूर्वधारणाओं, मान्यताओं, अंधविश्वासों से ग्रसित हो जाती है।

निश्चयात्मक एवं असंदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिए बुद्धि को सबसे पहले इन भ्रमों और पूर्वाग्रहों से मुक्त करना आवश्यक है। निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति के लिए डेकार्ट अपनी प्रणाली के चार मुख्य अंग या दार्शनिक पद्धति के चार प्रमुख नियम बतलाते हैं-

1. जब तक हम किसी विषय को स्पष्ट (clear) एवं परिस्पष्ट (Distinct) रूप में न जान लें तब तक हम उसे सत्य स्वीकार नहीं करेंगे। (सत्यता का निकष-Criteria of Truth)

2. हमें अपनी कठिनाइयों को यथा संभव सरल से सरलतम टुकड़ों में विभाजित कर लेना चाहिए। (विश्लेषण का नियम)

3. उक्त विभाजन के बाद हमें सरल भाग से क्रमशः जटिल भाग की ओर अग्रसरित होना चाहिए। (संश्लेषण का नियम)

4. किसी निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले यह भली-भांति देख लेना चाहिए कि समस्या का कोई भाग छूटा नहीं हो। (प्रमाणीकरण का नियम) इसका उद्देश्य विचार-प्रक्रिया को निर्दोष बनाना है।

उपरोक्त चार नियमों में से पहला नियम विशेष महत्वपूर्ण है। इस नियम में डेकार्ट ने सत्यता के निकष को बताया है। उनके अनुसार- स्पष्टता (Clearness) और परिस्पष्टता (Distinctness) सत्य ज्ञान के लक्षण हैं। इससे दार्शनिक क्षेत्र में निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति की एक खास विधि 'संदेह-विधि' (Method of Doubt) उभरकर सामने आती है। संदेह विधि को अपनाने के फलस्वरूप डेकार्ट अपनी खोज के प्रारंभ में ही कहते हैं कि जहां तक हो सके वे हर चीज पर संदेह करेंगे और इस प्रकार उन तथ्यों पर पहुंचेंगे जो संदेह से परे हैं। यदि वे ऐसे निश्चयात्मक ज्ञान की खोज कर लेते हैं तो वे उसके आधार पर अन्य निश्चित

सत्यों की खोज करेंगे। इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में निश्चित एवं असंदिग्ध ज्ञान एक खोज की विधि ही 'संदेह-विधि' है।

संदेह विधि के क्रियान्वयन के क्रम में वे एक सिरे से समस्त वस्तुओं, घटनाओं, मतों एवं मान्यताओं पर संदेह करते हैं। डेकार्ट यहां यह कहते हैं कि जब संदेह करने पर तार्किक व्याघात या विसंगति उत्पन्न होगी तो हमें वहीं पर रूकना होगा और उसे ही असंदिग्ध ज्ञान के रूप में स्वीकार करना होगा।

– डेकार्ट अपनी संदेह विधि के क्रम में सबसे पहले इन्द्रिय ज्ञान पर संदेह करते हैं। इनके अनुसार इन्द्रियां हमें कभी कभी गलत ज्ञान प्रदान करती हैं। जैसे रेगिस्तान में जल का ज्ञान, रस्सी में सर्प का ज्ञान।

1. डेकार्ट के अनुसार इन्द्रिय संवेदनाओं से प्राप्त सही ज्ञान और रेगिस्तान में प्राप्त जल के गलत ज्ञान में कोई गुणात्मक भेद नहीं है, क्योंकि दोनों में ही इन्द्रिय संवेदनाओं की उपस्थिति पाई जाती है। अत: हम इन्द्रिय ज्ञान पर तर्कत: उसके गलत होने हा संदेह कर सकते हैं।

2. डेकार्ट के अनुसार शारीरिक क्रियाओं पर भी संदेह किया जा सकता है। स्वप्न में हम स्वप्न के अनुसार कोई शारीरिक क्रिया नहीं करते, फिर भी हमें उसकी अनुभूति होती है। संभव है कि हम अभी भी स्वप्न की स्थिति में हों। अत: हम शारीरिक क्रियाओं पर भी उनके गलत होने का संदेह कर सकते हैं।

3. वैज्ञानिक ज्ञान भी संदेह से परे नहीं है। विज्ञान स्वयं अपने निष्कर्षों को भविष्य में असत्य होने की संभावना से इंकार नहीं करता। विज्ञान के निष्कर्ष तभी तक सत्य माने जाते हैं जब तक कि कोई नया सिद्धांत उसका खंडन न कर दें।

4. डेकार्ट के अनुसार गणितीय ज्ञान पर भी संदेह किया जा सकता है, क्योंकि हो सकता है कि हम अभी किसी शैतान के वश में हों और उसके अनुसार एक निश्चित दिशा में सोचने के लिए विवश हों।

5. डेकार्ट के अनुसार परंपरागत मतों एवं सिद्धांतों पर भी उसके गलत होने का तर्कत: संदेह कर सकते हैं।

इन सबके आधार पर डेकार्ट यह कहते हैं कि हम जिन चीजों को सही रूप में जानने का दावा करते हैं उनमें से कोई ऐसी नहीं है जिस पर संशय नहीं किया जा सके। इस प्रकार डेकार्ट प्रत्येक विश्वास, ज्ञान, सिद्धांत एवं मत पर संदेह करते हैं और उसे तर्कत: सत्य मानने से इंकार करते हैं। परंतु यहां इस संदेह प्रक्रिया से स्पष्ट है कि मैं सब प्रकार के ज्ञान पर संदेह प्रकट कर सकता हूं, परंतु इस बात पर संदेह नहीं कर सकता हूं कि मैं संदेह कर रहा हूं। अगर मैं अपने ऊपर भी संदेह करूं तो भी संदेहकर्ता के रूप में 'मैं' का अस्तित्व सिद्ध होता है। वस्तुत: संदेह करने के लिए संदेह-प्रक्रिया का होना आवश्यक है। संदेह प्रक्रिया एक चेतनप्रक्रिया है जो बिना संदेहकर्ता (चेतन तत्व) के हो ही नहीं सकती है। मैं संदेह चाहे किसी भी ज्ञान पर करूं, परंतु संदेह से संदेहकर्त्ता (मैं) का अस्तित्व निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। यह एक ऐसी सत्यता है जो असंदिग्ध है। इसे ही डेकार्ट 'Cogito ergo sum' या 'मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं' के रूप में प्रस्तुत करते हैं जोकि असंदिग्ध है। वस्तुत: सोचना विचार की एक प्रक्रिया है। विचार विचारक का सारगुण है। सारगुण को उसे द्रव्य से पृथक नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सोचने से सोचने वाले (विचार के

आधार पर विचारकर्ता) का अस्तित्व निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। इसे डेकार्ट अपने दर्शन में आधार वाक्य के रूप में स्थापित करते हैं।

यहां डेकार्ट का यह कथन है कि 'मेरा संदेह सही हो सकता है, मेरा संदेह गलत हो सकता है परंतु मैं इस बात पर संदेह नहीं कर सकता हूं कि मैं सेदह कर रहा हूं। यदि मैं अपने ऊपर भी संदेह करूं तो फिर ऐसी स्थिति में भी संदेहकर्ता के रूप में 'मैं' वाक्य के रूप मे स्थापित करते हैं।

यहां डेकार्ट का यह कथन है कि 'मेरा संदेह सही हो सकता है, मेरा संदेह गलत हो सकता है परंतु मैं इस बात पर संदेह नहीं कर सकता के मैं संदेह कर रहा हूं। यदि मैं अपने ऊपर भी संदेह करूं तो फिर ऐसी स्थिति में भी संदेहकर्ता के रूप में 'मैं' का अस्तित्व सिद्ध होगा।'

यहां यदि यह कहा जाए कि संशय करने वाले संशयकर्ता का अस्तित्व नहीं है तब वैसी स्थिति में तार्किक व्याघात या विसंगति उत्पन्न हो जाती है। अत: आत्मा की सत्ता का खंडन नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार संदेह पद्धति से 'मैं' अर्थात् अपनी आत्मा का अस्तित्व निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। डेकार्ट इसे अपनी भाषा में कहते हैं।

"Cogito	ergo	sum"
↓	↓	↓
"I think	therefore	I am"
↓	↓	↓
"मैं सोचता हूं	इसलिए	मैं हूं"

डेकार्ट के दर्शन में संशय उनके दर्शन का आरंभ है, अंत नहीं है। इस रूप में उनकी संशय विधि (Method of doubt) संशयवाद से भिन्न है। डेकार्ट का संशय तार्किक एवं प्रयोजनपूर्ण है, मनोवैज्ञानिक नहीं है। डेकार्ट की संशय विधि का अंत आत्मा के स्पष्ट एवं परिस्पष्ट (clear and distinct) ज्ञान होने के बाद हो जाता है।

'Cogito ergo sum' के संबंध में निम्न बातें महत्वपूर्ण हैं-

1. "मैं सोचना हूं, इसलिए मैं हूं"- यह अनुमान नहीं है बल्कि यह अंतर्सूझ (Intuitive) ज्ञान है। यदि यह अनुमानजन्य होता तो फिर इसे आधार वाक्यों की आवश्यकता होती। तब वह किसी दूसरे पर आधारित होता। परंतु ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से आत्मा की सत्ता को स्वयं सबको आधार है। यह ज्ञान की पूर्व मान्यता है।

2. 'मैं सोचता हूं, इसीलिए मैं हूं'- इस वाक्य में 'सोचने' (cogito) का आशय केवल सोचना या विचारना मात्र नहीं है। चिंतन के अनेक रूप है, जैसे- संदेह करना, समझना, इच्छा करना आदि। ये सब मानसिक क्रियाएं हैं। अत: इनकी सत्ता आत्मा पर ही निर्भर है। तात्पर्य है कि चेतन प्रक्रियाओं से चेतनामय 'मैं' का अस्तित्व अवियोज्य रीति से संबंधित है। आत्मा ही सभी मानसिक क्रियाओं का आधार है।

'**Cogito ergo sum**' की सत्यता स्पष्ट (clear) और परिस्पष्ट (Distinct) है। इससे हमें सत्यता की कसौटी मिलती है। सत्यता की कसौटी से डेकार्ट ने ईश्वर और उसकी सत्यनिष्ठा का सिद्धांत निगमित किया है। अंत में उन्होंने बाह्य जगत की सत्ता को ईश्वर की

सत्यनिष्ठता (God's Veracity) के आधार पर स्पष्ट किया। स्पष्ट है कि ज्ञान क्रम में पहले आत्मा है और बाद में ईश्वर। किंतु अस्तित्व क्रम में पहले ईश्वर है और बाद में आत्मा का स्थान आता है। दूसरे शब्दों में, आत्मा ईश्वर के ज्ञान का हेतु है और ईश्वर आत्मा के अस्तित्व का हेतु है। इस प्रकार दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध है।

आलोचना (Criticism)

1. कार्नेप के अनुसार डेकार्ट के 'मैं हूं' (sum) में दोष है। वहां 'हूं' शब्द का प्रयोग अस्तित्व के अर्थ में किया गया है, जबकि यह शब्द (हूं) संयोजक का काम करता है। पुनः 'हूं' शब्द का प्रयोग करने के लिये विधेय का होना आवश्यक है, जबकि यहां इस संदर्भ में कोई विधेय स्वीकार नहीं किया गया है।

2. गिलबर्ट राइल के अनुसार- बिना प्रामाणिक ज्ञान के समस्त ज्ञान को अप्रमाणिक मान लेना गलत है। यह सही है कि इन्द्रियां कभी-कभी भ्रम उत्पन्न करती हैं, परंतु यह भी उतना ही सही है कि उन भ्रमों का निराकरण भी इन्द्रियों द्वारा ही होता है।

3. ए.जे. एयर के अनुसार सार्वभौम संशय असंभव है। यदि हम सभी प्रत्यक्षों को भ्रामक मान लें तो फिर 'भ्रामक' शब्द भी निरर्थक हो जायेगा।

4. एयर के अनुसार, 'मैं सोचता हूं' से यह सिद्ध नहीं होता कि मैं हूं। 'मैं सोचता हूं' का अर्थ है कि एक विचार घटित हुआ, अर्थात एक विचार की सत्ता उत्पन्न हुई। इस प्रकार यहां आत्मा का अस्तित्व मात्र वैचारिक है, वास्तविक नहीं।

5. डेकार्ट के समकालिक दार्शनिक गैसेन्डी के अनुसार-'मैं सोचता हूं, इसलिए मैं हूं', वस्तुतः एक निगमनात्मक तर्क है जिससे किसी सत्ता की सिद्धि वास्तव में नहीं होती। इसका स्वरूप है-

– जो सोचते हैं, उसकी सत्ता है।

– मैं सोचता हूं।

– अतः मैं हूं। (निष्कर्ष वाक्य)

उल्लेखनीय है कि डेकार्ट इसे निगमन न मानकर अन्तः प्रज्ञात्मक Intuitive) मानते हैं।

6. अस्तित्ववादी कीर्केगार्ड के अनुसार पहले अस्तित्व होता है और तभी उसका चिंतन होता है। अतः डेकार्ट की उक्ति का सही क्रम होगा- 'मैं हूं, अतः मैं सोचता हूं' अर्थात् चिंतन से अस्तित्व की सिद्धि नहीं हो रही है अपितु अस्तित्व से चिंतन संभव है।

7. ह्यूम के अनुसार अनुभव के द्वारा किसी नित्य, अभौतिक द्रव्य की अनुभूति नहीं होती। परिवर्तनशील मानसिक प्रक्रियाओं से पृथक किसी स्थायी आत्मा की सत्ता नहीं है, जैसा की डेकार्ट स्वीकार करते हैं।

8. काण्ट के अनुसार विचार मात्र से अस्तित्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। विचार से विचार की सत्ता मात्र ही सिद्ध होती है, उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं। यदि हम यह विचार करें कि हमारे जेब में 100 डॉलर हैं तो इससे वास्तव में हमारी जेब में 100 डॉलर नहीं आ पाते।

9. काण्ट के अनुसार आत्मा ज्ञाता है, अतः उसे ज्ञेय अर्थात ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता। ज्ञाता स्वयं कभी ज्ञेय नहीं हो सकता।

द्रव्य-विचार (Substance)

डेकार्ट के अनुसार द्रव्य वह है जिसकी अपनी निजी सत्ता है और जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य की अपेक्षा न रखता हो। (A substance is one which exist in itself and is conceived through itself).

यदि इस परिभाषा को दृढ़ता के साथ स्वीकार किया जाए तो फिर वैसी स्थिति में ईश्वर ही एकमात्र द्रव्य के रूप में स्थापित होता है। परंतु डेकार्ट अपने दर्शन में द्रव्य की दो कोटियां बनाते हैं - (1) निरपेक्ष द्रव्य (Absolute Substance) (2) सापेक्ष द्रव्य (Relative Substance)। डेकार्ट के अनुसार निरपेक्ष दव्य एकमात्र ईश्वर है जबकि जड़ और चेतन सापेक्ष द्रव्य हैं। इन्हें यहां सापेक्ष द्रव्य इसलिए कहा गया है क्योंकि ये अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर की अपेक्षा रखते हैं। साथ ही इन्हें द्रव्य कहा गया है क्योंकि ये परस्पर स्वतंत्र है। ये दोनों द्रव्य परतंत्र केवल ईश्वर के संदर्भ में हैं, एक-दूसरे के संदर्भ में नहीं। इस प्रकार डेकार्ट के दर्शन में तीन द्रव्य उभरकर सामने आते हैं- (1) ईश्वर (2) आत्मा और (3) जड़।

तीन तत्वों में विश्वास करना ईसाई धर्म की ही मान्यताओं को एक संदर्भ में तार्किक आधार प्रदान करने का प्रयास है।

ईश्वर (God)

डेकार्ट ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर विचार एक सार्थक एवं जन्मजात विचार (Innate Ideas) है। यह विचार नित्य, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, दयालु, सद्गुणों का भंडार, संपूर्ण सृष्टि का कर्त्ता, असीम तथा पूर्ण ईश्वर का है। ईश्वर के अस्तित्व सिद्धि के लिए डेकार्ट निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं-

1. निगमन तर्क (Deductive Argumen): डेकार्ट अपनी संदेह विधि के आधार पर यह स्थापित करते हैं कि जो भी आत्म-तत्व के समान स्पष्ट और परिस्पष्ट होगा, उसकी सत्ता होगी। चूंकि ईश्वर का प्रत्यय आत्म-तत्व के समान ही स्पष्ट और परिस्पष्ट है। अत: इसकी सत्ता है। डेकार्ट आत्मा एवं ईश्वर दोनों की यथार्थ सत्ता मानते हैं परंतु जहां ईश्वर की सत्ता का ज्ञान निगमन से अर्थात् आत्मा के समान स्पष्ट एवं परिस्पष्ट होने पर निर्भर है, वहीं तत्वमीमांसीय दृष्टि से ईश्वर आत्मा से पूर्व है। निगमनात्मक तर्क को हम इस प्रकार से देख सकते हें-

– जो भी आत्मा के समान स्पष्ट एवं परिस्पष्ट है, उसकी सत्ता है।

– ईश्वर आत्मा के समान स्पष्ट एवं परिस्पष्ट है।

अत: ईश्वर की सत्ता है।

2. सत्तामूलक तर्क (Ontological Argument): ईश्वर विषयक विचार से ईश्वर की सिद्धि होती है। ईश्वर का संप्रत्यय पूर्णता का संप्रत्यय है। ईश्वर से अधिक पूर्ण किसी तत्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। यदि उसमें अस्तित्व निहित नहीं होता तो फिर उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता है। अत: पूर्ण ईश्वर के संप्रत्यय से ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि होती है। जिस प्रकार त्रिभुज के विचार में ही यह निहित होता है कि उसकी तीन भुजाएं हैं, उसी प्रकार पूर्ण एवं अनन्त ईश्वर के विचार से उसकी सत्ता भी सिद्ध हो जाती है।

3. कारणमूलक तर्क (Causal Argument): डेकार्ट का तर्क है कि मेरे मनस में ईश्वर का जन्मजात विचार है। इस विचार का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये। ईश्वर का विचार पूर्ण, असीम ईश्वर का विचार है। अत: उसका कारण भी कोई पूर्ण एवं असीम ही होना चाहिये। हम इस विचार के कारण नहीं हो सकते क्योंकि हम अपूर्ण एवं ससीम है। अत: पूर्ण एवं अनन्त ईश्वर विचार के कारण के रूप में स्वयं ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

4. विश्वमूलक तर्क (Cosmological Argument): डेकार्ट का सृष्टिमूलक तर्क भी कार्य-कारण के वैज्ञानिक नियम पर आधारित है। इसमें सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि की जाती है।

आलोचना (Criticism)

1. कांट के अनुसार सत्तामूलक युक्ति में अस्तित्व को एक गुण के रूप में लिया गया है जबकि अस्तित्व कोई गुण नहीं है। वस्तुत: अस्तित्व गुण से पहले होता है। यदि अस्तित्व को गुण मानने की भूल की गई तो फिर उस अस्तित्वरूपी गुण के आश्रय के रूप में किसी अन्य अस्तित्व की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार ऐसा मानने पर इस प्रमाण में अनावस्था दोष की स्थिति पैदा हो जाती है।

2. यदि प्रत्येक व्यक्ति के मन में ईश्वर का जन्मजात प्रत्यय है तो संसार में नास्तिकों का अस्तित्व किस प्रकार संभव है?

3. कार्य-कारण संबंध का आरोपण कालिक वस्तुओं पर हो सकता है। ईश्वर देश और काल से परे हैं। अत: उस पर कारण-कार्य संबंध लागू नहीं किये जा सकते।

4. डेकार्ट के अनुसार ईश्वर केवल निमित्त कारण है इससे ईश्वर की सत्ता सीमित होती है। सीमित ईश्वर तार्किक रूप से परम सत्ता के रूप में स्वीकार्य नहीं हो सकता है।

बाह्य जगत का अस्तित्व

एक और समस्या जो ध्यातव्य है वह है बाह्य जगत। हम देखते है कि विश्व में हमारे से अलग और भी अनेकों वस्तुएं विद्यमान है। किन्तु हम कैसे जान सकते है कि वास्तव में है? हममें सुख और दुख की, भूख और संवेदना की अनुभूति है, जिसे हम सहज बोध से बाह्य भौतिक जगत का परिणाम मानते है। लेकिन हमारी इन्द्रियां हमसे प्राय: छल करती रहती है और चूँकि हमारी इच्छाएँ एवं रूचीयाँ प्राय हमें दिग्भ्रमित करती रहती है इसलिए हम इन अनुभूतियों के होने मात्र से बाह्य जगत के अस्तित्व का प्रमाण नहीं ले सकते। फिर, यदि ईश्वर ने हममें बाह्य जगत की गहरी अभिशंसा प्रवृत्त की है जबकि ऐसा कोई जगत है ही नहीं तब वह ध ोखेबाज ईश्वर कहलाएगा। तथापि, हमारे मन में इंद्रिय-भ्रम, मतिभ्रम और स्वप्न का अस्तित्व आदि दैवी अच्छाई के अनुरूप है, क्योंकि ईश्वर ने हमें ऐसे भ्रम को दूर करने लिए बौद्धिक शक्ति दी है। इस प्रकार ईश्वर धोखेबाज नहीं है। वह एक सच्ची सत्ता है। अत: हमारे सभी इन्द्रिय अनुभव बाहय जगत की वस्तुओं के परिणाम होने चाहिए। अब ये बाह्य वस्तुएँ क्या है? वस्तुएँ हमारे चिन्तन से पृथक होती है। इनके अस्तित्व के लिए चिन्तन की आवश्यकता नहीं होती। देकार्त के अनुसार, वास्तव में केवल ईश्वर ही एक मात्र निरपेक्ष पदार्थ है। तथापि देकार्त अन्य दो सापेक्ष पदार्थ भी स्वीकार करते है; शरीर और मन। ये दोनो एक दूसरे से तो स्वतंत्र है परंतु ईश्वर पर निर्भर है। पदार्थ के मूल अन्तर्निहित लक्षण उसके गुण कहलाते है। यह वे गुण है जिनके बिना सम्भवत: पदार्थ का अस्तित्व नहीं हो सकता। एक गुण कई

'प्रकार' या ढ़ग से व्यक्त हो सकता है। पदार्थ और गुण बिना 'प्रकार' के हो सकते है परंतु इसका अनुलोम नहीं हो सकता है। अर्थात पदार्थ और गुण बिना 'प्रकार' के सोचे जा सकते है जबकि प्रकार को बिना पदार्थ और गुण के नहीं सोचा जा सकता। हम बिना विस्तार (गुण) के आकृति (प्रकार) के बारे में नहीं सोच सकते, न ही बिना विस्तारित देश के गति को हो सोच सकते और न ही बिना किसी चिन्तक के कल्पना या इच्छा को सोचा जा सकता है। द्रव्य अपने गुण नहीं परिवर्तित कर सकता है, परंतु 'प्रकार' परिवर्तित कर सकता है: भौतिक शरीर सदैव दैशिक ही होगा परन्तु इसका आकार आवश्यक नहीं की सदैव एक समान ही रहें।

तब बाह्य जगत/वस्तु का क्या स्वरूप है? जिसे हम स्पष्ट और परिस्पष्ट रूप से वस्तु में देखते है। वह इसके अनिवार्य गुण है। ध्वनि, रंग, गंध, स्वाद, उष्मा और शीत शरीर के गुण नहीं हैं। हम स्पष्ट एवं परिस्पष्ट रूप से इन्हें ग्रहण नहीं कर सकते, ये भ्रमात्मक है। हम जो अनुभव करते है वह वस्तुओं का सत् नहीं हैं। शरीर का गुण विस्तार है जबकि आकृति उसका 'प्रकार' है। बिना आकृति के भी हम वस्तु को सोच सकते है परंतु विस्तार के बिना नहीं। विस्तार तीन चीजों, लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई का समुच्चय है। प्रत्येक वस्तु एक सीमित परिणाम है।

बाह्य जगत की सभी प्रक्रियाएँ विस्तार का रूपान्तरण मात्र है। विस्तार के रूप में ग्रहित बाह्य वस्तुएँ निष्क्रिय है और स्वयं गतिमान नहीं हो सकती, इसलिए ईश्वर विश्त की गति का प्रथम कारण है। वही संचालक है। देकार्त मानते है कि ईश्वर ने विश्व को निश्चित परिमाण में गति दी है: गति नियत है। चूँकि ईश्वर अचल है अत: विश्व के सभी परिवर्तन कुछ नियत नियमो अथवा प्राकृतिक नियमों से बंधे होते है। प्रकृति के सभी नियम गति के नियम है। भौतिक पिंडो के मध्य अन्तरों को उसके अगों के मध्य स्थित विभिन्न संबंधों के आधार पर समझा जा सकता है। ठोस वे पदार्थ है जिनके खण्ड संगठित है और विराम अवस्था में है। द्रव वे पदार्थ है जिनके खण्ड गतिशील है।

क्रिया-प्रतिक्रियावाद/अंतक्रियावाद (Interactionism) (मन-शरीर द्वैतवाद)

अंतिम सत्ता या द्रव्य की संख्या एवं स्वरूप का विवचेना प्राचीनकाल से ही दार्शनिकों के मध्य विवेचन का एक मुख्य विषय रहा है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भी इसकी प्रमुखता दिखाई देती है। फ्रेंच बुद्धिवादी दार्शनिक डेकार्ट के अनुसार द्रव्य वह है जो स्वनिर्भर हैं, अर्थात् जिसकी सत्ता किसी अन्य पर निर्भर नहीं है। स्पष्ट है कि द्रव्य से डेकार्ट का तात्पर्य निरपेक्ष एवं स्वतंत्र सत्ता से है। इस अर्थ में केवल ईश्वर को ही द्रव्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। परंतु निरपेक्ष, स्वतंत्र द्रव्य के रूप में ईश्वर को स्वीकार करने के साथ साथ डेकार्ट गौण अर्थ में मन और शरीर को भी द्रव्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि मन और शरीर दोनों ईश्वर सापेक्ष द्रव्य हैं, ईश्वर पर निर्भर द्रव्य हैं, परंतु परस्पर भिन्न, परस्पर पृथक् एवं परस्पर स्वतंत्र है। डेकार्ट के मतानुसार मन का सारगुण चेतना है। विचार करना, सोचना, कल्पना करना, इचछा करना, आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। चूंकि ये गुण केवल मनुष्यों में है, इसीलिए केवल मनुष्य में आत्मा है, पशु, पक्षी, पौधों आदि में नहीं। वहीं शरीर का सार गुण विस्तार है। ये गुण भी परसपर भिन्न, पृथक एवं स्वतंत्र है। डेकार्ट के अनुसार मन सरल, अभौतिक, अप्रसारित, अविभाज्य, शाश्वत एवं गतिशील है जबकि शरीर भौतिक, स्थूल, अचेतन, विभाज्य, गतिहीन तथा देश-काल से सीमित है। मन और शरीर परस्पर स्वतंत्र हैं परंतु ईश्वर-सापेक्ष हैं।

यहां यह स्वभावत: प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब मन और शरीर दोनों ईश्वर सापेक्ष हैं, ईश्वर परतंत्र हैं तो फिर इन्हें द्रव्य की संज्ञा कैसे दी जा सकती है? यहां डेकार्ट का यह कहना है कि ईश्वर सापेक्ष होते हुए भी इन्हें द्रव्य इसलिए कहा जाता है कि अपनी सत्ता के लिए ये एक-दूसरे पर निर्भर नहीं है। इनमें पारस्परिक स्वतंत्रता है, इसीलिए ये द्रव्य हैं। ईश्वर परतंत्र होने से इनके द्रव्यत्व की हानि नहीं होती।

इस प्रकार डेकार्ट के दर्शन में मुख्यत: दो प्रकार के द्वैत दिखाई देते हैं - (1) निरपेक्ष द्रव्य और सापेक्ष द्रव्य का द्वैत। यहां ईश्वर निरपेक्ष द्रव्य है और मन एवं शरीर ईश्वर सापेक्ष द्रव्य हैं। (2) **मन और शरीर का द्वैत:** डेकार्ट के दर्शन में मन एवं शरीर को परस्पर भिन्न एवं स्वतंत्र द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है।

डेकार्ट के दर्शन में गुणात्मक द्वैत भी है। डेकार्ट के मतानुसार मन का सार गुण चेतना है, जबकि शरीर का सारगुण विस्तार है। ये दोनों गुण भी स्वतंत्र एवं परस्पर विरोधी हैं। चेतना में विस्तार नहीं है, पुन: जिसमें विस्तार है, उसमें चेतना नहीं होती है। चेतना विस्तारहीन होने के कारण अविभाज्य है। साथ ही यह सक्रिय भी है।

मन और शरीर के संबंध में उपरोक्त विशेषताओं को देखने पर यह प्रश्न स्वभावत: उत्पन्न होता है कि यदि दोनों परस्पर भिन्न, स्वतंत्र और विपरीत लक्षण वाले हैं, तो फिर इनके मध्य संबंध कैसे स्थापित होता है? मानव शरीर भौतिक पदार्थ है, साथ ही मानव में आत्मा या मन भी है। दैनिक जीवन में हमें मन और शरीर के मध्य संबंध का ज्ञान होता है। उदाहरण स्वरूप मन के दु:खी होने पर शरीर में शिथिलता आ जाती है और शरीर पर चोट से मन भी व्यथित हो जाता है। स्पष्ट है कि दोनों में संबंध होता है।

डेकार्ट मन-शरीर संबंध की व्याख्या हेतु क्रिया-प्रतिक्रियावाद (अन्त: क्रियावाद)/ अन्योन्यक्रियावाद (Interactionism) का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार मन और शरीर मस्तिष्क में शीर्ष पर स्थिति पीनियल ग्रंथि के माध्यम से एक दूसरे पर क्रिया एवं प्रतिक्रिया करते हैं। इस पीनियल ग्रंथि के कारण मन का प्रभाव शरीर पर और शरीर का प्रभाव मन पर पड़ता है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया का निम्न प्रकार से समझा जा सकता है।

इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं से संपर्क होने के पश्चात् इन्द्रियों की नसतंतु की जैविक शक्ति (Animal spirit) जागृत हो जाती है। जैविक शक्ति के जागृत होने का प्रभाव पीनियल ग्रंथि तक पहुंचता है। इस प्रकार संवेदनाएं उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में आत्मा शरीर पर पड़े प्रभावों को पीनियल ग्रंथि के माध्यम से संवेदनाओं के रूप में ग्रहण करती है। इसी प्रकार मन भी पीनियल ग्रंथि को प्रभावित करता है, जिस पर शरीर प्रतिक्रिया करता है। इस प्रकार मन और शरीर पीनियल ग्रंथि (Pineal Gland) के माध्यम से एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। शरीर की क्रिया मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है जिसके कारण आत्मा (मन) को संवेदनाओं की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार मन की क्रिया शरीर पर प्रतिक्रिया करती है, जिसके कारण उसके अनुकूल शारीरिक व्यवहार होने लगता है।

डेकार्ट मन और शरीर के संबंध की व्याख्या हेतु घोड़े एवं घुड़सवार की उपमा प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार यद्यपि घोड़े और घुड़सवार परस्पर भिन्न एवं स्वतंत्र होते हुए भी एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं, उसी प्रकार मन और शरीर भी परस्पर भिन्न एवं स्वतंत्र होते हुए एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं।

आगे चलकर डेकार्ट के अनुयायियों मेलेब्रांच एवं ग्यूलिंक्स ने मन तथा शरीर के मध्य संबंध स्थापित करने के लिये 'अवसरवाद' (Occasionalism) का सहारा लिया। इनके अनुसार मन और शरीर परस्पर विरोधी गुणों से युक्त है, अत: वे परस्पर अंतर्क्रिया नहीं कर सकते। इनके अनुसार ईश्वर ही मानसिक क्रियाओं एवं शारीरिक क्रियाओं के संबंध का सूत्रधार है। वही विभिन्न अवसरों पर मानसिक संकल्पों एवं इचछाओं के अनुसार शारीरिक व्यवहार उत्पन्न करता है तथा शारीरिक क्रियाओं के अनुसार मन को प्रेरित करता है।

आक्षेप (Criticism)

– यदि मन और शरीर एक दूसरे से स्वतंत्र एवं विरोधी लक्षण वाले हैं तो फिर इनके मध्य तर्कत: किसी भी प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रिया को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

– पुन: डेकार्ट द्वारा कल्पित पीनियल ग्रंथि की अवधारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि यह शारीरिक है तो मन को प्रभावित नहीं कर सकती और यदि मानसिक है तो शरीर को प्रभावित नहीं कर सकता।

– पुन: यदि इसे किसी स्थान विशेष में सीमित मान लिया जाय तो वह विकारों से युक्त हो जायेगी। ऐसी स्थिति में वह संबंधों को स्थापित नहीं कर पायेगी।

– मन और शरीर के मध्य अंत:क्रिया (Interaction) को समझने के संदर्भ में डेकार्ट द्वारा की गई घोड़े एवं घुड़सवार की उपमा संगत नहीं है। यहां घोड़े और घुड़सवार दोनों शरीरधारी जीव हैं, जबकि मन और शरीर में भिन्न भिन्न गुण हैं। मन चेतन हैं, शरीर अचेतन है। (उल्लेखनीय है कि डेकार्ट ने पशुओं में आत्मा नहीं मानी थी)

– डेकार्ट का द्वैतवाद वस्तुत: द्वैतवाद नहीं है। यदि मन और शरीर दोनों अपनी सत्ता के लिये ईश्वर पर आश्रित हैं तो फिर उन्हें द्रव्य की संज्ञा नही दी जा सकती। डेकार्ट द्वारा दी गई द्रव्य की परिभाषा को दृढ़ता से स्वीकार करने पर केवल एक ही द्रव्य अर्थात् ईश्वर की स्थिति उभरती है। आगे चलकर स्पिनोजा इसी निष्कर्ष पर पहुंचते है।

– गिलबर्ट राइल के अनुसार डेकार्ट के मन-शरीर संबंध में एक प्रकार से शरीर रूपी भौतिक ढांचे के भीतर आत्मतत्व प्रतिष्ठित किया गया है। इसीलिए राइल इसे 'मशीन में भूत का सिंद्धात' (Theory of Ghost in the Machine) कहते हैं। राइल के अनुसार यह सिद्धांत काल्पनिक असत्य एवं भ्रामक है। यहां मन संबंधी तथ्यों को एक ऐसी कोटि के साथ जोड़ा गया है जो उसके अनुरूप नहीं है। यहां कोटि दोष (Category mistake) है।

– साधारण भाषा दार्शनिक स्ट्रॉसन के अनुसार व्यक्ति की अवधारणा मन और शरीर का योग नहीं है, बल्कि एक आद्य अवधारणा (Primitive concept) है जिस पर मन और शरीर रूपी पक्षों का आरोपण किया जाता है। इनके अनुसार यदि डेकार्ट के मन शरीर अवध ारणा को स्वीकार किया जाए तो फिर-

– हमारी संपूर्ण अनुभूतियां वैयक्तिक हो जायेंगी, क्योंकि डेकार्ट ने मन की सत्ता को शरीर से पृथक और स्वतंत्र माना है। अनुभूतियों के वैयक्तिक एवं सीमित होने पर 'मैं दर्द में हूं' यह कोई अन्य व्यक्ति नहीं समझ सकता और उसे दर्द हो रहा है, इसे मैं नहीं जान सकता। हम दूसरों के दर्द आदि को उसके शारीरिक लक्षणों या गतिविधि के आधार पर जानते हैं। जबकि यहां यह कहा गया है दर्द (चेतन अनुभूति) का संबंध मन में है और मन की सत्ता शरीर से पृथक और स्वतंत्र है। चूंकि मन का सीधे-सीधे प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसी स्थिति में हम दूसरे की चेतन स्थितियों एवं अवस्थाओं को भी नहीं जान सकते। स्पष्ट है कि अन्य व्यक्तियों के लिये चेतन अवस्थाओं का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

– स्ट्रासन कहते हैं कि यदि अनुभूतियों का संबंध मन या चेतना से है तो समस्या आती है कि मैं अपने लिये चेतन अवस्थाओं का प्रयोग तभी कर सकता हूं जब मैं कम से कम सिद्धान्तत: अन्य व्यक्तियों के लिये भी इन अवस्थाओं का प्रयोग कर सकूं। भाषा के प्रयोग के लिये यह आवश्यक शर्त है कि अगर मैं किसी विशेषता का प्रयोग अपने लिये करूं तो मैं उस विशेषता का प्रयोग दूसरे के लिये भी कर सकूं। यदि किसी विधेय का प्रयोग मैं दूसरे के लिये नहीं कर सकता हूं तो उसे अपने लिये भी प्रयोग नहीं कर सकता हूं। दूसरे व्यक्तियों पर इन अवस्थाओं का प्रयोग या आरोपण तभी किया जा सकता है जब उनको पहचाना जा सके या अभिज्ञान (Indentification) किया जा सके। परंतु यदि चेतन शरीर से भिन्न है और यदि अन्य व्यक्ति अशरीरी आत्मा हैं तो उसका अभिज्ञान (पहचान) नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में उस पर इन विधेयों का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता।

– स्ट्रासन कहते हैं कि यदि अनुभूतियों का सबंध मन या चेतना से है तो समस्या आती है कि मैं अपने लिये चेतन अवस्थाओं का प्रयोग तभी कर सकता हूं जब मैं कम से कम सिद्धान्तत: अन्य व्यक्तियों के लिये भी इन अवस्थाओं का प्रयोग कर सकूं। भाषा के प्रयोग के लिये यह आवश्यक शर्त है कि अगर मैं किसी विशेषता का प्रयोग अपने लिये करूं तो मैं उस विशेषता का प्रयोग दूसरे के लिये भी कर सकूं। यदि किसी विधेय का प्रयोग मैं दूसरे के लिये नहीं कर सकता हूं तो उसे अपने लिये भी प्रयोग नहीं कर सकता हूं। दूसरे व्यक्तियों पर इन अवस्थाओं का प्रयोग या आरोपण तभी किया जा सकता है जब उनको पहचाना जा सके या अभिज्ञान (Identification) किया जा सके। परंतु यदि चेतन शरीर से भिन्न है और यदि अन्य व्यक्ति अशरीरी आत्मा हैं तो उसका अभिज्ञान (पहचान) नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में उस पर इन विधेयों का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता।

संवेगों का मनोविज्ञान

देकार्त के अनुसार आत्मा के भाग नहीं होते है। बल्कि यह एक एकक तत्व है जो स्वयं को विभिन्न प्रकार से व्यक्त करता है। एक ही आत्मा अनुभव भी करती है और तर्क और निर्णय भी। देकार्त आत्मा के सक्रिय एवं निष्क्रिय, जिसे वे क्रिया और एकात्मक वृत्तियाँ कहते है, चरणों में अंतर करते है। पहले चरण में इच्छित कर्म है और वे आत्मा पर निर्भर है मै ईश्वर से प्रेम करने के लिए, कथनों को स्वीकारने या नकारने के लिए, कल्पना करने के लिए, स्मरण करने के लिए, अपने शरीर को गतिशील करने के लिए स्वतन्त्र हूँ। दूसरे प्रकार के अंतर्गत संवेदनाएँ और उनकी नकल आती है। वे भूख, पीड़ा व अन्य शारीरिक अनुभूतियाँ है, इनका सम्बंध बाह्य जगत से है।

ऐच्छिक या सक्रिय अवस्थाएँ मात्र उन अवस्थाओं को छोड़कर जबकि स्वयं आत्मा उनका कारण हो पूर्णत: केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही आत्मा के नियंत्रण में होती है। तथापि, अन्य अवस्थाएँ अथवा अनुभूतियाँ भी होती है, जिनकी अनुभूति हमें स्वयं आत्मा में होती है। क्रोध, प्रसन्नता आदि आत्मा की ऐसी ही संवेदनाएँ है। ये नियंत्रित अर्थ में ही रागात्मक वृत्तियाँ है। आत्मा के अनुभव, संवेग अथवा मनोवेग विशेष रूप में इससे सम्बधित है और ये आत्मा की निश्चित गतिशील से उत्पन्न, समर्थित और दृढ़ता प्राप्त करते है। इन सभी आवेगो का उद्देश्य आत्मा को उन बातों की इच्छा कराना होता है जिसके लिए शरीर तैयार रहता है–भय भावना की इच्छा उत्पन्न करता है, साहस लड़ने के लिए तैयार करता है, आदि। आवेग आत्मा की तत्काल गति के कारण उत्पन्न होते है जो पिनियल ग्रंथि को प्रेरित करते है। किन्तु कभी–कभी

आवेग आत्मा की क्रिया से भी उत्पन्न होते है जो विषय को उसके निश्चित रूप में समझने की इच्छा उत्पन्न करते है और जिसके द्वारा हम परिस्थितिनुसार अपने भीतर साहस आदि की भावनाओं के जाग्रत करते है।

मूल प्रवृत्ति और इच्छा के बीच के द्वन्द्व को गतियों के बीच विरोध के रूप में व्याख्यायित किया गया है, जिसे शरीर अपने प्राण से, आत्मा अपनी इच्छा से पिनियल ग्रंथि में एक ही समय में जाग्रत करती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा की शक्ति एवं और दुर्बलताओं को इन द्वंद्वों पर नियंत्रण करके पहचान सकता है। परंतु ऐसी कोई आत्मा नहीं है जो अपने संवेगों पर यदि सही ढ़ंग से संचालित किया जाए तो नियंत्रण नहीं कर सकती। तथापि आत्मा की ऐसी शक्ति सत्य ज्ञान के बिना अपर्याप्त है।

देकार्त छः प्राथमिक संवेगों की बात करते है-आश्चर्य, प्रेम, घृणा, इच्छा, प्रसन्नता और दुख। अन्य सभी प्रकार की वृत्तियाँ इन्हीं के प्रकार है। ये सभी शरीर से संबंधित है और इन सभी का काम है आत्मा को सहमति हेतु तैयार करना तथा उन क्रियाओं को प्रेरित करना जो शरीर को परिरक्षित करती है अथवा शरीर को अधिक सबल एवं पूर्ण बनाती है। इस प्रक्रिया में प्रसन्नता और दुख सबसे पहले प्रयुक्त होते है। क्योंकि आत्मा हानिकारक अनुभूतियां से शीघ्र विमुख होती है, परिणाम स्वरूप दुखात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है, फिर पीड़ा के कारण घृणा पैदा होती है और अन्ततः पीड़ा से मुक्ति की इच्छा आती है।

हमारी अच्छाई और बुराई आत्मा द्वारा स्वयं जाग्रत संवेगों पर निर्भर करती है। जिस सीमा तक आत्मा के भीतर स्वयं को संतुष्ट करने हेतु कुछ होता है उस सीमा तक किसी भी बाहर से आने वाली विपत्ति मे इसे चोट पहुंचाने की शक्ति नहीं होती। स्वयं की आत्मा सन्तुष्टि के लिए सदगुणों का पालन आवश्यक है।

देकार्त इसे विस्तार से हमारे मानसिक जीवन में प्रयोग करने का प्रयास करते है, परंतु वे सभी मानसिक प्रक्रिया को इससे व्याख्यायित नहीं करते है। मनस् एक विशिष्ट तत्व है जिसमें समझ और इच्छा है। सभी 'अनुभूतियाँ', जिन्हें देकार्त संवेदना कहते है जैसे कि भूख, मानसिक संवेग आदि सब शुद्ध रूप से मानसिक है। ये कायिक क्रियाओं से उद्भुत नहीं होती है। इच्छा भौतिक अवस्था से स्वतंत्र है और अपने अनुसार परिस्थितियाँ निर्मित करती है। इच्छा स्वतंत्र है और आत्मा के नैतिक आदर्श इसे बाह्य प्रभाव से मुक्त रखते है।

अंतरजात/सहजात प्रत्ययों का सिद्धांत

देकार्त तीन प्रकार के प्रत्ययों की बात करते है-निर्मित, आकस्मिक और अंतरजात। निर्मित प्रत्यय मन की उपज है। मन उन्हें नियंत्रित और परिवर्तित कर सकता है। किसी बाह्य संवेदना से उद्भूत विचार आकस्मिक विचार है। परंतु ये निर्मित विचारों की तरह नियंत्रित और परिवर्तित नहीं हो सकते। जैसे कोई यदि आग के पास बैठा हो तो उसे तपिस अनुभव करना ही पड़ेगा। उष्मा को नकारा नहीं जा सकता है। न ही हम अपनी इच्छा से उसका स्वभाव बदल सकते है। अंततः अंतरजात प्रत्यय ईश्वर द्वारा सृष्टि निर्माण के समय ही मन में स्थापित कर दिए जाते है। इन प्रत्ययों का इच्छानुसार परीक्षण किया जा सकता है, भुलाया जा सकता है। परंतु उनकी अन्तर्वस्तु परिवर्तित नहीं की जा सकती। ज्यामिति के प्रत्यय अंतरजात प्रत्ययों के उदाहरण है। उदाहरण के लिए, त्रिभुज के प्रत्यय का इच्छानुसार परीक्षण किया जा सकता और भुलाया जा सकता है, परंतु ऐसा नहीं हो सकता कि इसे परिवर्तित कर दें और इसमें तीन

भुजाओं का लक्षण समाप्त हो जाये। अंतरजात प्रत्यय के अन्य उदाहरण तत्वमीमांसीय सिद्धांत है। जैसे कि 'जो किया जा चुका है उसे नष्ट नहीं किया जा सकता', मन का प्रत्यय, और ईश्वर का प्रत्यय आदि।

देकार्त का लक्ष्य स्पष्ट और निश्चित ज्ञान तक पहुँचना था, जैसे किसी वस्तु न होना असंभव है जैसा कि हमने उसे ग्रहण किया है। ऐसे अनिवार्य ज्ञान हम उसे ग्रहण किया है। ऐसे अनिवार्य ज्ञान हम गणित में और यदि हम सम्यक विधि अपनाएं तो दर्शन में भी पाते है। निश्चितता सत्य का एक गुण है जिसे स्पष्ट एवं परिस्पष्ट ढ़ग से ग्रहण किया जाता है। निश्चित ज्ञान इन्द्रियों से नहीं प्राप्त किया जा सकता क्योंकि इंद्रियां वस्तु का वास्तविक सत् रूप उजागर नहीं कर सकती है। रंग, ध्वनि, स्वाद, गंध वस्तु से संबंधित नहीं होते। इंद्रिय बोधक गुणों से स्वतंत्र वास्तविक वस्तु को हम केवल स्पष्ट और परिस्पष्ट चिन्तन से ही जान सकते हैं। यदि हम अनुभव के द्वारा सत्य ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, यदि सत्य ज्ञान कुछ आधारभूत प्रत्ययों और सिद्धांतों के द्वारा किए गए तर्को का परिणाम है तो इसे मन में अन्तर्निहित होना चाहिए अर्थात ये अंतरजात होने चाहिए या फिर प्रागनुभविक। मन का अपना मानक होता है, जो सत्य ज्ञान को निर्देशित करता है। ज्ञान का सिद्धांत अनुभव के द्वारा स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। मन जैसे-जैसे चिंतन का अभ्यास करता है ज्ञान स्पष्ट होता जाता है। तथापि यह आरंभ से ही मन में होता है। देकार्त की मुख्य मान्यता यह है कि बुद्धि के अपने प्राकृतिक मानदंड होते है किन्तु ये कैसे होते है, उन्हें स्पष्ट पता नहीं था। अंतर्जात ज्ञान से उनका तात्पर्य कभी-कभी मन में आए हुए प्रत्यय अथवा सत्य सिद्धांत, जो आत्मा के अन्दर होते है, तथा कभी-कभी आत्मा के द्वारा मानव अनुभव द्वारा ऐसे ज्ञानोत्पादन की क्षमता होना प्रतीत होता है।

क्रमबद्धता का महत्त्व

क्रमबद्धता या सम्बद्धता (System) का महत्व: इसमें सन्देह नहीं कि देकार्त का दर्शन क्रमबद्ध है। सबसे पहले संशय-विधि के आधार पर उन्होंने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध कर इससे ज्ञान-कसौटी निकाली। फिर ज्ञान-कसौटी निकाली। फिर ज्ञान-कसौटी के आधार पर ईश्वर और उसकी सत्यनिष्ठा का सिद्धांत स्थापित किया, और अन्त में बाह्य जगत् की सत्ता को ईश्वर की सत्यनिष्ठा से स्पष्ट किया है। अब दर्शन को ईश्वर-केन्द्रित बनाने की परिपाटी में स्पिनोजा, लाइबनित्स तथा बर्कले ने देकार्त का अनुसरण किया है। कुछ वर्तमान-कालिक विचारकों मे, जिनमें हाइटेड, बर्गसाँ तथा अलेक्जेण्डर का नाम लिया जा सकता है, यह परिपाटी लुप्त नहीं हुई है।

पर समसामयिक दृष्टिकोण से रसेल प्रभृति तार्किक, अनुभववादी तथा विश्लेषणवादी का कहना है कि दर्शन में क्रमबद्धता आनी ही नही चाहिए। इसके अनुसार दर्शन का काम ज्ञान-प्रसार या ज्ञानप्राप्ति का प्रयत्न करना नहीं है, क्योंकि ज्ञान-वृद्धि केवल विज्ञानों ही के द्व ारा हो सकती है। दर्शन का इतना ही काम है कि यह ज्ञान की परिशुद्धता (clarification) मे योगदान दे। चूँकि ज्ञान-परिशुद्धता तर्कशास्त्र के नियमों से ही प्राप्त होती है, इसलिए ये विचारक तत्व-मीमांसा को हटाकर दर्शन को अन्दर से खोखला नहीं किया जा सकता है। अब तार्किक अनुभववाद तथा विश्लेषणवाद में जो भी सत्यता हो, कम-से-कम देकार्त क्रमबद्ध विचारक थे और इस क्षेत्र में भी देकार्त ने इन लोगों का मार्गदर्शन किया है।

क्या डेकार्ट द्वैतवादी हैं?

डेकार्ट को द्वैतवादी कहा जाता है। चेतन और अचेतन, मन और शरीर, भौतिक एवं आध्यात्मिक, निरपेक्ष एवं सापेक्ष, स्वतंत्र एवं परतंत्र का विरोध ही द्वैतवाद का आधार है। डेकार्ट का यह द्वैतवाद निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर स्पष्ट होता है–

1. डेकार्ट मन और शरीर, चेतन और भौतिक पदार्थ को दो प्रकार के परस्पर भिन्न एवं परस्पर स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं। इस द्रव्यों के गुण भी परस्पर भिन्न हैं। शरीर का विशेष लक्षण विस्तार है जबकि मन का विशेष लक्षण विचार है। डेकार्ट इनके मध्य संबंध की व्याख्या हेतु क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं, परंतु वे इसमें सफल नहीं हो पाते। उनके दर्शन में जड़ और चेतन का द्वैत है।

2. डेकार्ट के दर्शन में द्रव्य की दो कोटियां हैं- (i) निरपेक्ष द्रव्य (Absolute Substance), (ii) सापेक्ष द्रव्य (Relative Substance)। डेकार्ट के अनुसार निरपेक्ष द्रव्य एकमात्र ईश्वर है, जबकि जड़ और चेतन दो सापेक्ष द्रव्य हैं। ये परस्पर सापेक्ष न होकर ईश्वर सापेक्ष हैं। इस रूप में भी यहां द्वैतवाद की स्थिति दिखलाई देती है। यहां निरपेक्ष एवं सापेक्ष का द्वैत है।

3. डेकार्ट के अनुसार गुणों में भी द्वैत है। उनके अनुसार दो प्रकार के गुण हैं- (i) मूल गुण, (ii) उपगुण। आकृति, विस्तार आदि मूल गुण है, जबकि रूप, रस आदि उपगुण हैं। लॉक के दर्शन में भी यह गुणात्मक द्वैत विद्यमान है।

4. डेकार्ट की ज्ञानमीमांसा में भी द्वैतवाद है क्योंकि ज्ञान में एक ओर तो बाह्य वस्तुएं हैं तो दूसरी ओर मानसिक प्रत्यय हैं।

5. सामान्य भाषा में मन और शरीर दो सर्वथा भिन्न तत्वों के परिचायक हैं। उदाहरणस्वरूप-हम प्रेम, आशा, विचार आदि के विषय में बात करते समय विस्तार या विभाजन या परिमाणसूचक शब्दों का प्रयोग नहीं करते। जैसे- हम यह नहीं कहते कि इतने गज प्रेम, इतना इंच विचार आदि। दूसरी तरफ पत्थर, तारे, भौतिक वस्तु आदि के बारे में प्रेम, आशा आदि शब्दों का प्रयोग नहीं करते, क्योंकि वे अचेतन हैं। इनका प्रयोग चेतन प्राणियों के लिए किया जाता है। स्पष्ट है कि हमारी सामान्य भाषा भी मन और शरीर को परस्पर भिन्न तत्वों के रूप में स्वीकार करती है।

तुलना

1. भारतीय दार्शनिक परंपरा में सांख्य एवं मध्वाचार्य भी द्वैतवाद के समर्थक हैं। सांख्य दर्शन में जहां चेतन-पुरूष एवं अचेतन-प्रकृति का द्वैत है, वहीं मध्वाचार्य के दर्शन में स्वतंत्र तत्व (ईश्वर) एवं परतंत्र तत्व (चित्त एवं अचित्त) का द्वैत है।

महत्व

1. डेकार्ट ने मध्ययुगीन आस्थापरक ज्ञानमीमांसा का विरोध किया।

2. उन्होंने दर्शन को धर्म की दासता से मुक्त करने का प्रयास किया। उन्होंने दर्शन को धर्मशास्त्र के प्रभाव से स्वतंत्र कराने का प्रयास किया।

3. दर्शन के क्षेत्र में विचार स्वातंत्र्य की स्थापना की। धर्मग्रंथ एवं धर्मगुरू के स्थान पर बौद्धिक आधार पर सत्य के निरुपण का प्रयास किया।

4. बुद्धि के आधार पर सत्य के अनुशीलन करने का प्रयास किया।

5. अंधविश्वास एवं धर्मग्रंथों के आधार पर नहीं, बल्कि तर्क के आधार पर तत्वमीमांसीय सत्ताओं का प्रतिपादन करने का प्रयास किया।

6. असंदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति हेतु व्यवस्थित, तार्किक संदेह की बात की। व्यवस्थित संदेह वैज्ञानिक मनोवृत्ति का एक महत्वपूर्ण लक्षण माना जाता है।

7. डेकार्ट ने समस्याओं को सरल रूप में बांटकर समस्याओं के समाधान की पद्धति प्रदान की। यह पद्धति आधुनिक कंप्यूटर प्रणाली में भी प्रयुक्त होती है।

8. डेकार्ट की संदेह-विधि का प्रभाव हुस्सर्ल की फेनोमेनोलॉजी पर भी पड़ा है। वे भी निश्चित और असंदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रयास करते हैं, परंतु वे संदेह-विधि के स्थान पर 'ईपोखे' और 'रिडक्शन' की प्रक्रिया अपनाते हैं। डेकार्ट जहां अपनी संशय विधि के क्रियान्वयन के क्रम में जगत पर संदेह करते हैं, वहीं हुस्सर्ल अपनी प्रणाली में जगत का कोष्ठीकरण करते हैं। पुनः जहां डेकार्ट अपनी विधि के आधार पर तत्वमीमांसीय स्ाओं (आत्मा आदि) का प्रतिपादन करते हें, वहीं हुस्सर्ल का मुख्य उद्देश्य तत्वमीमांसीय सत्ताओं का प्रतिपादन करना नहीं है।

9. डेकार्ट की दार्शनिक प्रणाली में संशय एवं निश्चय, विश्लेषण एवं संश्लेषण, प्रतिभान एवं निगमन का अपूर्व संयोग पाया जाता है। उनकी दार्शनिक प्रणाली के ये अवयव आधुनिक दर्श्यान में विशेष महत्व एवं प्रभाव रखते हैं।

इन्हीं कारणों से डेकार्ट को आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का जनक कहा जाता है।

सारांश

जीन एल मर्सियर के अनुसार "आधुनिक दर्शनशास्त्र के जनक" के रूप में देकार्त की पहचान उनके मैं सोचता हूँ संप्रत्यय के कारण है। प्रत्येक चिन्तन चिंतक से ही प्रारंभ होना चाहिए, चेतन विषयी के रूप में अपने स्वयं के अस्तित्व से ही प्रारम्भ होना चाहिए।

निसंदेह सत्य के अन्वेषण में देकार्त ने ज्ञान के सिद्धांत के स्थान पर पद्धति की खोज पर अधिक बल दिया। उनकी रुचि ज्ञानमीमांसीय समस्याओं पर विस्तार से चर्चा करने की अपेक्षा सत्य की विधि को खोज निकालने में अधिक थी। इसके लिए उन्होंने गणित और प्रागनुभविक प्रत्ययों का सहारा लिया। देकार्त दृढ़ता से मानते थे कि निश्चित ज्ञान को प्राप्त करने में बुद्धि पर्याप्त रूप से सक्षम है। यद्यपि उन्होंने संशयवाद को पढ़ा और अपनाया किन्तु वे बाह्य विश्व के अस्तित्व को मानते थे, जिसके वास्तविक स्वरूप को बौद्धिक चिंतन द्वारा समझा जा सकता है। परमेनाइड्स की तरह देकार्त ने बुद्धि को अनुभव के पहले रखा। यहाँ तक कि अनुभव के स्थान पर उन्होंने बुद्धि को चुना, जैसा कि उसके मानवशास्त्रीय द्वैत से स्पष्ट होता है।

प्रमुख शब्द

निगमन : कथनों से तार्किक रूप से निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया।

आगमन : आधुनिक वैज्ञानिक या आनुभविक तर्क पद्धति।

अनुमान : कथनों से निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया।

अंतर्जात : जन्मजात, अनुभव के स्थान पर मन से उत्पन्न होने वाले प्रत्यय।

प्रज्ञा : एक परोक्ष या त्वरित ज्ञान।

संशयवाद : ज्ञान की संभावना में संशय की प्रवृत्ति।

प्रागनुभविक : अनुभव से पूर्व अर्थात् इन्द्रियों से स्वतंत्र।

अभ्यास प्रश्न

1. देकार्त का सामान्य परिचय दीजिए।
2. देकार्त आधुनिक दर्शन के पिता कहे जाते है। क्यों?
3. देकार्त की विधि और निश्चित ज्ञान का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।" देकार्त के कथन की समीक्षा कीजिए।
5. ईश्वर के अस्तित्व के बारे में देकार्त के क्या विचार थे और उनके इस विचार की किस प्रकार आलोचना की गई?
6. देकार्त के क्रिया प्रतिक्रियावाद अर्थात् मन-शरीर संबंध को परिभाषित कीजिए।
7. देकार्त को द्वैतवादी कहा जाता है। उनके द्वैतवाद का अपने शब्दों में वर्णन कीजिए।
8. आधुनिक दर्शन में देकार्त का क्या महत्व है?
9. देकार्त का दर्शन आधुनिक समाज को कैसे प्रभावित कर सकता है?

इकाई–5 स्पिनोजा (Spinoza)

इकाई की रूपरेखा:

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. द्रव्य, गुण और पर्याय
4. मन–शरीर संबंध
5. नियतत्ववाद और स्वातंत्र्य
6. बंधन और मुक्ति
7. सर्वेश्वरवाद और सामांतरवाद
8. कल्पना और इन्द्रियानुभूति
9. पर्याप्त और अपर्याप्त प्रत्यय
10. ज्ञान और राजनिति
11. आलोचना
13. महत्त्व
17. स्पिनोजा और देकार्त
18. शंकर और स्पिनोजा
19. सारांश
20. प्रमुख–शब्द
21. अभ्यास प्रश्न

उद्देश्य

बरूच (बेनेडिक्टस) स्पिनोजा सतरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के पूर्व आधुनिक काल के उत्तर–देकार्तीय दर्शनिकों में सबसे महत्वपूर्ण और निश्चित ही सबसे मौलिक दार्शनिक है। उनका चिंतन देकार्तीय तत्पमीमांसा और ज्ञानमीमांसा के सिद्धांतों के साथ यहूदी बुद्धिवाद, मैकियावेली, हाब्स, देकार्त स्टोइकवाद व उसके समकालीन विभिन्न धार्मिक चिंतकों का समन्वय करता है। इस इकाई में छात्र उनके विचारों को निम्न सन्दर्भों में समझ सकते हैं–

- ईश्वर
- जगत्
- मानव
- ज्ञान
- नैतिक दर्शन
- राजनीतिक दर्शन

प्रस्तावना

मैरेनो दम्पत्ति ने 1632 ई. में स्पिनोजा को जन्म दिया। वे पुर्तगाल से एम्स्टर्ड को आव्रजित हुए जिससे कि साइबेरियन द्वीप में जो जाँच चल रही थी उससे बच सकें और हालैण्ड के अनुकूल वातावरण में रहें। स्पिनोजा के पिता माइकेल एक सफल व्यापारी और समाज के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। ज्यों ही स्पिनोजा छः साल के हुए उनकी माँ हन्ना, जो माइकेल की अन्य तीन पत्नियों में से दूसरीं थीं, की 1638 ई. में मृत्यु हो गयी। एक बालक के रूप में उनके पुर्तगाली साथी उसे बेन्टो के नाम से जानते थे। वह तलमूद तोरा स्कूल का एक कुशाग्र शिष्य था। स्पिनोजा ने ज्यों-ज्यों अध्ययन में प्रगति की, उनका जीवन एक धर्मगुरु की ओर बढ़ने लगा। किन्तु सत्रह वर्ष की आयु में, उन्होंने अपने अध्ययन से हटते हुए अपने पिता के व्यापार में सहयोग करना शुरू किया एवं धीरे-धीरे अपने भाई गाब्रियल के साथ मिलकर उसे अपने ऊपर ले लिया। 27 जुलाई 1656 में स्पिनोजा को अम्सटर्डस के शेफरडिक समुदाय द्वारा अपने अब तक के सबसे कठिन आदेश द्वारा समुदाय से बाहर कर दिया गया। 1961 में स्पिनोजा ने लीडेन नामक स्थान पर अपना आवास बनाया। रिन्सबर्ग में स्पिनोजा ने ट्रिटाइज ऑन द इन्टेलैक्ट (Treatise on the Emendational the Intellelct)] एन एससे ऑन फिलॉसोफिकल मेथडस (An Eassay on Philosophical Methods) और सार्ट ट्रिटाइज ऑन गॉड, मेन एण्ड हिज वैल बीइंग (Short Treatise on God, Man and His Well-Being) पर कार्य करते हुए अपने तत्वमीमांसक, ज्ञानमीमांसात्मक और नीतिशास्त्र सम्बंधित विचारों को स्थिर करने का प्रारम्भिक प्रयास किया। देकार्त के प्रंसिपल ऑफ फिलॉसोफी (Principles of Philosophu) पर उनकी आलोचनात्मक समीक्षा, जो उनकी एकमात्र ऐसी रचना है जो उनके पूरे जीवन काल में उनके अपने नाम से प्रकाशित हुई, 1663 में पूर्ण हुई। इसी समय में वे अपनी दार्शनिक कृति, जिसे बाद में एथिक्स कहा गया, पर भी काम कर रहे थे। जब उन्होंने प्रतिक्रियावादी तत्वों को हालैण्ड में सहिष्णुता के मूल्यों का अवमूल्यन करते देखा, तो उन्होंने अपने अध्ययन को रोककर विवादास्पद पुस्तक *थियोलोजिकल-पालिटिकल ट्रिटाइज* (Theological-Political Treatise) पर कार्य किया, जिसके 1670 में प्रकाशन ने सबको सचेत कर दिया। स्पिनोजा हेग में 1667 में मृत्यु के समय भी अपने *पालिटिकल ट्रिटाइज* (Political Treatise) पर कार्यरत थे, जिसे उसके मित्रों द्वारा अन्य अप्रकाशित रचनाओं के साथ शीघ्र ही प्रकाशित करा दिया गया, जिसमें *कामपेनडियम टु हिब्रु ग्रामर* (Compendium to Hebrew Grammar) भी सम्मिलित था। स्पिनोजा 1667 में हेग के एक किराए के कमरे में शांतिपूर्वक दिवंगत हो गये।

– स्पिनोजा ईश्वर को भी एक गणितज्ञ मानते हैं जिसने गणित के सिंद्धतों के आधार पर ही, गणित के ग्रंथ के समान सृष्टि की रचना की है।

– हीगल का कथन है- दार्शनिक होने के लिये सर्वप्रथम स्पिनोजा का शिष्य होना पड़ेगा।

– स्पिनोजा के द्रव्य की तुलना समुद्र से की जाती है जिसमें संसार की सभी वस्तुएं लहरों के समान विलीन हो जाती हैं।

– स्पिनोजा के अनुसार जगत प्रयोजनविहीन है। प्रयोजन का होना अभाव या कमी का द्योतक है जो ईश्वर की पूर्णता के विरूद्ध है।

द्रव्य (Substance) = ईश्वर = प्रकृति

बुद्धिवादी दार्शनिक स्पिनोजा विश्व की सम्यक् रूपेण व्याख्या करने के लिए अपने दर्शन का आरंभ द्रव्य की विवेचना से करते हैं। अपने ग्रंथ -ईथिका' में वे द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि -"द्रव्य वह है जो अपने आप में है और जो अपने द्वारा ही समझा जाता है।" द्रव्य की इस परिभाषा से द्रव्य की निम्नलिखित विशेषताएं उभरकर सामने आती है-

– तत्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से द्रव्य किसी पर निर्भर नहीं है। उल्लेखनीय है कि डेकार्ट ने ईश्वर के ज्ञान को आत्मा के ज्ञान पर निर्भर माना था।

– द्रव्य स्वयंभू है अर्थात् द्रव्य का कोई कारण नहीं है। द्रव्य अपना कारण स्वयं है। लैटिन भाषा में इसे 'causa-sui' कहा जाता है।

– द्रव्य निरपेक्ष है।

– द्रव्य एक एवं अद्वितीय है। उल्लेखनीय है कि डेकार्ट ने द्रव्यों को द्वैत माना था। स्पिनोजा के अनुसार यदि एक से अधिक द्रव्य को माना गया तो फिर वे एक दसूरे को सीमित कर देंगे और उनमें पारस्परिक निर्भरता का भाव उत्पन्न हो जायेगा। अत: द्रव्य को स्वतंत्र होने के लिए उसका एक एवं अद्वितीय होना आवश्यक है। यहां एक का आशय संख्यागत एक से न होकर एकत्व (unity) से है।

– द्रव्य पूर्ण है। पूर्ण होने के कारण द्रव्य नित्य एवं शाश्वत भी है।

– द्रव्य अपरिमित है, अर्थात् वह किसी अन्य से सीमित नहीं है। वह अनादि एवं अनन्त है।

– द्रव्य स्वतंत्र है। यहां स्वतंत्रता का आशय स्वच्छन्दता नहीं है। यहां स्वतंत्रता का आशय आतम-निर्धारण से है। स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य ही ईश्वर है और वह अपने स्वरूप के अनुसार कार्य करता है। वह किसी बाह्य सत्ता द्वारा निर्धारित नहीं है। स्पष्ट है कि यहां स्वतंत्रता का आशय बाह्य नियंत्रण न होकर आत्मा निर्धारण है। ईश्वर अपने तार्किक स्वरूप के अनुसार ही कार्य करता है।

– द्रव्य निर्गुण एवं निराकार है। यहां निर्गुण का आशय गुणों के अभाव से नहीं है। द्रव्य में अनन्त गुण हैं और वे असीमित मात्रा में हैं। हम ऐसे किसी भी गुण की कल्पना नहीं कर सकते। मनुष्य केवल सीमित गुणों की ही भावना कर सकता है जो अनेक वस्तुओं पर लागू होता है। द्रव्य में ऐसे सीमित गुणों का अभाव है। इसी संदर्भ में यहां द्रव्य को निर्गुण कहा गया है। स्पिनोजा के अनुसार प्रत्येक गुण निषेधाात्मक होता है। द्रव्य पर ऐसे किसी गुण का आरोपण करने पर द्रव्य अनेक गुणों से रहित हो जायेगा। यही कारण है कि स्पिनोजा द्रव्य पर किसी गुण के आरोपण की बात को स्वीकार नहीं करते। इस संदर्भ में उनका स्पष्ट कथन है कि 'प्रत्येक निर्धारण निषेध है' (Every determination is Negation)। यहां निर्गुण का आशय यह भी है कि वह निराकार है। साकार होने पर वह सीमित हो जायेगा। भारतीय दर्शन में शंकराचार्य ने भी परब्रह्म को निर्गुण एवं निराकार कहा है।

यहां स्पिनोजा निर्गुण, निराकार तत्व को शून्यता एवं कल्पना से बचाने के लिए उसे ईश्वर की संज्ञा देते हैं। यह ईश्वर की एकमात्र स्वतंत्र एवं निरपेक्ष द्रव्य है। इससे पृथक, बाह्य किसी वस्तु या पदार्थ की कोई सत्ता नहीं है। वस्तुत: स्विनोजा का प्रमुख उद्देश्य केवल तत्व

की विवेचना करना या तथ्यात्मक विवेचना करना नहीं है बल्कि उनका परम लक्ष्य आध्यात्मिक परम सत्ता का अनुसंधान करना है। यही कारण है कि स्पिनोजा अपनी श्रेष्ठ रचना जिसमें तत्वों की विवेचना की गई है, उसका नाम 'सत्ताशास्त्र' (ontology) न रखकर 'इथिका' (Ethica) रखते हैं। ईश्वर पर ही विश्व की सभी वस्तुएं आश्रित है। जिस प्रकार वर्ग, त्रिभुज आदि का आधार स्थान (space) है, उसी प्रकार विश्व की समस्त वस्तुओं का मूलाधार ईश्वर है। ईश्वर की विश्व में सर्वव्याप्त है। स्विनोजा का कथन है कि 'ईश्वर ही विश्व है और विश्व ही ईश्वर है।' इसे ही सर्वेश्वरवाद कहा जाता है। आशय है कि ईश्वर और विश्व में अभेद या तादात्म्य (Identity) संबंध है। उल्लेखनीय है कि डेकार्ट ने 'जड़' और 'चेतन' को भी द्रव्य माना था। स्पिनोजा इन्हें द्रव्यों की श्रेणी से हटाकर ईश्वर के असंख्य गुणों में से दो गुणों के रूप मे स्थपित करते हैं। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर एवं जगत के मध्य तादात्म्य, अभेद, तार्किक, अनिवार्य, स्वाभाविक, अकालिक संबंध है। ईश्वर जगत का तार्किक कारण है, जगत ईश्वर का तार्किक परिणाम है। तार्किक कारण में दोनों साथ साथ रहते हैं। न तो कोई कालिक दृष्टिकोण से आगे होता है और न पीछे। दोनों एक-दूसरे से पृथक नहीं होते, अर्थात् उनमें अभेद होता है।

विभिन्न धर्म जहां यह मानते हैं कि ईश्वर ने जगत को प्रयोजनस्वरूप बनाया है, वहीं स्पिनोजा के अनुसार जगत में कोई प्रयोजन नहीं है। यहां नियतिवाद को माना गया है। विश्व की प्रत्येक वस्तु ईश्वर के स्वभाव से तर्कत: निर्धारित है। उल्लेखनीय है कि भारतीय दार्शनिक परंपरा में वेदांत दर्शन में- 'जगत को ईश्वर की लीला कहा गया है।'

स्पिनोजा के अनुसार प्रकृति ईश्वर से तर्कत: एवं अनिवार्यत: निगमित होती है। यह ईश्वरीय स्वभाव की अनिवार्य अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार 'त्रिभुज' से तीन भुजाओं का होना स्वभावत: अनिवार्यत: निगमित होता है। उसी प्रकार ईश्वर से विश्व भी स्वभावत: निगमित होता है। स्पिनोजा का जगत संबंधी यह विचार प्लोटिनस के 'निष्क्रमण सिद्धांत' (Emanation Theory) से भिन्न है, क्योंकि ईश्वर से भिन्न, पृथक, किसी बाह्य तत्व की सत्ता नहीं है। ऐसी स्थिति में ईश्वर से विश्व का निष्क्रमण संभव नहीं है। ईश्वर असीम एवं सर्वव्यापक सत्ता है।

यहां स्पिनोजा द्रव्य को शून्यता या अबोधगम्यता से बचाने के लिये उसे ईश्वर की संज्ञा देते हैं। उपरोक्त प्रकार के लक्षणों से युक्त द्रव्य ईश्वर ही हो सकता है। इसीलिए स्पिनोजा अपने द्रव्य को ईश्वर की संज्ञा देते है। द्रव्य ही ईश्वर है। ईश्वर ही एकमात्र द्रव्य है। यहां ईश्वर की सर्वेश्वरवादी अवधारणा है जिसके अनुसार ईश्वर ही विश्व है और विश्व ही ईश्वर है।

ईश्वर का ज्ञान

सिपनोजा अपने ग्रंथ 'इथिका' में ईश्वर के ज्ञान के संदर्भ में अंत:प्रज्ञा (Intuition) को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ज्ञान के तीन प्रकार है-

1. इन्द्रियों द्वारा प्राप्त कल्पनात्मक ज्ञान (Imaginative Knowledge) : यह सबसे निम्न स्तर का ज्ञान है। यह इन्द्रिय अनुभवजन्य ज्ञान है। इस स्तर पर ईश्वर के विश्व रूप ((natura-naturata) का ज्ञान होता है। इससे भेद का ज्ञान होता है।

2. बौद्धिक ज्ञान (Intellectual Knowledge): यह तर्कबुद्धि पर आधारित है। इससे ईश्वर के विश्वात्म रूप (natura-naturans) का ज्ञान होता है।

3. अंत: प्रज्ञात्मक ज्ञान (Intuitive Knowledge): यह सर्वोच्च ज्ञान है। इसमें अभेद का ज्ञान प्राप्त होता है।

गुण (Attributes)

स्पिनोजा 'गुण' को परिभाषित करते हुए कहते हैं, 'गुण वे धर्म है जिन्हें बुद्धि द्रव्य का सार समझती हैं।' (Attribute is that which the intellect apprehends as constituting the esence of substance)

यहां विवाद है कि-क्या गुण वास्तव में द्रव्य में हैं अथवा केवल हमारी बुद्धि द्वारा इस पर आरोपित है?

स्पिनोजा द्वारा दी गई गुण की परिभाषा की दो प्रकार से व्याख्या की गई :

1. *प्रत्ययवादी व्याख्या (Idealist):* इसके समर्थक हीगल, केयर्ड, अर्डमान आदि हैं। ये विचारक स्पिनोजा द्वारा दी गई गुण की परिभाषा के 'बुद्धि समझती है' शब्दों पर जोर देकर आगे बढ़ते हैं। इनके अनुसार ईश्वर निर्गुण एवं निराकार है। अत: उसमें गुणों को मानना कठिनाईपूर्ण है। इनके अनुसार गुण द्रव्य के वास्तविक गुण न होकर बुद्धि द्वारा आरोपित गुण हैं।

2. *वस्तुवादी व्याख्या (Realist):* इसके समर्थक कुनो फिशर एवं फ्रैंक थिली आदि हैं। इनके अनुसार गुण द्रव्य के वास्तविक सार हैं। गुण वस्तुत: ईश्वर के स्वरूप हैं, उसके वास्तविक एवं तात्विक धर्म हैं। इनके अनुसार यदि गुणों को आत्मनिष्ठ माना जाए तो ऐसी स्थिति में द्रव्य की स्वतंत्रता एवं पूर्णता पर प्रहार होता है।

यह वस्तुवादी व्याख्या अपेक्षाकृत अधिक संगत है।

हेनरी पोलक के अनुसार गुण द्रव्य के पक्ष (Aspect) हैं। द्रव्य के अनेक पक्ष हैं और प्रत्येक पक्ष में उसकी पूर्णता अभिव्यक्त होती है। यद्यपि द्रव्य के अनेक पक्ष हैं परंतु मानव बुद्धि उनमें से केवल दो को ही ग्रहण कर पाती है। वे दो पहलू हैं- (1) चैतन्य (Thought), (2) विस्तार (Extension)

यद्यपि चैतन्य और विस्तार परस्पर भिन्न हैं परंतु वे परस्पर विरोधी नहीं है। वे एक ही द्रव्य के दो समानान्तर गुण है और इसी कारण उनमें संगतता भी पाई जाती है। जहां विस्तार होगा वहां तदनुरूप चैतन्य भी होगा और जहां चैतन्य होगा वहां विस्तार भी होगा। जगत की प्रत्येक वस्तु जड़ की दृष्टि से विस्तारवान है और विचार की दृष्टि से चैतन्यपूर्ण। ये दोनों एक ही द्रव्य के दो अवियोज्य पक्ष है। दोनों का उद्‌गम स्थल एक है। एक ही उद्‌गम से निकलने के कारण ये दोनों धाराएं बिना किसी विरोधय के समानान्तर रूप से प्रवाहित हो रही हैं। स्पिनोजा का यह सिद्धांत समानान्तरवाद (Parallelism) कहलाता है। यह समानान्तरवाद मन और शरीर संबंध की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत करता है।

प्रकार/पर्याय (Modes) का सिद्धांत

विश्व की विशिष्ट वस्तुओं को प्रकार कहा जा सकता है। परन्तु विशिष्ट वस्तुएं सीमित हैं और ईश्वर अथवा परम द्रव्य असीमित है। अत:, प्रश्न उठता है कि असीमित ईश्वर से सीमित विशिष्ट वस्तओं की व्याख्या किस प्रकार हो सकती है? अत: हमें स्पिनोजा के प्रकार-सिद्धांत की व्याख्या करनी चाहिए।

द्रव्य या ईश्वर के रूपान्तर (affections or modifications) को प्रकार कहा जा सकता है, या प्रकार वह है जो अन्य वस्तुओं से हो अथवा अन्य वस्तुओं के द्वारा सोचा जा सके।*

अब प्रकार की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसका सम्बन्ध द्रव्य से उसी रीति से है जिस रीति से तरंगो का सम्बंध समुद्र से है। बिना तरंगो के समुद्र हो सकता है, परन्तु बिना समुद्र के तरंगें सम्भव नहीं हो सकती है। यदि तरंगों की क्षणभंगुरता पर हम ध्यान दें वे सभी 'प्रकार' क्षणिक हैं और उनका अस्तित्व कोई स्थान नहीं रखता है। परन्तु तरंगे भी समुद्र का अंग हैं और इसलिए उनमें भी वास्तविकता है, चाहे उनकी वास्तविकता कुछ ही क्षणों की क्यों न हों। प्रकार के प्रति ये दोनों मत हो सकते है। हम यदि विश्व की सभी विशिष्ट वस्तुओं को क्षणिक 'प्रकार' मान ले तो विश्व भ्रम हो जाता है और यदि प्रकारों को द्रव्य का ही अंश मान लें तो विश्व को अपनी वास्तविकता संरक्षित रह जाती है। हमें प्रकार के प्रसंग में विश्व के प्रति किसी निर्णय को अपनाना है और इसलिए इसकी अन्य बातों पर भी हमें ध्यान देना है।

प्रकार दो तरह के हैं अर्थात् सीमित (finite) और असीमित (infinite) प्रकार। ऐसा मालूम देता है कि स्पिनोजा की तत्व-मीमांसा में सोपान-क्रम (hierarchy) है। सबसे पहले द्रव्य और उसके बाद गुण का स्थान आता है। तब असीमित प्रकार का और अन्त में सीमित प्रकार का स्थान आता है। असीमित प्रकार वह है, जो द्रव्य के गुणों का अनिवार्य रूपान्तर हो या गुण के अनिवार्य रूपान्तर का रूपान्तरित रूप हो।* अत:, विचार का असीमित प्रकार असीमित बुद्धि (intellect) है तथा विस्तार का असीमित प्रकार गति-विश्राम (motion and rest) है। इसलिए असीमित प्रकार से शायद स्पिनोजा का अर्थ है कि सभी विशिष्ट तथा सीमित प्रकारों का सामान्य धर्म है। जैसे हम कहते है कि विशिष्ट मानव आज है और कल नहीं, परन्तु मानव शाश्वत है; ठीक उसी रीति से विश्व की विशिष्ट वस्तुएं क्षणिक हैं, परन्तु विश्व स्वयं शाश्वत है। इस अर्थ में असीमित बुद्धि वह शुद्ध चेतना है, जिसमें सभी विशिष्ट मानव-विचार पाये जाते है। अब मानव-विचार में विकार या परिवर्तन रहता है, परन्तु असीमित रूप में शुद्ध चेतना में कोई विकार नहीं आता है। इस अर्थ में स्पिनोजीय शुद्ध चेतना वेदान्त के बह्म-चित्, काण्ट की 'संप्रत्यक्ष की संश्लिष्ट एकता' (Synthietic unity of apperccption) तथा अलेक्जैण्डर के असीमित ईश्वर के प्रत्यय में प्रतिध्वनित हो सकती है। फिर विस्तार के असीम प्रकार को गति-विश्राम कहा गया है, अर्थात् बाह्य भौतिक जगत् यद्यपि क्षणिक वस्तुओं का धाम है, तथापि यह सभी वस्तुओं वस्तुओं के सामान्य धर्म के रूप में या उसके योगफल के रूप में शाश्वत है। यदि हम विशिष्ट वस्तुओं को लें तो इसकी तह में अणु हैं और अणुओं की तह में केवल वह असीम विस्तार का रूप है, जिसे गति-विश्राम कहा जा सकता है। अत: विस्तार को स्पिनोजा ने वैसा निष्क्रिय नहीं समझा है जैसा देकार्त ने समझा था; क्योंकि देकार्त के अनुसार भौतिक जगत् में गति ईश्वर की बाह्य देन है। अब स्पिनोजा के 'गति-विश्राम' का अर्थ यान्त्रिक नियमों से लगाया गया है। अत:, स्पिनोजा के अनुसार भौतिक जगत् का शाश्वत रूप इसके यान्त्रिक नियम हैं, परन्तु ये वस्तुऐं जिनमें यह लागू होता है वे केवल सीमित प्रकार है जिनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। फिर चूँकि गति-विश्राम या यान्त्रिक नियमों की सत्ता असीम प्रकार की सत्ता है, बल्कि असीम द्रव्य की, इसलिए यान्त्रिक नियम बिना काल को सत्य माने सम्भव नहीं हो सकते है। अत: स्पिनोजा के अनुसार काल की सत्यता इसी भौतिक जगत् के लिए है परन्तु परम द्रव्य में उसकी सत्यता सम्भव नहीं है। इसलिए विस्तार के असीम प्रकार के सिद्धांत में यान्त्रिक भौतिकवाद तथा वेदान्त की व्यावहारिक सत्ता की झलक आ जाती है; क्योंकि वेदान्तय व्यावहारिक जगत् में भी काल को सत्य माना जाता है।

स्पिनोजा का शून्यावाद: हम लोगों ने देखा है कि स्पिनोजा के अनुसार असीमित तथा सीमित प्रकारों के दो वर्ग है। सीमित प्रकार के अन्तर्गत विश्व की विशिष्ट वस्तुऐं आती है।

इनके विषय में स्पिनोजा का कहना है कि इनकी सत्ता नहीं है। पर फिर कहा है कि यदि इन्हें शाश्वत दृष्टिकोण से देखा जाय तो इनके अन्दर भी सत् है। अत: यदि वस्तुओं को कालिक या सामुयिक (temporal) समझा जाय तो ये केवल सीमित प्रकार हैं और इनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है, और यदि कोई अकालिक तथा शाश्वत रूप में देखा जायगा तो इनमें सत् है। यदि हम इस मत को लें तो वास्तव में वस्तुओं की यथार्थता इनकी कालिकता पर निर्भर करती है और इसलिए जब विशिष्ट वस्तुओं के कालिक रूप को असत्य ठहराया जाता है तो वास्तव में वस्तुओं का तिरोभाव होता है और स्पिनोजा का दर्शन शून्यवाद हो जाता है। पर हमें देखना है कि सीमित प्रकार कैसे शाश्वत रूप में होकर समझा जा सकता है।

स्पिनोजा बराबर ज्यामितिक उपमा को काम में लातें है। जैसे, यदि हम एक आलेख-पत्र (graph) ले लें, तो इसके अन्दर के छोटे-छोटे वर्ग सीमित प्रकार कहे जा सकते हैं। परन्तु प्रत्येक छोटा वर्ग, जैसे 'क' इसलिए 'क' अपने चारों ओर के आठ अन्य वर्गों से घिरा है, फिर इन आठ वर्गो में से सबको लिया जाय तो वे भी इसीलिए वर्ग हैं कि अन्य वर्गों से घिरे हैं और इस रीति से वर्गो का वर्गपन श्रृंङ्खलाओं में आबद्ध है। इसलिए स्पिनोजा का कहना है कि विशिष्ट वस्तुपन ईश्वर से नहीं, परन्तु वस्तुओं की श्रृङ्खला से आबद्ध है और वस्तुओं की इस दृष्टिकोण से उनमें सत्ता नहीं है। परन्तु फिर भी उन वर्गो की आधारभूति में आलेख का दिक् है और जितने भर उतने भर उनमें वह सत् का रूप है, जो दिक् में है। यदि सभी वर्गो के घेरे को हटा दिया जाय तो वर्ग विलीन हो जायेंगे और उनकी शुद्ध सत्ता 'देश' शेष रह जायगी। अत:, यदि वस्तुओं का नामरूप तथा अन्य धर्म हटा दिये जायें तो उनका शुद्ध सत् देखा जाय तो वे शाश्वत् सत् में विलीन हो जाती है। अत: सीमित प्रकार या विशिष्ट वस्तुओं को हम जिस रीति से समझें उनकीं वास्तविकता नष्ट हो जाती है। यदि विशिष्ट वस्तुएं विशिष्ट रूप में हो तो उनकी विशिष्टता या सभी धर्म लुप्त हो जाते हैं और वस्तुओं का वस्तुपन ही नष्ट हो जाता है। अत: पारमार्थिक दृष्टिकोण में वस्तुएं तिरोहित हो जाती हैं और उनकी जगह पर शुद्ध सत् रह जाता, जो शून्य के बराबर ही समझा जा सकता है। यदि कोई चीज लें और कहें कि इसमें न कोई रंग, रूप, नाम, आकार इत्यादि हैं तो यह नहीं के बराबर कही जायगी।

पर, यहाँ पर आपत्ति की जा सकती है कि असीमित प्रकार की वास्ततिकता मानी गई है और इसलिए स्पिनोजा का दर्शन शून्यवादी नहीं है। पर असीमित प्रकार, चाहे वह शुद्ध चेतना की हो या गति-विश्राम की हो, अवास्तविक है। ऐसी शुद्ध चेतना, जिससे सभी विचारों, कल्पनाओं तथा भावनाओं का सामान्य धर्म ही तात्विक सत्यता हो सकती है, पर मनावैज्ञानिक सत्यता नहीं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किसी भी चेतना में विशिष्ट विचार, चाहे वह टेबुल का हो या घर का हो या शरीर को हो इत्यादि, अवश्य होगा। शुद्ध चेतना को तात्विक सत्ता के अतिरिक्त वास्तविक मानने को दोष हेगेल तथा हेगेलवादियों का है। उसी रीति से गतिविश्राम को विश्व का आधार यान्त्रिक नियम समझा गया है। परन्तु यदि वस्तुऐं या घटनाऐं जिनमें यह लागू हो सकता है सत्य नहीं है, तो ये नियम भी असत्य हो जाते है। फिर ये यान्त्रिक नियम तभी सत्य हैं जब काल की सत्यता मान ली जाय। परन्तु स्पिनोजा के अनुसार परम द्रव्य या ईश्वर अकालिक तथा अनादि है और इसलिए ये नियम भी पारमार्थिक दृष्टिकोण से असत्य है। अत:, असीम प्रकार भी अन्त में तिरोहित हो जाता है। परन्तु जिसे हम जगत् कहते है, वह या तो असीम या असीमित प्रकार है। और यदि यह सत् नहीं हो तो सम्पूर्ण जगत् मिथ्या हो जाता है। इसलिए स्पिनाजाबाद को शून्यवाद कहा गया है।

मन-शरीर संबंध

स्पिनोजा की तत्वमीमांसा उनके मन के सिद्धांत के लिए आधार भूमि तैयार करती है और कुछ महत्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न करती है। सर्वाधिक स्पष्ट रूप से उनका एक तत्ववाद उन्हें देकार्त की तरह द्वैतवाद को मानने से रोकता है। द्वैतवाद में मन और शरीर दो पृथक एवं विशिष्ट पदार्थ माने जाते हैं। फिर, उनकी यह मान्यता कि विभिन्न-भिन्न गुणों के अन्तर्गत आने वाले पर्यायों में आपसी कारणात्मक अन्त: क्रिया नहीं होती परंतु वे कारणिक रूप से एक दूसरे के समान्तर होते हैं, उन्हें मन और शरीर के बीच अन्त:क्रिया को मानने से रोकती है। द्वैतवाद और अन्त:क्रिया का निषेध करते समय वे मानसिक सत्यता को गंभीरता से लेते हैं, इसलिए मन पर स्पिनोजा के विचार सामान्यत: देकार्त के विचारों की तुलना में अधिक स्वीकार्य हैं।

शरीर के प्रत्यय-स्वरूप मन

स्पिनोजा के मन के विवरण को समझने लिए हमें इस बात से आरम्भ करना होगा कि विस्तार के प्रत्येक सीमित पर्याय के समानान्तर विचार का एक सीमित पर्याय होता है जो इसके अनुरूप होता है और जिससे यह वास्तव में पृथक नहीं होता है। विस्तार पूर्वक इसे निम्नवत समझा जा सकता है :

1. प्रत्येक सामान्य शरीर हेतु उसके संगत एक समान प्रत्यय होता है, जो उसके अनुरूप होता है और जिससे वह वास्तव में पृथक नहीं होता है और

2. प्रत्येक संश्लिष्ट शरीर हेतु उसके संगत एक संश्लिष्ट प्रत्यय होता है, जो उसके अनुरूप होता है और जिससे यह वास्तव में पृथक नहीं हैं। संश्लिष्ट प्रत्यय का प्रत्येक संगत पर्याय प्रत्येक संगत शरीर प्रत्ययों से पृथक नहीं हैं। स्पिनोजा प्रत्येक संश्लिष्ट या सरल प्रत्ययों को मन के रूप में मानते हैं। इस संबंध में वे मानव मन को अद्‌भुत नहीं मानते हैं। यह सामान्यत: मानव शरीर के संगत प्रत्यय है।

इस दृष्टिकोण का यह तात्पर्य नहीं है कि स्पिनोजा के अनुसार सभी मन एक समान हैं। क्योंकि चिंतन की दृष्टि से मन शरीर की अभिव्यक्ति है, कुछ के पास ऐसी योग्यताएं होती हैं जो अन्य के पास नहीं होती। स्वयं शरीर पर कार्य करने की और शरीर द्वारा कार्य करने की क्षमता जितनी ही अधिक होगी मन की अनुभूति करने की क्षमता उतनी ही अधिक होगी। स्पिनोजा स्पष्ट करते हैं :

दूसरे शरीर की तुलना में कोई शरीर जितना ही अधिक कार्य करने में सक्षम होगा उतना ही उसके अनुरूप मन भी कई चीजों को एक साथ करने में सक्षम होगा। किसी शरीर की क्रिया जिस अनुपात में स्वयं पर निर्भर करती है अन्य शरीर क्रियात्मकता में उससे कम होते हैं। अत: उसका मन भी विशिष्ट रूप से समझने में अधिक सक्षम होता है। इन्हीं तथ्यों के प्रकाश में हम एक मन की उत्कृष्टता दूसरे की तुलना में समझ पाते हैं। मानव मन शरीर की जटिल संरचना अनेक छोट-छोटे सरल शरीरों से निर्मित होती है। यह अन्य शरीर की तुलना में असंख्य ढ़ंगों से क्रिया करने में सक्षम होता है। मानव मन शरीर के विचार की अभिव्यक्ति है और शरीर की अत्यन्त जटिल संरचना को दर्शाती है और इस प्रकार किसी भी मानवेतर मन से अधिक क्षमतावान होती है। केवल वही मन मानव मन के स्तर की अनुभूतिक क्षमता का अधिकारी हो सकता है जो मानव शरीर की जटिलता से मेल रखता है।

नियतत्ववाद एवं स्वातंत्र्य (Determinism and Freedom)

स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर ही एकमात्र द्रव्य है और प्रकृति के साथ इसका तादात्म्य संबंध है। ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं है। इनके संबंध में सिपनोजा नियतिवादी है। परंतु उनका यह नियतिवाद बाह्य नियतिवाद (External determinism) न होकर आंतरिक नियतिवाद है। ईश्वर में बाह्य नियतिवाद नहीं हो सकता क्योंकि

1. इससे ईश्वर में परतंत्रता का भाव उत्पन्न हो जाएगा।

2. ईश्वर से बाहर किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है।

स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर के कार्यों में आतंरिक नियतिवाद है, क्योंकि वह स्वयं संचालित नियमों के द्वारा ही शासित होता है। ईश्वर वही करता है जो उसके आंतरिक स्वभाव के अनुकूल है और इस रूप में ईश्वर स्वतंत्र है। यदि स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छंदता अर्थात् कुछ भी कार्य करने की छूट मानी जाए तो फिर वैसी स्थिति में ईश्वर को स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ईश्वर भी अपने आतंरिक नियमों से बंधा है। इस प्रकार यहां आंतरिक अनिवार्यता स्वतंत्रता को इंगित करती है। इस रूप में स्पिनोजा -आत्म-नियतिवाद' (Self-Determinism) के समर्थक हैं।

स्पिनोजा के नियतिवाद के अनुसार विश्व की सभी घटनाएं और प्रत्येक वस्तु पहले से ही नियत है। जो कुछ भी विश्व में हो रहा है वह अवश्यम्भावी है। किसी सांसारिक घटना का क्रम बदला नहीं जा सकता। जैसे त्रिभुज की परिभाषा से ही यह सिद्ध हो जाता है कि उसके तीनों कोणों का योग दो समकोण होता है। उसी प्रकार ईश्वर या द्रव्य से प्रत्येक वस्तु या घटना की उत्पत्ति स्वभावत: अनिवार्य रूप से होती है। स्पिनोजा के अनुसार प्रकृति में कहीं कोई आकस्मिकता नहीं है। ईश्वरीय प्रकृति की अनिवार्यता से सभी वस्तुएं अपने अस्तित्व और क्रिया में नियत है।

स्पिनोजा के अनुसार स्वच्छंदता के संदर्भ में स्वतंत्रता न तो ईश्वर में है और न ही मानव में। ईश्वर में स्वतंत्रता नहीं है क्योंकि वह अपने स्वभाव से विवश है। ईश्वर वर्तमान जगत के अतिरिक्त कोई अन्य दूसरा जगत उत्पन्न नहीं कर सकता। उसके अंदर दूसरे या अन्य प्रकारक जगत् को उत्पन्न करने की शक्ति या स्वतंत्रता नहीं है। वह केवल वर्तमान जगत् को ही उत्पन्न कर सकता है क्योंकि यही उसके स्वभाव से अनिवार्यत: सिद्ध होता है। अत: जिस ढंग से और जिस क्रम से वस्तुएं उत्पन्न हुई है उससे भिन्न ढंग और क्रम से वे पैदा नहीं हो सकती।

मनुष्य में भी इच्छा स्वातंत्र्य नहीं है। उसके कर्म पूर्व नियत हैं। हमें जो कुछ भी सुख या दु:ख प्राप्त होते हैं वह भाग्य के अधीन है। हम इसमें परिवर्तन नहीं कर सकते। अत: नियति की स्वीकृति ही हमारा कर्त्तव्य है। इच्छा स्वतंत्रता तो भ्रम (Free will is an illusion) है।

स्पिनोजा के अनुसार- उसी दशा में किसी क्रिया को स्वतंत्र कहा जा सकता है जो किसी वस्तु के अपने स्वरूप से संचालित हो। यदि मानव व्यवहार आत्म-तत्वस्वरूप से संचालित हो तो उसे स्वतंत्र व्यवहार कहा जा सकता है। अत: आत्म-नियंत्रित व्यवहार को स्वतंत्र व्यवहार कहा जा सकता है।

स्पिनोजा के अनुसार- मानव का सार गुण उसकी बुद्धि में है। अत: स्पिनोजा के अनुसार-कोई भी व्यति तभी स्वतंत्र कहा जात सकता है जब वह अपनी कल्पना, भावना या

संवेग या बाह्य कारणों से संचालित न होकर बुद्धि से कार्य करता है। अपने ही स्वरूप तथा नियमों में अपने को नियत करना परतंत्रता नहीं, स्वतंत्रता है। इसी बुद्धि से स्पष्ट एवं परिस्पष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है। अत: बौद्धिक कार्य ही स्वतंत्र कार्य है। बौद्धिक जीवन ही स्वतंत्र जीवन है। इसी बौद्धि जीवन को ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम (Intellectual love of God) कहा जाता है। इसे बौद्धिक प्रेम इसलिये कहा जाता है, क्योंकि यह संवेगात्मक न होकर ज्ञानात्मक होता है। बौद्धिक प्रेम यह बताता है कि सभी घटनाएं एकात्मक सत्ता ईश्वर से संचालित है। इसीलिए जो व्यक्ति वस्तुओं या घटनाओं को ईश्वरीय समझकर उनके अनुसार स्पष्ट एवं परिस्पष्ट भावना से काम करता है वही स्वतंत्र तथा मुक्त व्यक्ति है।

यह हमें सहिष्णु बनाता है। हम सुख-दु:ख को नियत एवं अवश्याम्भावी मानकर शांतिपूर्वक सहते हैं।

बौद्धिक प्रेम की आलोचना

1. बौद्धिक प्रेम की अवधारणा आत्मविरोधी है। प्रेम एक भावना है और बुद्धि के अभाव में ही हो सकता है। यदि उस भावना को बौद्धिक बना दिया जाए तो वह प्रेम नहीं रह जायेगा, और यदि भावना रूप रहे तो बौद्धिक नहीं हो सकता।

2. मनुष्य में बुद्धि एवं संकल्प दोनों आवश्यक है। इनमें से एक का नाश नहीं किया जा सकता। अत: स्पिनोजा का यह विचार कि मनुष्य को पूर्णतया बौद्धिक होना चाहिए, अव्यावहारिक तथा आंशिक है।

3. इसमें मनुष्य के इच्छा-स्वातंत्र का कोई स्थान नहीं है। अब यदि कर्ता स्वतंत्र नहीं है तो फिर उत्तरदायित्व की व्याख्या नहीं हो पाती। उत्तरदायी नहीं मानने पर कर्मों की नैतिकता की व्याख्या नहीं हो पाती। अत: नैतिकता की व्याख्या करने के लिए इच्छा-स्वतंत्रता का होना आवश्यक है।

बंधन और मुक्ति (Bondage and Freedom)

स्पिनोजा के अनुसार भावना, संवेग, कल्पना, वासना आदि के वशीभूत होकर कर्म करना ही बंधन है। यह बंधन भाव-संवेगों को रोकने में मनुष्य की असमर्थता को इंगित करता है। बंधन पराधीनता की स्थिति है जिसमें मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार नियत कर्म नहीं कर पाता है। मानव जीवन का लक्ष्य इस बंधन से मुक्ति पाना है। स्पिनोजा के अनुसार जब मनुष्य बौद्धिक चिन्तन एवं प्रातिभ ज्ञान (Intutive Knowledge) के अनुरूप जीवन व्यतीत करता है तब स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त होता है।

स्पिनोजा के अनुसार सभी वस्तुओं में अपने स्वरूप में बने रहने की एक शक्ति होती है। वस्तुओं के इस स्वरूप शक्ति को स्पिनोजा ने स्वरक्षण-प्रवृत्ति कहा है। जीवों के अंदर इस स्वरक्षण प्रवृत्ति को प्राण-शक्ति कहा जा सकता है। अत: मानव में भी प्राण शक्ति है जिसके कारण मानव अपनी जीवित स्थिति में कायम रहता है। यह प्राणशक्ति या तो बाह्य कारणों से या आतंरिक स्वरूप के कारण नियंत्रित होती है। यदि प्राणशक्ति आंतरिक स्वरूप से नियंत्रित हो तो इसे स्वतंत्र क्रिया कहते हैं। परंतु यदि प्राणशक्ति बाह्य कारणों से नियंत्रित हो तो इसे भाव-संवेग कहते हैं। कामना, सुख और दु:ख मौलिक संवेग है और इन्हीं के सम्मिश्रण से अन्य संवेग होते हैं। चूंकि भाव-संवेग, वासना आदि बाह्य कारणों से होते हैं जिन पर जीवों का कोई अधिकार नहीं रहता है। इसलिए इन्हें जीवों का बंधन कहा गया है।

स्पिनोजा की तत्वमीमांसा का अपरिहार्य परिणाम नियतिवाद है। स्विनोजा न तो ईश्वर में और न ही मानव में इच्छा स्वातंत्र्य स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सारी घटनाएं नियति-नियमों से संचालित हैं। ऐसी स्थिति में उसी क्रिया को स्वतंत्र कहा जा सकता है जो किसी वस्तु के अपने स्वरूप से ही संचालित होती है। यदि मानव व्यवहार भी आत्म-स्फुरित भावना से ही संचालित हो तो वह स्वतंत्र व्यवहार है। आत्म-स्फुरित भावना वह है जो मानवीय आत्मसत्ता के तत्व से निर्देशित और निर्धारित हो और उसी भावना को आत्मसत्ता के तत्व से निर्धारित होना समझा जाएगा जो स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो। स्पष्ट और परिस्पष्ट भावना बुद्धि से ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए बौद्धिक जीवन ही स्वतंत्र जीवन है। बौद्धिक जीवन का परिपाक ईश्वर के प्रति 'बौद्धिक प्रेम' में होता है।

स्पिनोजा के दर्शन में ईश्वर प्रेम का एक विशेष अर्थ है। स्पिनोजा का ईश्वर प्रेम संवेगात्मक नहीं बल्कि ज्ञानात्मक है। इसलिए इसे उन्होंने 'बौद्धिक प्रेम' कहा है। फिर, स्पिनोजा ने कहा है कि साक्षात् अनुभूति से ही प्रेम हो सकता है। सच्चे आत्म-प्रेम और ईश्वर प्रेम में कोई भेद नहीं है क्योंकि ईश्वर ही हमारी सच्ची आत्मा है। ईश्वर प्रेम का मार्मिक लक्षण है कि जो व्यक्ति ईश्वर से प्रेम करता है वह नहीं चाहता कि ईश्वर भी बदले में उससे प्रेम करे। उसके हृदय में लेन-देन की भावना नहीं होती। यह ऐसा प्रेम है जिसमें अपनापन या अहंभाव ही मिट जाता है। ईश्वर का 'बौद्धिक-प्रेम' द्वैतनाशक और ऐक्य संस्थापक है।

स्पिनोजा ने संकल्प के बजाय बुद्धि को महत्व दिया है। उनका कहना है कि नियतिवाद न तो दैवीय और न ही मानवीय नियमों की अवहेलना करता है। भाव-संवेग की जकड़न से मुक्ति इच्छा स्वातंत्र्य से नहीं बल्कि ज्ञान से होती है।

सिपनोजा के अनुसार हमारी बुद्धि में कुछ ऐसी शक्तियां हैं जिनसे हमारा नैतिक जीवन सरल हो जाता है और आध्यात्मिक जीवन का मार्ग प्रशस्त होता है। एक तो ज्यों ही हम किसी संवेगों को स्पष्ट रूप से समझ लेते हैं, त्यों ही वह अवलोपित हो जाता है। दूसरे जब हम नियतिवाद का स्मरण करते हैं तब भी मन की बैचेनी कम हो जाती है और मानसिक शांति मिलती है। अंततः ईश्वर से 'बौद्धिक-प्रेम' की अनुभूति होने पर भाव-संवेगों का क्षरण हो जाता है।

सर्वेश्वरवाद (Pantheism)

स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद (Pantheism) : अब देखा जाय तो सीमित प्रकार या विशिष्ट वस्तुऐं असीमित प्रकार में विलीन हो जाती है और अन्त में असीमित प्रकार द्रव्य या ईश्वर की सत्ता में अन्तर्निहित हो जाते है। इसलिए ईश्वर की ही शुद्ध सत्ता रह जाती है। अतः स्पिनोजा के दर्शन में ईश्वर को छोड़कर सभी मिथ्या हो जाता है। इसी से हेगेल ने स्पिनोजा की आलोचना करते हुए कहा था कि स्पिनोजीय ईश्वर सिंह की वह माँद है जिसमें सभी वस्तुऐं तिरोहित हो जाती हैं और उससे कोई भी वस्तु यथार्थ रूप में होकर नहीं निकलती नज़र आती है।* चूँकि स्पिनोजा के अनुसार सभी वस्तुओं में केवल एक ईश्वर ही की सत्ता सत्य है इसलिए उन्हें सर्वेश्वरवादी कहा गया है। अब सर्वेश्वरवादी को दर्शन तथा ईश्वर-मीमांसा (theology) के दो दृष्टिकोण से देखा जाता है। जब यह कहा जाता है कि विश्व और मानव की सभी अनुभूतियों का एक मूल तत्व है, जिसे ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है तो इस सर्वेश्वरवाद को अद्वैतवाद (monism) कहा जाता है। अब फिर इस ईश्वर को मानव-पूजा का

एकमात्र लक्ष्य समझा जाता है तो यह धार्मिक सिद्धांत हो जाता है। अब स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद को हम जिस दृष्टिकोण से समझें, यह असन्तोषजनक ठहरता है।

अब दर्शन का मुख्य उद्देश्य है कि सभी मानव-अनुभुतियों को श्रृङ्खलाबाद तथा क्रमबद्ध करके एक सूत्र में बाँध दिया जाय। चूँकि स्पिनोजा ने सभी अनुभूतियों को एक ही ईश्वर की सत्ता से स्पष्ट करने की कोशिश की है, इसलिए कहा जा सकता है कि एकता का दार्शनिक उद्देश्य स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद में प्राप्त हो जाता है। परन्तु एकता शून्यवाद की भी हो सकती है और एकता अनेक वस्तुओं की सामंजस्यपूर्ण क्रमबद्धता से भी हो सकती है। शून्यात्मक एकता वह है, जिसमें विशिष्ट वस्तुओं का लोप या तिरोभाव हो जाता है। इसलिए इसे झूठी या मिथ्यापूर्ण एकता कहा जाता है। चूँकि स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद में उस एकात्मक सत्ता की स्थापना की गई है, जिससे विशिष्ट वस्तुओं की सत्यता तिरोहित हो जाती है, इसलिए इसे असन्तोषजनक शून्यात्मक एकता कहा जा सकता है। इसी बात को दूसरे शब्द में कहा गया है कि स्पिनोजा में सम्पूर्ण एकता न होकर केवल मिथ्या एकता है। इसमें लम्बरूपी (vertical) एकता है, पर क्षैतिज (horizontal) एकता नहीं है। हम लोगों ने देखा है कि स्पिनोजा के दर्शन में सीमित एवं असीमित प्रकार के पश्चात् द्रव्य की सत्ता है और इसे हम सूचीस्तंभीय या पिरैमिडी (Pyramid) रूप में दिखा सकते है। अब व्यावहारिक जीवन की वस्तुएं आधार में या क्षितिज की दिशा में है और जैसे-जैसे हम ऊर्ध्वगामी होते हैं वैसे-वैसे व्यावहारिक वस्तुओं की क्षीणता हो जाती है और द्रव्य तक पहुँचकर ये तिरोहित हो जाती है, इसलिए हसमें क्षैतिज या व्यावहारिक विशिष्ट वस्तुओं की अवहेलना की गई है। अत: स्पिनोजा का विचार-पक्षी धरती की गन्दगी तथा हवा के झोंको से बचने के लिए सुदूर व्योम में विचरना चाहता है जहाँ की हवा क्षीण तथा निर्मल है, पर जहाँ उसका दम भी घुटने लगता है। इस उत्तुङ्ग व्योम की निर्मलता से क्या लाभ जब दम ही घुटने लगे?

फिर स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद को धर्म-विज्ञान के दृष्टिकोण से भी सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है। यह ठीक है कि ईश्वर और मानव पुजारी में आंशिक तादात्मय (identity) रहना चाहिए; क्योंकि यदि ईश्वर, पुजारी के सोच-विचार तथा आकांक्षाओं से एकदम परे हो तो पुजारी के क्रन्दन को ईश्वर समझ न पायेगा और ईश्वर-बन्दना निरर्थक हो जायेगी। इसलिए ईश्वर पूर्णतया विश्वव्यापी (immanent) हो जाय तो भी वन्दना का स्थान नहीं रह जाता है, क्योंकि यहाँ मानव ईश्वर की सत्ता में वैसे ही विलीन हो जाता है जैसे पानी की बूँदे सागर में विलीन हो जाती है। इस हालत में पुजारी का ईश्वर से पूर्णतया आत्मसात् (identification) हो जाता है। वह वेदी जिस पर चढाया जाय, वह फूल जो देवता की सेवा में अर्पित किया जाय, वह भक्त जो हाथ जोड़कर खड़ा होता है और वह देवता जिसकी पूजा होती है सब एक ही हो जाते है। तब कौन किसकी पूजा करें? या तो सभी पूज्य हो जाते हैं या सभी पुजारी हो जाते है, परन्तु पूज्य और पुजारी की दो स्वतंत्र सत्ता रह पाती है। अब स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद में जहाँ तक विश्व, मानव तथा विशिष्ट वस्तुओं की सत्यता है, वह एकमात्र द्रव्य या ईश्वर की सत्ता है और सभी ईश्वर में लय हो जाते है इस हालत में ईश्वर तथा मानव में इतनी भी दूरी नहीं रहती कि पूजा की संभावना हो। अत:, स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद में धर्म तथा पूजा का स्थान नहीं रहता है। यही कारण है कि ब्रेडले तथा वेदान्त में सगुण ब्रह्म की सत्यता व्यावहारिक जगत् तक ही सीमित मानी गई है पर स्पिनोजा के दर्शन में पारमार्थिक सत्ताओं का भेद नहीं है। इसलिए व्यावहारिक और पारमाथिक दृष्टिकोण से स्पिनोजीय में धर्म को प्रश्रय न दे सकने के कारण इसे असन्तोषजनक समझा गया है।

यदि सब कुछ ईश्वर ही है जो कुछ होता है उसे 'ईश की मौज' कहा जा सकता है। स्वयं सिपनोजा का कहना है कि विश्व की तथा मानव की सभी क्रियाऐं उसी रीति से ईश्वर से निकलती हैं जिस रीति से त्रिभुज के सभी कोणों को मिलाकर अपनी प्रतिक्रियाओं के लिए उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता है। वह ईश्वर के हाथ में 'नट की कठपुतली' हो जाता है। स्पिनोजा ने बार-बार बतलाया है मानव में अपनी इच्छा की स्वतन्त्रता भ्रम है। जिस प्रकार से मदिरा से मत्त होकर व्यक्ति आयँ-बायँ करता है और उसे आभासित होता है कि वह स्वतंत्र इच्छा से बकवास करता है, ठीक उसी रीति से मानव को मालूम देता है कि वह अपनी क्रियाओं को अपनी स्वतन्त्र इच्छानुसार सम्पादित करता है। पर मानव को अपनी इच्छा की स्वतंत्रता कितनी ही सत्य क्यों न मालूम पड़े, उसकी क्रियाऐं नियतिवाद (determinism) की उसी कठोरता से सञ्चालित होती हैं जिस कठोरता से पत्थर तथा यन्त्र की क्रियाएँ सञ्चालित होती है। अब यदि हम मान ले कि मानव में इच्छा स्वतंत्र नहीं है, तो वह अपने काम की अच्छाई या बुराई नैतिक निर्णय की गुञ्जाइश नहीं रह पाती है। अतः, स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद में नैतिकता (morality) का स्थान नहीं रहता है। इसलिए भी स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद को असन्तोषजनक समझा जाता है। परन्तु स्पिनोजा का परम उद्देश्य यही था कि जब स्पिनोजा इच्छा-स्वातन्त्र्य को अस्वीकार करते है तो वे किस प्रकार अपने आचार-प्रदर्शन की व्याख्या करते है।

समानान्तरवाद (Parallalism/ द्विपक्षीय सिद्धांत Double Aspect Theory)

डेकार्ट ने जड़ और चेतन को दो परस्पर भिन्न एवं परस्पर स्वतंत्र द्रव्य कि रूप में स्थापित किया और इनके मध्य संबंध की व्याख्या हेतु क्रिया-प्रतिक्रियावाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया। स्पिनोजा डेकार्ट की इस मान्यता का खंडन करते हैं। स्पिनोजा जड़ और चेतन को द्रव्य की श्रेणी से हटाकर गुणों की श्रेणी में स्थापित करते हैं। इनके अनुसार द्रव्य एक है और उसमें अनन्त गुण हैं जिनमें चैतन्य और विस्तार भी है। मानव बुद्धि इन्हीं दो गुणों को जानती है, क्योंकि यही दो गुण उसमें भी है। चूंकि मन और शरीर द्रव्य नहीं है, अतः इनमें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया या कारण-कार्य संबंध को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्पिनोजा के अनुसार चेतना और विस्तार परस्पर भिन्न है, परंतु विरोधी नहीं है, क्योंकि वे एक ही द्रव्य के दो समानांतर गुण या पहलू (aspects) है, दोनों एक ही आधार से संबंधित हैं। स्पिनोजा के अनुसार मन (चेतना) और शरीर (विस्तार) दोनों सापेक्ष हैं। चेतना ज्ञाता है और विस्तार ज्ञेय हैं। ज्ञाता इसलिए ज्ञात है क्योंकि कोई ज्ञेय है और ज्ञेय इसलिये ज्ञेय है क्योंकि कोई ज्ञाता है। स्पष्ट है कि दोनों में साहचर्य संबंध है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान है। जिस प्रकार रेलवे लाइन की दो पटरियां साथ-साथ चलती है, उसी प्रकार मन और शरीर में भी साहचर्य संबंध है। शारीरिक और मानसिक क्रियाएं एक ही गाड़ी के दो पहिये के समान हैं जो एक ही साथ समानान्तर रूप में चलते रहते हैं।

कल्पना

अनुभूतिक क्षमता, जिसमें स्पिनोजा की विशेष रुचि है वह है; कल्पना। इसे वह बाह्य वस्तुओं को प्रस्तुत रूप में देखने की क्षमता कहते हैं फिर चाहे वे वास्तव में प्रस्तुत हों या नहीं। इस प्रकार कल्पना उस क्षमता से कहीं अधिक है जिसे हम काल्पनिक रूप से मन के द्वारा रचते हैं। समृति और इन्द्रिय संवेदन भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। चूँकि बिना इसके विश्व

को नहीं जाना जा सकता, स्पिनोजा कहते हैं कि "इसी प्रकार से हम जीवन की सभी उपयोगी वस्तुओं को जानते हैं"। स्पिनोजा बुद्धिमत्ता और कल्पना में स्पष्ट अंतर मानते हैं और कल्पना को भ्रामक ज्ञान प्रदान कराने वाली मानते हैं। उनके अनुसार कल्पना जनित प्रत्यय अपर्याप्त हैं। ये विश्व के व्यवहारिक सतही ज्ञान के लिए आवश्यक हो सकते हैं परन्तु ये हमें सत् का विकृत एवं अपूर्ण रूप दिखाते हैं। ऐसा क्यों है? इसे समझने के लिए इन्द्रिय अनुभूति के बारे में जानना होगा। कल्पनान्तमक अनुभूति का यह सबसे महत्वपूर्ण रूप है, इसी से इसके अन्य रूप निर्गत होते हैं।

इन्द्रियानुभूति

स्पिनोजा के अनुसार, शरीर के स्वयं के इन्द्रिय अंगों द्वारा किसी बाह्य शरीर के ऊपर क्रिया से इन्द्रिय अनुभूति का जन्म होता है। इससे शारीरिक तंत्रिका तंत्र में परिवर्तनों की एक जटिल श्रृंखला आरम्भ होती है। चूँकि मन शरीर का प्रत्यय है, यह इन सभी परिवर्तनों को व्यक्त करता है। इसे ही स्पिनोजा इन्द्रियानुभूति कहते हैं।

यहां स्पष्ट करने के क्रम में कि इस प्रकार के प्रस्तुतीकरण से किस प्रकार बाह्य वस्तुओं की अनुभूति होती है, स्पिनोजा कहते हैं कि किसी शरीर की परिवर्तित अवस्था किसी शरीर की स्वयं की प्रकृति और बाह्य वस्तुओं की प्रकृति, जो उस अवस्था को जन्म देती है, का प्रकार्य होती है। इसी कारण उस अवस्था कि मन द्वारा प्रस्तुती, कुछ ऐसा प्रस्तुत करती है जो स्वयं की प्रकृति से अधिक होता है। यह बाह्य वस्तुओं की प्रकृति को भी अभिव्यक्त करती है : किसी भी पर्याय के प्रत्यय, जिसमें मानव शरीर बाह्य विषयों से प्रभावित होता है, में मानव शरीर की प्रकृति और साथ ही साथ बाह्य विषयों की प्रकृति अनिवार्य रूप से अर्न्तनिहित होती है।

मन के प्रस्तुतीकरण की यही क्रिया जो बाह्य विषयों की प्रकृति व्यक्त करती है- इस बात की व्याख्या करती है कि कैसे इस प्रकार के क्रिया से इन्द्रियानुभूति उत्पन्न होती है।

पर्याप्त एवं अपर्याप्त प्रत्यय

उपरोक्त दृष्टिकोण से यह समझना कठिन नहीं है कि क्योंकि स्पिनोजा इन्द्रियानुभूति को अपर्याप्त मानते हैं। चूंकि यह स्वयं के शरीर की मानसिक अवस्था की प्रस्तुती है, न कि सीधे बाह्य विषयों की, इसलिये यह अप्रत्यक्ष इन्द्रियानुभूति है। अब चूँकि यह सभी काल्पनिक प्रत्ययों के लिए भी सत्य है, उन सभी के साथ एक जैसी ही समस्या है : अतः बाह्य विषयों के लिए हमारे पास जो प्रत्यय हैं वे बाह्य विषयों की प्रकृति से अधिक हमारी स्वयं के शरीर की दशा को बताते हैं।

इसी कारण स्पिनोजा कल्पना के प्रत्यय को भ्रमित मानते हैं। यह बाह्य शरीरों के जो विवरण देती है वह अपरिहार्य रूप से कृत्रिम होते हैं। अर्थात हमारे अपने शरीर के द्वारा ही निर्मित होते हैं।

भ्रामक होना, यद्यपि, काल्पनिक प्रत्ययों की अपर्याप्तता का एक पक्ष है, ऐसे प्रत्यय विखण्डित भी होते हैं। इसका कारण यह है कि किसी प्रभाव का ज्ञान उसके कारणों के ज्ञान पर निर्भर होता है। यह एक ऐसी दशा है जिसे काल्पनिक प्रत्यय कभी भी पूरा नहीं कर सकते। मन में किसी बाह्य विषय का प्रत्यय तो हो सकता है परन्तु इसमें उस विषय

के सभी कारणों का प्रत्यय नहीं हो सकता। असीम होने के कारण यह मानव मन से बाहर हो जाते हैं और केवल ईश्वर की असीम बुद्धि में पूर्ण रूप से रहते हैं। ईश्वर के विषयों के प्रत्यय पर्याप्त हो सकते हैं परन्तु हमारे नहीं। वे उन प्रत्ययों से विरत होते हैं जो उनकी पर्याप्ता के लिये आवश्यक हैं। यद्यपि, बाह्य विषयों के काल्पनिक प्रत्यय अपर्याप्त प्रत्ययों के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं, किन्तु केवल ये ही उदाहरण नहीं हैं। स्पिनोजा यह भी दिखाते हैं कि मन के विषय का प्रत्यय, उसकी अवधि और उसके भाग सभी अपर्याप्त हैं। इसी तरह स्वयं मन का प्रत्यय भी है। इस पर भी वह प्रत्ययों की पर्याप्तता की संभावना के प्रति आशावादी है।

यह आशावाद स्पिनोजा के विशिष्ट वस्तुओं के काल्पनिक प्रत्ययों से सामान्य वस्तुओं के बौद्धिक प्रत्ययों पर ध्यान केन्द्रित करने से प्रमाणित हो जाता है। ये सामान्य वस्तुएं वे हैं जो सभी शरीरों के लिए सामान्य हैं या मानव शरीर के लिए सामान्य हैं। वे सम्पूर्ण और प्रत्येक शरीर के प्रत्येक भागों में पूर्णतया उपस्थित हैं। इतना ही नहीं, यह पूर्णत: निश्चित है कि सभी शरीरों की सामान्य वस्तुओं का वर्ग विस्तार का गुण और गति और विराम के सतत एवं असीम पर्याय को सम्मिलित करता है। स्पिनोजा स्पष्ट करते हैं कि केवल उन्हीं के बारे में हमारे प्रत्यय पर्याप्त हो सकते हैं।

कोई भी प्रत्यय जो पर्याप्त प्रत्यय से आता है, स्वयं पर्याप्त होता है। ऐसे प्रत्यय समुचित रूप से सामान्य अवधारणाएं कही जाती हैं। ये निगमनात्मक प्रणाली में स्वत: सिद्ध तर्क वाक्यों का कार्य करती हैं। इस प्रणाली में कार्य करते समय मन विभिन्न प्रकार की काल्पनिक अनुभूतियों के लिप्त रहने की बजाय मूलरूप से भिन्न प्रकार के संज्ञान में अधिक संरत रहता है। काल्पनिक अनुभूति के सभी स्वरूपों में प्रत्ययों का क्रम शारीरिक आसक्तियों को दर्शाता है और यह क्रम बाह्य पिण्डों के साथ शरीर के प्रत्यधिकरण पर आधारित होता है और पूर्णत: संयोगात्मक होता है। इसके विपरीत, सामान्य विचारों से पर्याप्त प्रत्ययों के व्युत्पादन निगमनात्मक प्रणाली में पूर्णत: क्रम का परिपालन करते हैं। स्पिनोजा इसे तर्कबुद्धि का क्रम कहते हैं।

ज्ञान

पर्याप्त और अपर्याप्त अनुभूति प्रत्यक्ष के बीच अन्तर के साथ स्पिनोजा और भी ज्ञान सम्बंधि विशिष्टताएं प्रस्तुत करते हैं। वे इसका आरम्भ अपर्याप्त अनुभूति से करते हैं। जिसे वे प्रथम प्रकार का ज्ञान कहते हैं और इसे दो भागों में बाँटते हैं।

यादृच्छिक अनुभव (Experientia vaga)

यह यादृच्छिक अनुभवों का ज्ञान है। यह "एकल प्रस्तुत वस्तुओं का इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत विखण्डित भ्रमित और आकस्मिक ज्ञान हैं।"

प्रतीक-प्रसूत (ex signis)

दूसरे प्रकार का ज्ञान संकेतों से उत्पन्न होता है, "उदाहरण: किसी शब्द को पढ़ने या सुनने से हम अनुस्मृत को स्मरित कर लेते हैं और उनसे विभिन्न निश्चित प्रत्ययों, जिनके द्वारा हम वस्तुओं को कल्पित कर लेते हैं, को प्राप्त कर लेते हैं।" जो चीज़ इन दोनों प्रकार के ज्ञान को जोड़ती है उनमें तार्किक क्रम के बाद आता है। उसी प्रकार प्रतीकों के बाद ज्ञान आता है। एक भारतीय यदि 'सेब' शब्द सुनता है तो वह 'सेब' के बारे में सोचता है। ऐसा

इसलिए नहीं है कि शब्द और वस्तु के बीच कोई संबंध है वरन् केवल इस कारण है कि उसने अपने अनुभव से इन दोनों को संबद्ध कर लिया है।

तर्क (ratio)

जब हम स्पिनोजा के दूसरे प्रकार के ज्ञान, तर्क की बात करते हैं तब हम वस्तुओं की अपर्याप्त अनुभूति से पर्याप्त अनुभूति की ओर चल रहे होते हैं। इस प्रकार का ज्ञान इस तथ्य से प्राप्त होता है कि हमारे पास वस्तुओं के गुणों के पर्याप्त प्रत्यय और सामान्य अवधारणाएं हैं। यहाँ स्पिनोजा का मंतव्य वस्तुओं के सामान्य गुणों से प्राप्त पर्याप्त प्रत्यय और अन्य सामान्य गुणों से प्राप्त अप्रर्याप्त प्रत्ययों के निर्माण में प्रयुक्त निगमनित अनुमान के ढ़ंग के चलन से है। प्रथम प्रकार के ज्ञान के विपरीत इसमें प्रत्ययों का तार्किक क्रम होता है।

अन्तः प्रज्ञात्मक ज्ञान (scientia intutuve)

हम सोच सकते हैं कि इस द्वीतय स्तर के ज्ञान से हमारा ज्ञान सम्पूर्ण हो जाता है। किन्तु स्पिनोजा एक तीसरे प्रकार के ज्ञान की बात भी करते हैं, जिसे वह श्रेष्ठतम ज्ञान मानते हैं। वे इसे सहज बुद्धिज्ञान कहते हैं और बताते हैं कि यह "ईश्वर के निश्चित गुणों के सारतत्व के पर्याप्त प्रत्यय से वस्तुओं के सारतत्व के प्रयाप्त ज्ञान के रूप में आता है।" दुर्भाग्य से स्पिनोजा एक बार फिर इस स्थान पर अस्पष्ट हो जाते हैं और यह जानना कठिन हो जाता है कि उनके मन में क्या है। वह एक ऐसे ज्ञान की बात करते प्रतीत होते हैं जो कि एक विशिष्ट वस्तु के सार से एक अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त होता है। यह ज्ञान विशिष्ट वस्तु के सार का ईश्वर के सार से होने वाले अनिवार्य निगमन के बोध से प्राप्त होता है। फिर इस प्रकार के ज्ञान का सहज बुद्धिपरक होना यह निर्देशित करता है कि विशिष्ट वस्तु के सार और ईश्वर के सार के मध्य के सम्बंध का बोध तात्कालिक होता है और यह किसी निगमनात्मक प्रक्रिया का परिणाम नहीं होता है। अस्पष्टता की समस्या को पीछे छोड़ते हुए हम आगे भी देख सकते हैं कि स्पिनोजा का मुख्य लक्ष्य आदर्श ज्ञान प्राप्त करना है। अपर्याप्त प्रत्यय अपूर्ण होते हैं। उनके द्वारा हम वस्तुओं की उनके होने के कारण के बिना अनुभूति करते हैं और इसीलिए हम उन्हें आकस्मिक मानते हैं। जिस चौथे प्रकार के ज्ञान की बात स्पिनोजा करते हैं वह इन सबकी परिशुद्धि है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वे यह नहीं कह रहे कि हम पहले देख चुके हैं, ऐसे ज्ञान के लिये किसी वस्तु का सार ईश्वर के सार से निकलता है। इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति हेतु वस्तुओं को अनिवार्य रूप से समझना है न कि आकस्मिक रूप से समझना है। यह स्पिनोजा के प्रसिद्ध कथन सब क्वादम स्पाइसे एटेरनिटेटिस (sub quandam specil actermitatis) अर्थात् अन्तः प्रज्ञा सभी वस्तुओं को साक्षात रूप में ग्रहण करती है, के समान है।

राजनीति

ट्रेक्टेटस थियोलाजिको पालटिकस में स्पिनोजा राजनीतिक और धार्मिक समस्याओं की बात करते हैं। राज्य और चर्च की सरकारों की विधियाँ, स्पिनोजा के अनुसार, तार्किक दर्शन के अनुकूल नहीं हैं। कालिक और शाश्वत दण्ड राज्य या चर्च द्वारा भय और आशा पर आधारित होते हैं जो स्पिनोजा के अनुसार अतार्किक हैं। स्पिनोजा के लिए, ईश्वर को तर्कों द्वारा जानना और उस ज्ञान के अनुरूप कार्य करना मानव का अंतिम लक्ष्य है। इस तार्किक ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति में राज्य को लोगों की सहायता करनी चाहिए। स्पिनोजा कहते हैं कि राज्य की उत्पत्ति लोगों द्वारा आपसी सहमति से हुई है। मानव पूर्व में अतार्किक स्थितियों

और सतत् युद्ध में जीते थे। कालान्तर में सदस्यों ने आपसी सहमति से निर्मित राज्य शक्ति के पक्ष में व्यक्तिगत शक्ति और हिंसा को त्याग दिया। केन्द्रिय राज्य सत्ता हिंसा और शक्ति के पक्ष में व्यक्तिगत शक्ति और हिंसा को त्याग दिया। केन्द्रिय राज्य सत्ता हिंसा और शक्ति का प्रयोग अपनी प्रजा की अतार्किक प्रवृत्तियों को दबाने में कर सकती है। लेकिन यह बल प्रयोग बुद्धि द्वारा नियंत्रित होना चाहिए। अत: यदि ऐसा होता है कि प्रजा शासक की तुलना में अधिक तर्कपरक है और तब मनोभौतिक समान्तरवाद के नियम से राज्य का पतन हो जायेगा और पहले से अधिक तर्कपरक राज्य की उत्पत्ति हो जायेंगे। अत:, स्पिनोजा के अनुसार, एक निर्दोष तार्किकता की प्रवृत्ति से प्राकृतिक राज्य का तार्किक राज्य के रूप में संक्रमण होता है।

स्पिनोजा के दर्शन की आलोचना

1. स्पिनोजा का ईश्वर सर्वग्रासी है। इसमें विश्व की समस्त विविधताओं का लोप हो जाता है। फलस्वरूप अनेकता और व्यक्ति विशेष की विशिष्टताओं का कोई आधार शेष नहीं रह पाता है। इसी संदर्भ में हीगेल ने स्पिनोजा के विरूद्ध यह आक्षेप लगाया है कि- 'स्पिनोजा का ईश्वर उस सिंह की गुफा के समान है, जहां अनेक जानवरों के अंदर जाने के पदचिह्न तो दिखाई देते हैं, किंतु उनके बाहर आने के कोई पदचिह्न दिखाई नहीं देते।'

2. स्पिनोजा ने संपूर्ण विश्व को ईश्वरमय माना है। अब यदि ईश्वर पूर्ण है तो विश्व को भी पूर्ण होना चाहिए। यदि विश्व पूर्ण हो तो वहां विकास, परिवर्तन आदि की संगत व्याख्या नहीं हो पाती।

3. स्पिनोजा विचार को चित्त स्वरूप मानते हैं। यदि विचार ईश्वर के चित्त स्वरूप की अभिव्यक्ति है तो फिर विचारों में भेद, भूल और स्वप्न आदि की व्याख्या नहीं हो पाती है। इन्हें ईश्वर की अभिव्यक्ति नहीं माना जा सकता।

4. यदि ईश्वर सर्वव्यापी है तो फिर पाप एवं पुण्य, दंड एवं पुरस्कार की अवधारणा व्यर्थ होने लगती है। ऐसी स्थिति में उपासक एवं उपास्य का भेद भी समाप्त हो जाता है। इससे धार्मिक क्रियाकलापों एवं भावनाओं की संतुष्टि नहीं हो पाती।

5. केयर्ड के अनुसार स्पिनोजा के दर्शन का अंत उनके आरंभ का उल्टा है। वे अपने दर्शन का आरंभ एक द्रव्य से करते है लेकिन अन्तत: वे यह कहते हैं कि द्रव्य प्रत्येक विकार में निहित है। इससे एक द्रव्य अनेक द्रव्य का रूप लेने लगता है।

6. यदि हम ईश्वर के दो ही गुणों को जान सकते हैं तो फिर ऐसी स्थिति में उसमें अनन्त गुणों की बात करना संगत नहीं है।

7. स्पिनोजा के ईश्वर की अवधारणा को स्वीकार करने पर नियतिवाद की स्थापना होती है और इसमें मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता खंडित होने लगती है।

8. स्पिनोजा के समानांतरवाद में सर्वमनसवाद (Panpsychism) की मौन स्वीकृति दिखाई देती है। समानांतरवाद के अनुसार जहां शारीरिक क्रिया है। वहां मानसिक क्रिया भी है। इस प्रकार जगत में सर्वत्र भौतिक परिवर्तनों के मूल में मनस की सत्ता को भी स्वीकार करना पड़ता है। परंतु ऐसा मानना तथ्यविहिन और अव्यावहारिक है। (Panpsychism : The term applies to views according to which a mental element is present in everything that exists. We can see this in the philosophical theories of -Leibnitz,, Schelling, Schopenhauer etc.)

9. स्पिनोजा चित्त और अचित्त इन दोनों गुणों को एक ही आधार (द्रव्य) से संबंधित करते हैं। परंतु जड़ और चेतन परस्पर विरोधी है। इन्हें एक साथ एक द्रव्य में मानना 'विरोध के नियम' का उल्लंघन करना है।

महत्व

– स्पिनोजा के दर्शन में प्रत्ययवाद, रहस्यवाद, वस्तुवाद, बुद्धिवाद, गणितीय विधि, धार्मिकता, अधार्मिकता इत्यादि विभिन्न पक्षों की विवेचना की गई है। यह उनके दर्शन की व्यापकता को दर्शाता है।

– एकत्ववादी एवं बुद्धिवादी होते हुए भी स्पिनोजा जगत की बहुलता को असत् नहीं मानते, बल्कि पर्याय के आधार पर उस विविधता को भी व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं।

– स्पिनोजा का दर्शन प्रकृति प्रेम एवं भाई चारे को बढ़ाता है।

– स्पिनोजा जड़ और चेतन दोनों को एक ही द्रव्य का गुण बताकर भौतिकतावाद एवं अध्यात्मवाद दोनों का खंडन करते हैं। एक तरह से वे इन दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

– स्पिनोजा के दर्शन की महत्ता हीगल के इस कथन से प्रकट होती है कि 'दार्शनिक होने के लिए पहले स्पिनोजा का शिष्य होना आवश्यक है।'

प्रश्न : स्पिनोजा ईश्वर मदान्ध (God intoxicated) दार्शनिक हैं या अधार्मिक (Itteligious) व्यक्ति?

ईश्वर मदान्ध कहने का आधार

स्पिनोजा ईश्वर और विश्व में तादात्म्य या अभेद संबंध स्वीकार करते हैं। वे ईश्वर को ही जगत के यप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। उनका कथन है कि ईश्वर ही विश्व है और विश्व ही ईश्वर है। ऐसी स्थिति में ईश्वर जगत में सर्वव्याप्त हो जाता है (कण कण में विद्यमान)। इसी संदर्भ में स्पिनोजा को ईश्वर मदान्ध दार्शनिक कहा जाता है। वे सर्वत्र, सदैव ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते है।

अधार्मिक क्यों?

स्पिनोजा के दर्शन में एक ऐसे ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है जो धर्मों के अनुरूप नहीं है, जो धार्मिक क्रियाकलापों में सहायक नहीं है, कैसे?

– स्पिनोजा का ईश्वर निर्गुण, निराकार एवं निवैयक्तिक है। ऐसे ईश्वर की पूजा, अराध ना, वंदना, अर्चना, आरती इत्यादि नहीं की जा सकती।

– परंपरागत धर्मों में ईश्वर आत्मस्वरूप (चैतन्यस्वरूप) माना गया है, जबकि यहां ईश्वर में आत्मतत्व के साथ साथ जड़तत्व को भी ईश्वर के गुण के रूप में स्वीकार किया गया है।

– यदि ईश्वर सर्वव्याप्त है तो फिर समस्त धार्मिक गतिविधियां निरर्थक हो जाती है। भक्त और भगवान के बीच भेद समाप्त हो जाता है। साथ ही पाप और पुण्य की भी अवध ारणा व्यर्थ हो जाती है।

– ईश्वर का अस्तित्व एवं उसकी क्रिया उसके स्वरूप का अनिवार्य परिणाम है। ऐसी स्थिति में पूजा, प्रार्थना आदि से ये नियम एवं क्रियाएं बदले नहीं जा सकते। उसे जो करना है, वह वही करेगा। उल्लेखनीय है कि स्पिनोजा ने स्वतंत्रता का आशय आत्म-निर्धारण माना है,

ऐसी स्थिति में ईश्वर के कार्यों में अनिवार्यता आ जाती है। क्योंकि वह अपने तार्किक स्वरूप के अनुसार कार्य करने हेतु बाध्य है।

स्पिनोजा और देकार्त

स्पिनोजा और देकार्त : प्राय: स्पिनोजा को संगत देकार्ती कहते है। इसका पहला कारण यह है कि उन्होंने देकार्त के दर्शन का अच्छा अध्ययन किया था और 1662 ई. में देकार्त के दर्शन की टीका लिखी थी। फिर स्पिनोजा ने देकार्त के लिखित प्रश्नों के आधार पर अपने दर्शन की स्थापना की है और इसमें सन्देह नहीं कि देकार्त के मौलिक सिद्धान्तों के दोषों तथा त्रुटियों को हटाकर इन्होंने सर्वेश्वरवाद की रचना की है। यही कारण है कि लाइबनित्स ने कहा है कि स्पिनोजा ने देकार्त के रोपे हुए बीज को अंकुरित किया है। परन्तु इस मत का खण्डन करते हुए पोलॉक ने बताया है कि स्पिनोजा का दर्शन नवप्लेटोवाद तथा मैमानाइड्स के दर्शन से ओत-प्रोत है न कि दोकर्त के दर्शन से। पर केयर्ड ने स्पिनोजा को देकार्ती ही माना है। परन्तु वास्तव में स्पिनोजा देकार्ती नहीं थे क्योंकि उन्होंने देकार्त के सभी मौलिक सिद्धांतों की आलोचना एक स्वतन्त्र दर्शन की रचना की है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

लियोन रोथ, जिन्होंने स्पिनोजा का विशेष अध्ययन किया है, अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में बताया है कि देकार्त की तीन मौलिक आधारशिलाएँ है, अर्थात् (1)स्पष्ट तथा परिस्पष्ट पर पृथक्-पृथक् (discrete) भावनाओं का सिद्धांत, (2)सृष्टिकर्त्ता देवता का सिद्धांत, क्योंकि ईश्वर अपने संकल्प के ही आधार पर विश्व की रचना तथा इसका पालन करते है, और (3) संकल्पात्मक (voluntaristic) तत्व-मीमांस का सिद्धांत; क्योंकि देकार्त के अनुसार मानव और ईश्वर दोनों में बुद्धि की अपेक्षा संकल्प की ही प्रधानता दिखाई देती है। स्पिनोजी ने देकार्त के इन तीनों मौलिक सिद्धांतो के विपरीत युक्ति पेश कर एक दूसरी ही विपक्षी दर्शन-परिपाटी की नींव डाली है।

देकार्त ने बताया है कि प्रत्येक व्यक्ति में प्राकृतिक ज्योति है, जिसके द्वारा हमें स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावनाओं की अन्तर्सूझ या सहजज्ञान (intution) होता है; परन्तु ये भावनाएँ असम्बद्ध तथा पृथक रहती है। पर यदि भावनाओं में किसी प्रकार की आन्तरिक व्यवस्था न हो तो कैसे बुद्धिगम्य कहा जाय? देकार्त ने इस कमी को पूरा करने के लिए ईश्वर की सत्यनिष्ठा की मदद ली है। परन्तु ईश्वर विश्व से परे सत्ता है और इसलिए ईश्वर विश्व की युक्तिपूर्णता को सिद्ध नहीं ठहरा सकता है। अत:, देकार्त के दर्शन में वस्तुओं और भावनाओं की अनेकता रह जाती है और एकता का लक्ष्य तिरस्कृत हो जाता है। परन्तु हम देखेंगे कि स्पिनोजा के दर्शन में एकता या अद्वैतवाद का मुख्य और प्रथम स्थान है। अत:, देकार्त और स्पिनोजा के मौलिक सिद्धांत एक-दूसरे के विपरीत है।

फिर देकार्त के दर्शन में समझ या बुद्धि को द्वितीय स्थान है और संकल्प (will) को प्रथम स्थान। विज्ञान तथा दर्शन की सत्यता इसलिए स्पष्ट तथा परिस्पष्ट है कि ईश्वर ने अपनी इच्छानुसार इस प्रकार की व्यवस्था की है। इसलिए यदि ईश्वर चाहे तो पूरी कसौटी ही बदली जा सकती है। परन्तु स्पिनोजा के अनुसार सत्यता किसी भी मनमानी इच्छा पर निर्भर नहीं रह सकती है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर से सभी सत्यता इसलिए निकलती है कि सत्यता शाश्वत है, ईश्वर सत्यता की रचना इसलिए करता है कि वह शाश्वत है कि ईश्वर की असीम इच्छा से उत्पन्न होती है। अत: स्पिनोजा में बुद्धि का पहला स्थान है और संकल्प का स्थान गौण है। यहाँ भी देकार्त और स्पिनोजा के सिद्धांतो में मौलिक मतभेद है।

अन्त में देकार्त के अनुसार विश्व-सृष्टि ईश्वर की मनमानी इच्छा से उत्पन्न होती है, पर स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर स्वयं बुद्धिमय है और इसलिए सम्पूर्ण विश्व की रचना बौद्धिक अनिवार्यता (intellectual necessity) के साथ होती हुई दिखाई देती है। अत:, स्पिनोजा की प्रसिद्ध उपमा है कि सभी वस्तुएं ईश्वर से उसी अनिवार्यता से होती हुई दिखाई देती है, जिस अनिवार्यता के साथ किसी त्रिभुज के तीन कोणों को मिलाकर दो समकोण के बराबर होना सिद्ध होता है। अत: स्पिनोजा के दर्शन में संकल्प का स्थान ही नहीं है और देकार्त का बुद्धिवाद यहाँ विश्व की शुद्ध बुद्धिगम्यता (rationality) में परिणत हो जाता है।

बेनेडिक्ट स्पिनोजा आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की बुद्धिवादी परंपरा के एक महत्वपूर्ण विचारक हैं। इनके दर्शन पर डेकार्ट के विचारों का प्रभाव अवश्य हैं, परंतु इससे इनकी मौलिकता विनष्ट नहीं हुई। स्पिनोजा ने डेकार्ट के विचारों में विद्यमान त्रुटियों एवं दोषों को हटाकर उसे एक नए रूप में प्रतिष्ठित किया है।

डेकार्ट एवं स्पिनोजा में निम्नलिखित बिंदुओं पर समानता है-

1. बुद्धिवादी विचारक
2. गणित को ज्ञान का आदर्श मानना
3. जगत को यंत्रवत् मानना
4. द्रव्य, गुण एवं पर्याय का विभाजन स्वीकार्य, पर इनसे संबंधित अन्य बातों में मतभेद।
5. दोनों प्राचीन धार्मिक एवं रूढ़िगत विचारों की आलोचना करते हैं।

इन्हीं समानताओं को देखकर लाइबनित्ज ने स्पिनोजा पर यह आक्षेप लगाया था कि वह 'डेकार्टवादी' है। वह डेकार्ट के दर्शन का व्याख्याता मात्र है। उनका कोई स्वतंत्र दर्शन नहीं है।

परंतु इस आक्षेप को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इन दोनों दार्शनिकों के मतों में विद्यमान भिन्नता को देखने से यह तथ्य स्पष्ट होता है।

असमानता

डेकार्ट	स्पिनोजा
1. द्वैतवादी (Dualism)	1. एकतत्ववादी (Monism)
2. ईश्वरवादी	2. सर्वेश्वरवादी (Pantheism)
3. संकल्प को प्रथम स्थान	3. बुद्धि को प्रथम स्थान
4. स्वतंत्र इच्छावादी	4. नियतिवादी
5. ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण	5. अव्यक्तित्वपूर्ण
6. मन-शरीर के संबंध में क्रिया-प्रतिक्रियावाद के समर्थक	6. मन-शरीर के संबंध में समानान्तरवाद के समर्थक
7. दर्शन का आरंभ 'मैं हूं' अर्थात् आत्मा से होता है।	7. दर्शन का प्रारंभ 'यह है' अर्थात् द्रव्य से होता है।

शंकर बनाम स्पिनोजा

अद्वैतवादी शंकराचार्य एवं एकतत्ववादी स्पिनोजा के दर्शन में निम्नलिखित रूपों में समानता एवं असमानता दिखाई देती है।

समानता के बिंदु

1. दोनों दर्शनों में परम तत्व निर्गुण एवं निराकार है।

2. दानों दर्शनों में अंतिम रूप से एकतत्ववादी स्थिति को स्वीकार किया गया। शंकराचार्य के दर्शन में इसे अद्वैतवाद के रूप में वर्णित किया गया है।

3. दोनों के दर्शन में परमतत्व अव्यक्तित्वपूर्ण (Impersonalistic) है और परिणामस्वरूप वह भक्ति एवं उपासना का विषय नहीं है।

4. दोनों दर्शनों में परमतत्व को अवर्णनीय कहा गया है। शंकराचार्य के दर्शन में पर ब्रह्म के संबंध में 'नेति-नेति' की बात कही गई है, वहीं स्पिनोजा के दर्शन में इस संदर्भ में 'प्रत्येक निर्धारण निषेध है' की बात कही गई है।

5. शंकर के दर्शन में व्यावहारिक सत्ता और पारमार्थिक सत्ता पर बल दिया गया है। स्पिनोजा के दर्शन में भी एक संदर्भ में यह स्थिति दिखाई देती है।

शंकर के दर्शन में सत् के तीन स्तर माने गये हैं- प्रातिभासिक सत्, व्यावहारिक सत् और पारमार्थिक सत्। इसकी तुलना एक संदर्भ में स्पिनोजा द्वारा वर्णित कार्य-प्रकृति (विश्व रूप), कारण-प्रकृति (विश्वात्म रूप) और पर-रूप से की जा सकती है।

6. शंकर के दर्शन में भी अंततः भावना एवं संवेगों की उपेक्षा है तथा ज्ञानात्मक पक्ष की प्रधानता है। स्पिनोजा के दर्शन में भी भावना और संवेगों के विजय की बात कही गई है। यहां इस संदर्भ में बौद्धिक प्रेम की बात कही गई है।

	शंकर		स्पिनोजा
1.	शंकर के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत् है, जगत मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, वह मूलतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है।	1.	स्पिनोजा के दर्शन में ईश्वर को सत् माना गया है तथा चित् एवं अचित् (मन और शरीर) को उसके गुणों के रूप में स्वीकृति प्रदान की गई है। यहां जगत को मिथ्या न कहकर ईश्वर के साथ उसका अभेद या तादात्म्य संबंध स्वीकार किया गया है।
2.	शंकर के अनुसार ब्रह्म स्वरुपतः चैतन्यस्वरूप है। जबकि जड़-द्रव्य माया रूप है।	2.	स्पिनोजा के दर्शन में चेतन तत्व एवं जड़ तत्व दोनों समकक्षीय सत्ताएं हैं। यहां ये दोनों ईश्वर के गुणों के रूपों में वर्णित हैं।
3.	शंकर के अनुसार सगुण ब्रह्म अर्थात् व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर इस जगत का निमित्त एवं उपादान कारण दोनों है। इस रूप में व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर विश्वव्यापी एवं विश्वातीत दोनों है।	3.	ईश्वर एवं विश्व में कारण-कार्य संबंध नहीं है। उनमें तार्किक संबंध है, अभेद संबंध है, अकालिक संबंध है। यहां यह माना गया है कि ईश्वर ही विश्व है और विश्व ही ईश्वर है। ऐसी स्थिति में ईश्वर को विश्वातीत नहीं माना जा सकता।
4.	आत्मा और मन में अंतर है।	4.	आत्मा और मन में कोई अंतर नहीं किया है।
5.	शंकर के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है।	5.	आत्मा या मन ईश्वर नहीं है, बल्कि ईश्वर के गुण हैं।

6.	शंकर के दर्शन में पारमार्थिक रूप से निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करते हुए व्यावहारिक स्तर पर सगुण ब्रह्म अर्थात् व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है।	6.	यहां व्यवहार एवं परमार्थ का भेद नहीं है। स्पिनोजा का ईश्वर निर्गुण होने के कारण उपासना का विषय नहीं है।

सारांश

स्पिनोजा के अनुसार, ईश्वर ही एक मात्र द्रव्य है। इस द्रव्य में असीमित संख्या में गुण रहते हैं। परंतु हम केवल दो गुणों को ही जानते हैं : विचार और विस्तार। स्पिनोजा का ईश्वर सोचता है और वह हमारी समझ के बाहर कई और कार्य करता है। चूंकि ईश्वर शाश्वत और असीमित है, गुण भी शाश्वत और असीमित हैं। जो चीजें हम देखते हैं वे संक्रामी और सीमित हैं। वे गुणों के पर्याय का अस्थाई रूपान्त्रण हैं।

प्रमुख शब्द

कारण प्रकृति और कार्य प्रकृतिः मध्ययुगीन दार्शनिकों ने अव्यक्त या कारण रूप प्रकृति के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। जिसका तात्पर्य है प्रकृति द्वारा स्वतः किया गया कार्य। दूसरे शब्द का अर्थ है कि प्रतीयमान सम्पूर्ण वस्तु समूह कारण प्रकृति का व्यक्त रूप है।

अभ्यास प्रश्न

1. स्पिनोजा का सामान्य परिचय दीजिए।
2. द्रव्य क्या है? स्पिनोजा के द्रव्य का विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. स्पिनोजा ने गुण को कैसे प्रभावित किया है?
4. स्पिनोजा का विकार सिद्धांत क्या है? स्पिनोजा का पर्याय/विकार उनके द्रव्य से कैसे भिन्न है?
5. स्पिनोजा के मन-शरीर संबंध सिद्धांत की समीक्षा करें।
6. स्पिनोजा और देकार्त के दर्शन में क्या समानताएं है?
7. स्पिनोजा का दर्शन देकार्त के दर्शन से कैसे भिन्न है?
8. स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद को परिभाषित कीजिए।
9. स्पिनोजा ईश्वर मदान्ध दार्शनिक है या अधार्मिक व्यक्ति? स्पष्ट करें।
10. स्पिनोजा के दर्शन का आधुनिक जीवन में क्या महत्व है?
11. स्पिनोजा के राजनीति सम्बंधी विचार पर चर्चा करें।

इकाई–6 लाइबनित्ज (Leibnitz)

इकाई की रूपरेखा:

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. चिदणुवाद
4. पूर्वस्थापित सामंजस्य का नियम
5. ईश्वर
6. मन शरीर संबंध
7. देश–काल
8. ज्ञानमीमांसा
9. स्वतंत्रता और अनिवार्यता
10. आलोचना
12. महत्त्व
11. मूल्यांकन
13. लाइबनित्ज और स्पिनोजा
14. अरस्तु बनाम लाइबनित्ज
15. लाइबनित्ज बनाम स्ट्रॉसन
16. सारांश
17. प्रमुख शब्द
18. अभ्यास प्रश्न

उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है :

- लाइबनित्स के दर्शन से छात्र को परिचित करना
- यह पहचानना कि लाइबनित्स ने देकार्त और स्पिनोजा की बुद्धिवादी परम्परा को आगे बढ़ाया। तथापि, उन्होंने तत्व की समस्या और शरीर और मन के समबन्ध को लेकर अन्य बुद्धिवादीयों से भिन्न मत रखते हुए भी बुद्धिवादी परम्परा को कायम रखा।

प्रस्तावना

लाइबनित्स 1646 ई. में पैदा हुए थे। वह एक महान वैज्ञानिक और गणितज्ञ थे। उन्हें न्यूटन के साथ अपरिमित कलन की खोज का सम्मान प्राप्त था। तथापि, इसमें कोई संदेह नहीं है कि लाइबनित्स की कलन की अवधारणा न्यूटन से अधिक सुविधाजनक थी। लाइबनित्स के कुछ प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण कार्य है :

1. न्यू एससे ऑन हयूमन अन्डरस्टेन्डिग
2. मोनडोलॉजी
3. डिस्कोंस ऑन मेटाफिजिक्स
4. थियोडिसि

देकार्त और स्पिनोजा की तरह, लाइबनित्स ने ज्यामितीय विधि का प्रयोग जारी रखते हुए अपने दर्शन को द्रव्य की अवधारणा पर आधारित किये रखा। लेकिन वह उनसे मौलिक रूप से मन और शरीर के समबन्ध और द्रव्यों की संख्या पर भिन्न मत रखे रहे। देकार्त ने तीन द्रव्यों को स्वीकार किया है। देकार्त के लिए विस्तार भौतिक पदार्थ का सार है और स्पिनोजा के लिए विस्तार और विचार दोनों ईश्वर के गुण हैं। लेकिन लाइबनित्स का मानना था कि विस्तार द्रव्य का गुण नहीं हो सकता। लाइबनित्स के अनुसार, विस्तार में बहुलता होती है और वह द्रव्यों के संग्रह से सम्बंधित होता है। प्रत्येक एकल द्रव्य अविस्तारित होना चाहिए। इसलिये वह अनन्त द्रव्यों की सत्ता में विश्वास करते हैं जिन्हें वह मोनड कहते हैं।

– "इस संसार का रचयिता ईश्वर है जो बहुत बुद्धिमान और शक्तिशाली है। उसने असीम संसार की संभावनाओं में से इस संसार को चुना है, अतः यह सर्वश्रेष्ठ संसार है।" –लाइबनित्ज

– लाइबनित्ज ने अपने दर्शन में एक प्रसंग में कहा है कि इन्होंने डिमोक्रिटस को प्लेटो से, अरस्तू को डेकार्ट से, शास्त्रियों (Scholastics) को आधुनिक दार्शनिकों से तथा धर्म-विज्ञान को नीतिशास्त्र से युक्तियों के आधार पर मिलाने की कोशिश की।

लाइबनित्स का चिदणुवाद (Monadology) / मोनड या चिदणु (Monads)

जर्मन बुद्धिवादी दार्शनिक लाइबनित्ज विश्व की सम्यक् रूपेण व्याख्या द्रव्य के आधार पर करने का प्रयास करता हैं। इनके दर्शन में द्रव्य को 'चिदणु' या 'मोनड' कहा गया है। लाइबनित्स द्रव्य के संबंध में डेकार्ट और स्पिनोजा द्वारा दी गई परिभाषा को अस्वीकार करते हैं। द्रव्य की परिभाषा के संदर्भ में इन विचारकों ने स्वतंत्रता का अर्थ स्वतंत्र सत्ता या निरपेक्ष अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया था। परंतु लाइबनित्स के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ स्वतंत्र क्रिया-शक्ति (Independent Active Force) है। इनके अनुसार द्रव्य वह है जो स्वतंत्र क्रिया-शक्ति संपन्न हो। मोनड की यह परिभाषा बौद्धों द्वारा दी गई सत् की परिभाषा के समरूप प्रतीत होती है। बौद्धमतानुसार-"अर्थ क्रियाकारित्व लक्षणं सत्" अर्थात् सत् वही है जिसमें किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति हो। स्पष्ट है कि मोनड की परिभाषा में स्वतंत्र शक्ति पर बल है न कि विस्तार या आकार पर।

लाइबनित्स के ये मोनड (चिदणु या चेतनाणु) गणितीय इकाई एवं वैज्ञानिक अणु से भिन्न है। गणितीय इकाई अमूर्त एवं काल्पनिक होती है। दूसरी ओर विज्ञान क अणु भौतिक एवं विस्तारयुक्त माने जाते हैं। लाइबनित्स के ये मोनड भौतिक न होकर चेतन हैं। ये काल्पनिक न होकर तात्विक, अविभाज्य एवं शक्तियुक्त विशेष है। लाइबनित्स के अनुसार न्यूनतम तत्व यदि भौतिक तत्व है, तो फिर उसमें विस्तार अवश्य होगा और यदि उसमें विस्तार है, तो फिर वह विभाज्य भी होगा। स्पष्ट है कि न्यूनतम तत्व को अविभाज्य एवं भौतिक दोनों मानना विरोध ाभासी है। लाइबनित्स के अनुसार न्यूनतम तत्व अविभाज्य है। अतः वह भौतिक न होकर चेतन ही हैं। इस प्रकार लाइबनित्स ने डेमोक्रेटिस के जड़ परमाणुवाद के विरोध में चेतन परमाणुवाद का प्रतिपादन किया है। चूंकि मोनाड ही विश्व के मौलिक द्रव्य हैं और ये मोनड चेतन हैं।

अतः लाइबनित्स के दर्शन में भौतिक एवं आध्यात्मिक का द्वैत समाप्त हो जाता है। लाइबनित्स के ये मोनाड चेतन अणु हैं।

लाइबनित्स के दर्शन में इन द्रव्यों को ही 'मोनड' (Monad) कहा गया है जिसे हिंदी में 'चिदणु' कहते हैं। प्रत्येक शक्ति संपन्न विशेष पदार्थ एक द्रव्य है। इस प्रकार जगत में अनेक द्रव्यों को मानने के कारण लाइबनित्स का दर्शन बहुतत्ववादी (Pluralism) कहलाता है। डेकार्ट ने निरपेक्ष द्रव्य एवं सापेक्ष द्रव्य, चित्त और अचित्त रूपी दो परस्पर स्वतंत्र द्रव्य, चेतना एवं विस्तार रूपी परस्पर भिन्न गुण आदि को मानकर द्वैतवाद (dualism) की स्थापना की थी। स्पिनोजा ने ईश्वर को एकमात्र द्रव्य मानकर एकतत्ववाद (Monism) को स्थापित किया, वहीं लाइबनित्स ने अनेक द्रव्यों को मानकर बहुतत्ववाद की स्थापना की। परंतु लाइबनित्स के ये अनेक मोनड चेतन हैं, इसीलिए इनका सिद्धांत भौतिकवादी बहुतत्ववाद (चावार्क आदि) न कहलाकर आध्यात्मिक बहुतत्ववाद (Spiritualistic Pluralism) कहलाता है।

लाइबनित्स के अनुसार मोनडो की अनेकता, मोनडो के विभिन्न स्तर, उनकी चेतना की मात्रा और उनके विशिष्ट व्यक्तित्व के आधार पर सिद्ध होती है।

मोनड की प्रमुख विशेषताएं (Characteristics of Monads)

लाइबनित्स के अनुसार मोनड की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएं है–

1. मोनड सरल एवं निरवयव हैं। निरवयन होने के कारण ये अविभाज्य हैं। अविभाज्य होने के कारण ये अविनाशी है।

2. मोनड भौतिक अणु न होकर चेतन अणु हैं। ये विस्तारयुक्त न होकर विस्ताररहित है क्योंकि विस्तारयुक्त मानने पर इन्हें विभाज्य मानना पड़ेगा। मोनड काल्पनिक न होकर तात्विक हैं, शक्तिहीन न होकर शक्तियुक्त हैं, निष्क्रिय न होकर सक्रिय है। स्पष्ट है कि लाइबनित्स के इस द्रव्य की अवधारणा में भौतिक परमाणुओं की यथार्थता और गणित के बिंदु की अविभाज्यता का समन्वय दिखाई देता है।

3. मोनड अपनी शक्ति का केंद्र स्वयं है।

4. प्रत्येक मोनड अपने आप में अद्वितीय है। कोई भी दो मोनड पूर्णतः एक समान नहीं है।

5. प्रत्येक मोनड अपने आप में पूर्ण है।

6. शक्ति स्वरूप होने के कारण प्रत्येक मोनड गतिशील (mobile) है।

7. लाइबनित्स मोनड को गवाक्षहीन (Windowless) मानते हैं। उन्हें गवाक्षहीन कहने का आशय है कि वे न तो दूसरे से प्रभावित होते हैं और न दूसरे को प्रभावित करते हैं। दूसरे शब्दों में विभिन्न मोनडों में कोई वास्तविक आदान-प्रदान नहीं होता। उनमें कोई पारस्परिक संबंध नहीं होता। वे पूर्ण, आत्मनिर्भर, आत्मसंचालित एवं स्वतंत्र है।

8. मोनड अनेक हैं। अनेक चेतन मोनडों को विश्व के मूल में मानने के कारण इनका दर्शन आध्यात्मिक बहुतत्वाद (Spritualistic pluralism) कहलाता है।

9. सारे मोनड सजातीय हैं, क्योंकि सभी मोनड चेतन हैं, परंतु विभिन्न मोनडों में चेतना की मात्रा को लेकर अंतर है। आशय है कि विभिन्न मोनडो में गुणात्मक भेद न होकर मात्रात्मक भेद है। किसी में चेतना की मात्रा अधिक है, तो किसी में कम। लाइबनित्स के मोनडो के समान ही जैन दर्शन के जीव में गुणात्मक समानता एवं मात्रात्मक भिन्नता को स्वीकार किया गया है।

10. मोनड अनेक हैं। यद्यपि प्रत्येक मोनड चेतन है परंतु उनमें चेतना की मात्रा या परिमाण (quantity) को लेकर स्तर भेद पाया जाता है। इस आधार पर मोनडो का वर्गीकरण पांच भागों में किया जा सकता है-

(i) अचेतन मोनड (Unconsciousness) : इसमें चेतना सुषुप्त अवस्था में रहती है। यहां चेतना का अभाव नहीं होता बल्कि चेतना क्षीण रूप में विद्यमान रहती है। भौतिक प्रतीत होने वाले पदार्थ जैसे लकड़ी, मिट्टी आदि इसके अंतर्गत आते हैं। यह उपनिषदों में वर्णित 'अन्नमय कोष' के समान हैं।

(ii) अवचेतन (Sub-Consciousness) : इसमें अचेतन मोनड की अपेक्षा अधिक मात्रा में चैतन्य पाया जाता है। उदाहरणस्वरूप वनस्पति जगत। उपनिषद इसे 'प्राणमय कोष' कहते हैं।

(iii) चेतन (Consciousness) : इस स्तर पर चेतना की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। इसके अंतर्गत पशु-पक्षी आदि आते है। उपनिषदों में 'मनोमय कोष' कहा गया है।

(iv) स्वचेतन (Self Consciousness): इस श्रेणी के अंतर्गत मानव आते हैं। इनमें इच्छात्मक उद्देश्यपूर्ण व्यापार देखा जाता है। उपनिषद् में इसे 'विज्ञानमय कोष' कहा गया है।

(v) पूर्ण चेतन : यह परमचिदणु (Supreme Monad) है। यह परम चिदणु ही लाइबनित्स का ईश्वर है। लाइबनित्स इसे 'मोनडो का मोनड' (Monad Monadum) कहते हैं। इसमें पूर्ण क्रियाशीलता (Actus Purus) होती है। इसमें मूलभूत तत्व (Materia Prima) की उपस्थिति नहीं होती। उपनिषदों में इसे 'आनंदमय कोष' कहा गया है।

11. गवाक्षहीन होने पर भी प्रत्येक मोनड में दो समान लक्षण है जिसके कारण हमें आभासित होता है कि उनमें साक्षात् संबंध है।

प्रत्येक मोनड में दो प्रकार की शक्तियां पाई जाती हैं -

(i) ईक्षण/प्रत्यक्ष (Perception) (ii) प्रयासन (Appetition)

ईक्षण या प्रत्यक्ष (Perception)

ईक्षण चिदणुओं की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। यह चिदणुओं की आंतरिक शक्ति है जिसके द्वारा प्रत्येक मोनड असंख्य मोनड की दशाओं को अपने में प्रतिबिम्बित करता है। प्रत्येक मोनड एक जीवित दर्पण (living mirror) के समान हैं जो अन्यों को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करता है। इसी संदर्भ में लाइबनित्स ने मोनड को 'लघुरूप विश्व' कहा है।

लाइनित्स मोनडों की इसी शक्ति के आधार पर ज्ञान प्राप्ति की विवेचना करते हैं। विभिन्न मोनडो में प्रत्यक्ष की स्पष्टता एवं विवेकपूर्णता को लेकर अंतर है। जिस मोनड में चेतना की मात्रा अधिक होती है, उसका प्रत्यक्ष उतना ही स्पष्ट एवं व्यवस्थित होता है। जिस मोनड में चेतना की मात्रा कम होती है, उसका प्रत्यक्ष उतना ही अस्पष्ट एवं धुंधला होता है।

प्रयासन (Appetition) : शक्ति के कारण प्रत्येक मोनड अपने आत्मनिहित लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में विकसित होता है। यह विकास क्रमबद्ध होता है। मोनडों में सदैव परिवर्तन होता है, परंतु यह परिवर्तन किसी बाह्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं होता। लक्ष्य आत्मनिहित होता है।

मोनड के स्वरूप एवं कार्य के संबंध में लाइबनित्स ने कुछ नियमों का उल्लेख किया है-

1. निरंतरता का नियम (Law of continuity) : लाइबनित्स के अनुसार संसार में जितने मोनड है उनमें चैतन्यता की दृष्टि से सतत् तारतम्य पाया जाता है। तारतम्यता को निम्नतम

चैतन्य से उच्चतम चैतन्य तक के स्तर पर श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। प्रकृति में कहीं भी कोई आकस्मिक विलगाव (Leap) नहीं पाया जाता।

2. सादृश्य का नियम (Law of Similarity) : गुणों की दृष्टि से सभी मोनड समान हैं। सभी चेतन हैं।

3. वैसादृश्य का नियम (Law of Dissimilarity) : विभिन्न मोनड चेतन हैं और इस रूप में उनमें गुणात्मक समानता है। परंतु विभिन्न मोनडों में चेतना की मात्रा को लेकर अंतर है। प्रत्येक मोनड का अपना एक व्यक्तित्व है। जगत में कोई भी दो वस्तुएं या घटनाएं पूर्णत: समरूप नहीं हो सकती। उनमें कुछ न कुछ भेद अवश्य ही पाया जाता है। प्रकृति में कहीं कोई पुनरावृत्ति नहीं है। इस नियम को ही लाइबनित्स ने 'अविभेदों के तादात्म्य का नियम' (Theory of identity of indiscernibles) नाम दिया है। इसका आशय यही है कि जहां भेद अदृश्य रह जाते हैं, वहां वस्तुओं को अभेद मान लिया जाता है।

लाइबनित्स के अनुसार जगत में समस्त मोनड क्रमश: एक प्रगतिशील श्रृंखला में बंधे हुए हैं। जिनमें निम्न से उच्चतम स्तर तक विभिन्न श्रेणियां पाइ जाती हैं। विभिन्न मोनड भिन्न भिनन स्तरों में होने के कारण परस्पर भिन्न हैं। पुन: जो मानड एक ही स्तर पर है, उनमें भी कोई दो मोनड पूर्णत: एक समान नहीं है। क्योंकि वे अपनी विशिष्ट स्थिति को बनाये हुए हैं। इस प्रकार लाइबनित्स के अनुसार जगत के कोई दो वस्तु पूर्णत: एक समान नहीं है क्योंकि वे अपनी विशिष्ट स्थिति को बनाये हुए हैं। इस प्रकार लाइबनित्स के अनुसार जगत के कोई दो वस्तु पूर्णत: एक समान नहीं है। यदि मोनडों में अभेद होता तो फिर वास्तव में उनमें तादात्म्य होना चाहिए था और तब उनको दो न कहकर एक कहना संगत होता। परंतु दो मोनडो को एक समान मानने का पर्याप्त कारण नहीं है। ईश्वर पर्याप्त कारणता के नियम का जनक है। ऐसी स्थिति में किन्हीं दो मोनडों को एक समान मानने का पर्याप्त कारण नहीं माना जा सकता।

यही लाइबनित्स का अभेदों के तादात्म्य का नियम है, अर्थात् जिनमें भेद नहीं है, वे एक हैं और जिनमें तादात्म्य नहीं है, उनमें भेद है। इसी को मानकर लाइबनित्स बहुतत्ववाद की स्थापना करते हैं। जगत में न तो कोई दो मोनड एक समान है और न ही किन्हीं दो मोनडों के बीच कोई अंतराल (Gap) है। सभी मोनड सक्रिय है। उनमें जो कुछ भी होता है, वह सुषुप्त रूप में पहले से ही उनमें उपस्थित रहता है।

इस अवधारणा के पीछे लाइबनित्ज का व्यक्तिवाद है। व्यक्तिवादी दार्शनिक होने के कारण लाइबनित्ज प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं विशिष्टता का सम्मान करते हैं। इसीलिए वे यह कहते हैं कि समान गुणों से युक्त होने पर भी आनुपातिक भिन्नताओं के कारण प्रत्येक व्यक्ति का विशिष्ट महत्व होता है।

4. शक्ति के संरक्षण का नियम (Law of Conservation of Energy) : मोनडो की शक्ति का योग सदा एक बना रहता है। विश्व में जितनी शक्ति है वह सदा उतनी ही बनी रहती है। न घटती है न बढ़ती है।

लाइबनित्स के दर्शन में जड़-द्रव्य (Matter) एवं विस्तार की व्याख्या

लाइबनित्स के चिदणुवाद की विवेचना के क्रम में स्वभावत: यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि संपूर्ण विश्व चेतना अणुओं से बना है तो फिर जड़-पदार्थ एवं विस्तार का अनुभव क्यों होता है? लाइबनित्स इसका उत्तर मूल-जड़ता (Materia Prima) और गौर जड़ता (Materia Secunda) के आधार पर करते हैं। लाइबनित्स के अनुसार जिन्हें जड़-वस्तु कहा

जाता है, वास्तव में उनपमें भी अल्प मात्रा में चेतना अवश्य विद्यमान होती है और उनमें ये दोनों प्रवृत्तियां पायी जाती हैं।

मूल जड़ता (Materia Prima) : इसके कारण मोनडो में निष्क्रियता आती है। यह वह प्रतिरोधक शक्ति है जो चिदणुओं की गति एवं शक्ति को सीमित करती है। परिणामस्वरूप वे अपना अधिकतम विकास नहीं कर पाते। जिन मोनडों में मूल-जड़ता अधिक होती है, वे जड़ प्रतीत होते हैं। ईश्वर में मूल जड़ता नहीं होती।

गौण जड़ता (Materia Secunda) : इसका आशय समूहन (Collectiveness) की प्रवृत्ति से है। जब अनेक निम्न कोटि के मोनड एक साथ समूहों में रहते हैं, तो उन्हें प्रायः जड़-पदार्थ कह दिया जाता है।

वास्तव में वासतविक सत्ता केवल विस्ताररहित चेतन मोनडों की है जो चेतना की मात्रा के आधार पर श्रृंखलाबद्ध हैं। केवल निम्न कोटि के चिदणुओं के आपस में समूहन के कारण जगत में जड़ द्रव्य अर्थात् विस्तार जैसा प्रतीत होता है, जबकि वास्तव में जगत में विस्तार की वास्तविक सत्ता नहीं है।

लाइबनित्ज के अनुसार क्रियाशील शक्ति संपन्नता ही मोनड का स्वरूप है। यह न केवल चेतन-तत्व, बल्कि जड़-तत्व के संदर्भ में भी सही है। जड़-तत्व और कुछ नहीं बल्कि यह अवरोध (Resistance) और विस्तार (Extension) की शक्ति है। इस तरह जड़ का गुण विस्तार नहीं, बल्कि विस्तार की शक्ति है। इस रूप में जिसे हम जड़ कहते हैं, वह जड़ नहीं है, बल्कि वह शक्तिरूप है।

विभन्न मोनडों के मध्य एकता एवं सामंजस्य की व्याख्या कैसे?

मोनड की विशिष्टता एवं विधिता से लाइबनित्ज विश्व की विविधता की व्याख्या कर देते हैं, किंतु विश्व की विविधता साथ ही एकता और सामंजस्य भी प्रकृति का नियम है। सृष्टि में एकरूपता, व्यवस्था और नियमबद्धता की व्याख्या कैसे हो? और शरीर के मोनड में परस्पर संबंध कैसे हो सकता है? लाइबनित्ज इसकी व्याख्या एवं स्थापना 'पूर्व स्थापित सामंजस्य नियम' (Pre-established Harmony) से करते हैं।

लाइबनित्ज विभिन्न मोनडो के मध्य संबंध की व्याख्या करने के लिए पूर्व स्थापित सामंजस्य का नियम को प्रस्तुत करते हैं। इस नियम के अनुसार ईश्वर ने मोनडो की रचना करते समय उनमें ऐसा सामंजस्य भर दिया है कि एक में परिवर्तन होने पर दूसरे मोनड में भी तदनुरूप परिवर्तन होने लगता है। इन विभिन्न मोनडो में कोई कारण कार्य संबंध नहीं है। ये विभिन्न मोनड परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं करते। विभिन्न मोनड परस्पर स्वतंत्र है। लाइबनित्ज के अनुसार विभिन्न मोनडों में होने वाला परिवर्तन आंतरिक प्रशासन शक्ति से होता है, परंतु बाहर से यह संबंधित प्रतीत होता है। विभिन्न मोनडो में होने वाला परिवर्तन सहचारी (साथ-साथ होने वाला) परिवर्तन है। इन विभिन्न मानडों की क्रिया में पूर्व एवं अपर, कारण एंव कार्य, एवं प्रतिक्रिया का संबंध नहीं होता है।

लाइनित्ज इस नियम को स्पष्ट करने के लिए आर्केष्ट्रा (Orchestra) का उदाहरण है। आर्केष्ट्रा में कई वाद्य यंत्र होते हैं। जब वे कोई तान छोड़ते हैं तो इनमें से प्रत्येक वाद्य यंत्र वादक केवल अपनी क्रिया पर ध्यान देता है। वह दूसरों पर प्रतिक्रिया नहीं करता। फिर भी उन सबके मेल से एक तान निकलता है। इसी प्रकार सभी मोनड अपनी शक्तियों के कारण

क्रियाशील रहते हैं परंतु मोनडो की यह क्रिया ईश्वर के चरम लक्ष्य से समन्वित होकर एक सामंजस्यपूर्ण तरीके से संचालित होती है।

पूर्वस्थापति सामंजस्य का नियम (Doctrine of Pre-established Harmony)

लाइबनित्ज़ के दर्शन में चिदणु गवाक्षहीन हैं। सभी चिदणु स्वतंत्र और क्रियाशील हैं। लाइबनित्ज के समक्ष यह एक जटिल समस्या है कि यदि सभी चिदणु एक दूसरे से स्वतंत्र हैं तो उनमें कोई सम्बन्ध कैसे संभव है? सृष्टि में एकरूपता, व्यवस्था और नियमबद्धता कैसे हो सकती है? आत्मा और शरीर के चिदणुओं में परस्पर सम्बंध कैसे हो सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए लाइबनित्ज ने 'पूर्व स्थापित सामंजस्य के नियम' का प्रतिपादन किया। इय नियम के अनुसार ईश्वर ने सभी चिदणुओं को स्वतंत्र बनाया है। ईश्वर ने उन्हें इस प्रकार बनाया है कि वे एक दूसरे से स्वतंत्र होते हुए भी परस्पर एकता के सूत्र में बँधे हुए हैं। चिदणुओं की यह एकता अथवा सामंजस्य नियम के कारण प्रत्येक चिदणु स्वतंत्र होते हुए भी विश्व की एकता और सामंजस्य को बनाये रखता है। जब ईश्वर ने चिदणुओं को बनाया तो उसी समय उनमें परस्पर सामंजस्य को भी स्थापित कर दिया। यह सामंजस्य चिदणुओं के स्वभाव में ही निहित है। लाइबनित्ज ने इसकी उपमा आर्क्रेस्ट्रा (Orchestra) से दी है। यद्यपि प्रत्येक वाद्ययंत्र की अपनी अलग-अलग स्वर-लहरी (सुरीली आपाज़) होती है, यद्यपि प्रत्येक वाद्ययंत्रों का विशिष्ट स्वर परस्पर सामंजस्यपूर्ण होता है। इसके परिणामस्वरूप एकतान संगीत की उत्पत्ति होती है।

लाइबनित्ज के अनुसार, यद्यपि ईश्वर ने सभी चिदणुओं को स्वतंत्र बनाया है, तथापि उन्हें ऐसा बनाया गया है कि वे स्वभावत: सामंजस्यपूर्ण हों। वे पारस्परिक सामंजस्य के साथ-साथ अपनी चेतन शक्ति का विकास करते हैं। चिदणुओं का अंतिम लक्ष्य परम चिदणु (ईश्वर) की अवस्था को प्राप्त करना है। इससे स्पष्ट है कि चिदणुओं की वैयक्तिकता (विशिष्टता) और अनेकता के होते हुए भी उनमें लक्ष्य की एकरूपता है। प्रत्येक चिदणु का परम श्रेय सर्वोच्च चिदणु बनना है। यहाँ पर लाइबनित्ज का दर्शन स्पिनोजा से भिन्न हो जाता है। स्पिनोजा के नियतिवाद के विपरीत लाइबनित्ज प्रयोजनवादी है।

अपने पूर्वस्थापित सामंजस्य-नियम के द्वारा लाइबनित्ज डेकार्ट और स्पिनोजा के नियतिवाद के दर्शन की एक अत्यन्त जटिल समस्या-आत्मा और शरीर के सम्बंध का भी समाधान करता है। आत्मा और शरीर में में किसी प्रकार का यांत्रिक सम्बंध नहीं है। द्वैतवादी होने के कारण डेकार्ट आत्मा और शरीर में किसी प्रकार का यांत्रिक सम्बंध नहीं है। द्वैतवादी होने के कारण डेकार्ट आत्मा और शरीर में अंतर्क्रिया (क्रिया-प्रतिक्रिया) का सम्बंध मानता है। स्पिनोजा ने आत्मा और शरीर के द्रव्यात्मक द्वैत को गुणात्मक द्वैत में बदल दिया। वह विचार और विस्तार को परस्पर समानान्तर मानता है। लाइबनित्ज ने इनमें से किसी भी सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया है। वह डेकार्ट के अनुयायियों के द्वारा प्रतिपादित संयोगवाद को भी नहीं स्वीकार करता है। लाइबनित्ज कहता है कि आत्मा के चिदणुसमूहों और शरीर के चिदण ुओं में उनकी सर्जना के समय से ही सामंजस्य एवं साहचर्य पाया जाता है। इस प्रकार आत्मा और शरीर का सम्बंध पूर्वस्थापित सामंजस्य के नियम पर आधारित है।

लाइबनित्ज विश्व की जैविक अवयवी (Organic) अवधारणा पर विशेष बल देता हैं। ईश्वर ने विश्व की व्यवस्था इस प्रकार की है कि उसे विश्व में हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता है।

विश्व में पूर्ण सामंजस्य है।[2] यद्यपि विश्व में प्रत्येक वस्तु की व्याख्या यांत्रिक ढंग से की जा सकती है क्योंकि उसमें एक व्यवस्था, नियम और एकता है, किन्तु यह नियम, व्यवस्था और एकरूपता किसी न किसी उच्च लक्ष्य की ओर संकेत करती है। यह परम लक्ष्य ईश्वर ही हो सकता है जिसे सृष्टि का मूल आधार कहा जा सकता है। ईश्वर ही समस्त घटनाओं का परम कारण और अंतिम लक्ष्य है। जगत् की सभी वस्तुएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। जगत् में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का प्रभाव संसार के हर एक पिण्ड में देखा जा सकता है। जब लाइबनित्ज चिदणुओं को गवाक्षहीन कहता है तो इसका निहितार्थ यह नहीं है कि वे परस्पर एक-दूसरे से पूरी तरह असम्बद्ध हैं। लाइबनित्ज के कहने का निहितार्थ यह है कि चिदणुओं में किसी प्रकार का दैशिक और कालिक सम्बन्ध नहीं है। देश और काल के अंतर्गत आने वाले यांत्रिक सम्बन्धों में चिदुण मुक्त हैं क्योंकि वे स्वरूपत: आध्यात्मिक (चेतन) हैं। पूर्वस्थापित सामंजस्य चिदणुओं के बीच में आध्यात्मिक (आन्तरिक) सम्बन्ध का विधान करता है क्योंकि यह सम्बंध ईश्वर के द्वारा स्थापित किया गया है। लाइबनित्ज के अनुसार जिसे यांत्रिक सम्बन्ध समझा जा रहा है वह एक उच्च स्तरीय आन्तरिक सम्बन्ध पर निर्भर है। इससे स्पष्ट है कि एक चिदण ु पर अन्य चिदणुओं का प्रभाव तार्किक दृष्टि से पड़ता है। वस्तुत: यह प्रभाव ईश्वरकृत है। अत: विश्व की व्यवस्था आध्यात्मिक है।

लाइबनित्ज ने प्रकृति की यांत्रिक व्यवस्था और दैवी कृपा पर आधारित नैतिक व्यवस्था में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। ईश्वर इस विश्व रूपी मशीन (चिदणुओं की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था) का स्त्रष्टा है। वह व्यष्टि रूप में एक-एक चिदणु का रचियता नहीं है, बल्कि संपूर्ण विश्व की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था का स्त्रष्टा है। अत: प्रत्येक चिदणु अपने जन्म से पहले ही विद्यमान है। उसका स्त्रष्टा होने के साथ-साथ ईश्वर इस व्यवस्था का नियामक और सर्वोच्च शासक है। चूँकि चिदणुओं का आविर्भाव ईश्वरीय चमत्कार से हुआ है, इसलिए वे ईश्वरीय इच्छा से ही नष्ट हो सकते हैं। ईश्वर के द्वारा बनायी गयी यह व्यवस्था चिदणुओं में निहित हैं, जिसे 'पूर्व-स्थापित सामंजस्य का नियम' कहा जाता है।

यह सिद्धांत अत्यंत विवादास्पद है। ईश्वर पूर्व-स्थापित सामंजस्य के नियम का स्त्रष्टा होते हुए भी चिदणु होने के कारण स्वयं भी इस नियम से बँधा हुआ है। अत: रसल ने इस सिद्धांत की कटु आलोचना की है। उसके अनुसार गवाक्षहीन चिदणुओं के लिए इस नियम की कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती है। **चिदणुओं की गवाक्षहीनता, उनकी शाश्वत शृंखला एवं उनके सामंजस्यपूर्ण संबंध इत्यादि मान्यताएँ परियों की कहानियों जैसा तिलिस्मी गल्प प्रतीत होता है।** इस प्रकार उसका दर्शन एक मानसिक व्यायाम मात्र प्रतीत होता है। रसल के अनुसार चिदणुवाद और ईश्वरवाद दोनों सिद्धांत साथ-साथ नहीं चल सकते हैं। यदि ईश्वर को चिदणुओं की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था का स्त्रष्टा माना जाय जो ईश्वर स्वयं चिदणु कैसे हो सकता है? यदि चिदणुवाद को स्वीकार कर लिया जाय तो ईश्वर को चिदणुओं की व्यवस्था में ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है। **ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसके दर्शन में ईश्वर बलात् थोप दिया गया हो। रसल के अनुसार ईश्वरवाद लाइबनित्ज के दर्शन का एक ढोंग है। उसका वास्तविक दर्शन चिदणुवाद है।**[1]

किन्तु यदि रसल की इस आलोचना को स्वीकार कर लिया जाय तो लाइबनित्ज का सम्पूर्ण दर्शन ही ध्वस्त हो जायेगा। उल्लेखनीय है कि पूर्व स्थापित सामंजस्य-नियम के बिना चिदणुवाद की स्थापना नहीं की जा सकती है। चूँकि इस सार्वभौम नियम का सूत्रधार ईश्वर है, इसलिए ईश्वर के अभाव में सामंजस्य-नियम की व्याख्या नहीं की जा सकती है। अत: यह आलोचना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि ईश्वरवाद लाइबनित्ज के दर्शन का पाखंड है।[2]

ईश्वर

लाइबनित्स ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये चार प्रमाण प्रस्तुत करते हैं; ये हैं :

1. सत्तामूलक प्रमाण
2. विश्वकारण प्रमाण
3. शाश्वत सत्ताओं आधारित प्रमाण
4. पूर्व स्थापित सामंजस्य सम्बंधि प्रमाण

1. सत्तामूलक तर्क अस्तित्व और सार के मध्य अन्तर पर निर्भर है। सामान्यत: हम कहते हैं कि वस्तुएं या प्राणी अस्तित्व में हैं और उनके कुछ अनिवार्य गुण हैं जो उन वस्तुओं या प्राणियों का सार है। यह भी कल्पना करना सम्भव है कि कुछ वस्तुएं या प्राणी अनेक विशेषताएं रखते हैं। कुछ विद्वान इसे यह कहकर व्यक्त करते हैं कि परिमित द्रव्य के प्रकरण में, सार अस्तित्व को प्रतिपादित नहीं करता है। लेकिन ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। ईश्वर को सर्वाधिक सम्पूर्ण तत्व के रूप में परिभाषित किया जाता है और इसलिए अन्सलेम और दकार्त ने तर्क दिया कि ईश्वर में सार अस्तित्व को प्रतिपादित करता है। इन दोनों के अनुसार, ईश्वर में सम्पूर्ण परिपूर्णता होती है, वह अस्तित्व में न रहे, इससे अच्छा है कि वह अस्त्वि में रहे। लाइबनित्स ने सत्तामूलक तर्क को इस स्वरूप में नहीं माना। उनके लिये ईश्वर के संभव होने की युक्ति को सिद्ध करना अति आवश्यक है। अत: लाइबनित्स ने पहले सिद्ध किया कि समस्त परिपूर्णता परस्पर संगत हैं और वह इसलिये क्योंकि परिपूर्णता एक साधारण गुण है जो सकारात्मक और पूर्ण है। इससे सिद्धांत की आलोचना यह कहकर की है कि अस्तित्व कोई विधेय नहीं है। जिससे कि यह अनिवार्य रूप से अपने विषय (ईश्वर) में रहे ही।

2. लाइबनित्स के विश्वकारण प्रमाण का वर्णन पर्याप्त हेतु के सिद्धांत पर आधारित है। विश्वकारण का तर्क प्रथम कारण का तर्क है। प्रत्येक प्रभाव का एक कारण होता है और कारणत्व की शृंखला अपरिमित नहीं हो सकती इसलिये इसका किसी अकारण वाले कारण में समाप्त हो जाना अनिवार्य है। लाइबनित्स इस तर्क को दूसरे रूप में रखते हैं। वह कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का अपना एक पर्याप्त तर्क होना अनिवार्य है। और इसलिए सम्पूर्ण ब्रह्माण का एक पर्याप्त हेतु होना चाहिए। यह हेतु ब्रह्माण्ड के बाहर होना चाहिए और यह पर्याप्त हेतु ही ईश्वर है। प्रत्येक घटना या सब कुछ की व्याख्या की प्रक्रिया अपरिमितता कारणों की ओर जाती है। लेकिन इस पूरी कारणों की अनिश्चित शृंखला के बाहर एक अंतिम हेतु या पर्याप्त हेतु होना चाहिए, फिर चाहे वह अपरिमित ही क्यों न हो। यह अंतिम या पर्याप्त हेतु अवश्य ही एक अनिवार्य द्रव्य में स्थित होना चाहिए। यही वह द्रव्य है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। यह द्रव्य सभी विवरणों का पर्याप्त हेतु होने के कारण, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से जुड़ा हुआ है। यही वह एक ईश्वर है। लाइबनित्स के अनुसार, यह एक अनुभव आधारित तर्क है।

विश्वकारण प्रमाण का लाइबनित्स का संस्करण, सीधे-सीधे प्रथम-कारण तर्क की अपेक्षा अच्छा है। प्रथम-कारण तर्क इस कल्पना पर आधारित है कि प्रत्येक शृंखला के पास पहला शुरुवाती बिन्दु होना चाहिए। यह दिखाना आसान है कि यह परिकल्पना गलत है क्योंकि उचित भिन्नों की शृंखला में पहला पद नहीं होता है। लेकिन लाइबनित्स का तर्क इस दृष्टिकोण पर निर्भर नहीं है कि ब्रहमाण्ड का प्रारम्भ किसी समय विशेष में हुआ होना

चाहिए। लाइबनित्स ने अनिवार्य और आपातिक कथनों में अन्तर बनाये रखा है। उन्होंने समस्त अस्तित्वपरक कथनों, केवल ईश्वर के अस्तित्व को छोड़कर, को आपातिक कथन कहा है विश्व निर्माण के समय ईश्वर अनिवार्य रूप से अस्तित्वमान होता है वह किसी तर्क से बाह्य होकर सृष्टि निर्माण नहीं करता है बल्कि वह अपने मुक्त चयन से अपनी अच्छाई द्वारा प्रेरित होकर विश्व निर्माण करता है।

कांट ने उपयुक्त तर्क की आलोचना यह कहकर की है कि यह तर्क सत्तामूलक तर्क पर निर्भर है। यदि इस संसार का अस्तित्व किसी अनिवार्य तत्व (ईश्वर) के कारण है, तब उसके सार तत्वों (गुणों) का भी अस्तित्व होना चाहिए। इसलिए सत्तामूलक तर्क की कमियां विश्वकारण तर्क पर भी लागू होती है।

3. शाश्वत सत्य आधारित तर्क का निश्चित रूप बताना थोड़ा कठिन है। सरल रूप में यह तर्क बताता है कि अनिवार्य रूप से सत्य कथन शाश्वत सत्य कहलाता हैं। उदाहरण के लिए, 'चार धन चार आठ' होता है। यह सदैव सत्य है। जबकि कथन 'वर्षा हो रही है' सत्य भी हो सकता और असत्य भी। इसलिये ऐसे कथन (अस्तित्व परक कथन) अनिश्चित होते हैं। तर्क यह है कि सत्य का निष्कर्ष मन की विषय-वस्तु होती है, और इसलिए शाश्वत सत्य एक शाश्वत मन के भीतर होने चाहिए। आपातिक/अनिश्चित सत्यों का तार्किक आधार अनिवार्य सत्य में होना चाहिए। इस पूर्ण अनिश्चित संसार का तार्किक आधार अनिवार्य सत्य में होना चाहिए। इस पूर्ण अनिश्चित संसार का तार्किक आधार अनिवार्य सत्य में होना चाहिए। प्रश्न यह उठता है कि किसी सत्य का मन में अस्तित्व 'होने' से क्या तात्पर्य है? तथापि मन ही सत्यों को ग्रहण करता है किंतु फिर भी इस संदर्भ में 'अस्तित्व' का अर्थ धुँधला हो जाता है। सत्य यह है कि शाश्वत सत्य सुसंगत होने से शाश्वत सत्य होते हैं।

4. पूर्व-स्थापित सामंजस्य का तर्क विश्व प्रारूप का लाइबनित्सवादी संस्करण है। यह तर्क उनके मोनड के सिद्धांत का अनुसरण करता है। मोनड; जो ब्रह्माण्ड को प्रतिबिम्बित करते हैं। मोनड पारस्परिक क्रिया नहीं करते, फिर भी वे उन घड़ीयों की तरह हैं, जो सदैव एक ही समय पर एक ही समय दिखाती हैं। यह इसलिए सम्भव होता है क्योंकि उन्हें एक मात्र बाह्य कारण (ईश्वर) संचालित करता है। लाइबनित्स की तत्वमीमांसा के उद्धरण के बिना, केवल यह कहा जा सकता है कि संसार की निरीक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विश्व उद्देश्य विहीन शक्तियों का उत्पादन नहीं है बल्कि इसमें एक परोपकारी उद्देश्य निहित है।

इस तर्क के आधारवाक्य अनुभविक हैं और इसमें कोई औपचारिक तार्किक गलती नहीं है। एक परोपकारी रचनाकर्ता को स्वीकार करके लाइबनित्स के लिये अशुभ की समस्या को संबोधित करना अनिवार्य हो जाता है। वह तीन प्रकार के अशुभ की बात करते हैं: तत्वमीमांसीय, भौतिक और नैतिक। तत्वमीमांसीय अशुभ परिमित प्राणियों में अंतर्निहित अपूर्णता है। भौतिक बुराई पाप के दण्ड के उद्देश्य को पूरा करने के लिए आवश्यक है। नैतिक अशुभ लाइबनित्स के लिये मुख्य समस्या थी। ईश्वर ने सभी संभव संसारों में सबसे अच्छे संसार की रचना की जिसमें मुक्त इच्छा का होना अनिवार्य है। इसलिए अशुभ के लिए ईश्वर उत्तरदायी नहीं है। संसार में सामंजस्यता के कारण सभी वस्तुएं ईश्वर कृपा की ओर प्रगति करती हैं। संवेदनशील शरीरात्माएं आत्मा के स्तर पर पहुंच जाती हैं। आत्माओं की लयबद्ध एकता ईश्वर के नगर को बनाती है; एक प्राकृतिक संसार के भीतर नैतिक संसार को बनाती है।

लाइबनित्ज के दर्शन में मन-शरीर संबंध की व्याख्या

लाइबनित्ज से पूर्व डेकार्ट ने मन और शरीर को परस्पर भिन्न एवं परस्पर स्वतंत्र द्रव्य के रूप में मानकर इनके मध्य संबंध स्थापना हेतु क्रिया-प्रतिक्रियावाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया। स्पिनोजा मन और शरीर को द्रव्य की श्रेणी से हटाकर एक ही ईश्वर (द्रव्य) के दो समानान्तर गुणों के रूपों में स्थापित करते हैं।

लाइबनित्ज के अनुसार मन और शरीर न तो दो परस्पर स्वतंत्र द्रव्य हैं और न ही एक ही द्रव्य के दो भिन्न भिन्न गुण हैं। लााइबनित्ज के अनुसार संसार में कोई भी ऐसी सत्ता नहीं है जो विशुद्ध रूप से जड़ात्मक (भौतिक) हो। जो जड़ तत्व के रूप में प्रतीत होता है, उसमें भी चेतना अल्प मात्रा में अवश्य रहती है। इस प्रकार लाइबनित्ज ने अपने दर्शन में जड़ और चेतन के द्वैत को दूर करने का प्रयास किया है।

लाइबनित्ज के अनुसार शरीर अनेक निम्न कोटि के मानडो का संस्थान हैं। आत्मा इस संस्थान का संबंध विकसित एवं सक्रिय मोनड है। मन (आत्मा) और शरीर में गुणात्मक भेद न होकर मात्रात्मक भेद है। शरीर निम्न कोटि का मोनड है, जिसमें चेतना की मात्रा कम है। दूसरी ओर आत्मा (मन) उच्च कोटि का मोनड है, जिसमें चेतना की मात्रा अधिक है। लाइबनित्ज के अनुसार यद्यपि मन और शरीर दोनों परस्पर स्वतंत्र हैं, परंतु दोनों सहचारी हैं। ईश्वर ने मोनडो की रचना करते समय ही इनमें ऐसा सामंजस्य भर दिया है कि एक में परिवर्तन होने पर दूसरे में भी उसके अनुरूप परिवर्तन होने लगता है। जैसे कि दो परस्पर भिन्न एवं स्वतंत्र घड़ियों में साहचर्य संबंध घड़ीसाज द्वारा आरंभ से ही स्थापित कर दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप उनमें सहचारी परिवर्तन (साथ साथ परिवर्तन) होता है। स्पष्ट है कि मन और शरीर में कारण-कार्य संबंध या क्रिया-प्रतिक्रिया का संबंध नहीं है, जैसा कि डेकार्ट ने माना था।

लाइबनित्ज के अनुसार विभिन्न मोनडों में होने वाला परिवर्तन आतंरिक प्रयासन शक्ति के कारण होता है, परंतु बाहर से यह संबंधित प्रतीत होता है। विभिन्न मोनडों में होने वाला परिवर्तन साहचर्य परिवर्तन है। इन विभिन्न मोनडों की क्रिया में पूर्व एवं अपर, कारण एवं कार्य, क्रिया एवं प्रतिक्रिया का संबंध नहीं होता। स्पष्ट है कि मोनडो की विशिष्टता एवं भिन्नता होते हुए भी उनमें लक्ष्य की एकरूपता है।

देश-काल की सापेक्षता

लाइबनित्स के अनुसार, देश और काल सापेक्ष हैं। देश सहअस्तित्व की व्यवस्था है और काल अनुक्रम की व्यवस्था है, जब हम यह सोचते हैं कि विभिन्न वस्तुएं सहअस्तित्व में रहती हैं, तब हमारे पास सहअस्तित्व की क्रमिक व्यवस्था के रूप में देश होता है। देश में विभिन्न वस्तुएं कुछ समबन्धों में होती हैं। फिर, जब हम यह कल्पना करते हैं कि कुछ भी वास्तविक रूप से अस्तित्वमान नहीं हैं, तब भी सभी सम्भव स्थितियों के बारे में सोचते हैं। वास्तव में, इस स्थिति में हमारे पास वास्तविकता से पृथक अमूर्त रूप से देश का प्रत्यय होता है। इस तर्क के द्वारा लाइबनित्स अमूर्त देश की संकल्पना की वास्तविकता को नकार देते हैं। उनके अनुसार, देश सम्भव तार्किक अनुक्र से फलित प्रत्यय मात्र है। काल भी तार्किक है यदि दो घटनाएं अ और ब एक साथ नहीं हुई हैं और यदि वे एक दूसरे से संबधित हैं, तो हम कहते हैं कि ब, अ के बाद है या अ ब से पहले है। अमूर्त काल जैसा कुछ नहीं होता

है। देश और काल दोनों आदर्श रूप हैं। आगे, लाइबनित्स बताते हैं कि जब क अ के स्थान पर ब, स, द, के सापेक्ष आता है, तो हम कहते हैं कि क ने अ का स्थान ले लिया है। जब हम यह कहते हैं तो अनुभव करते हैं कि 'देश' क और अ में अन्तर्निहित है और वास्तविक है। यद्यपि, यह वह प्रकरण नहीं है, क्योंकि सहअस्तित्व का 'स्थान' केवल सम्बन्धों द्वारा निश्चित होता है। एक सम्बन्ध सम्बन्धित वस्तुओं में 'संयोग' या 'गुणों' की कल्पना करता है और कोई भी दो वस्तु समान 'गुण' नहीं रख सकती। इसलिए, सटीकता में 'क' 'अ' के समान संबंध अर्जित नहीं करता जैसा कि पहले 'अ' के पास था। देश एक मानसिक अमूर्तता है, एक प्रत्यय है लेकिन वास्तविक नहीं है। केवल सम्बन्ध जो मानसिक संरचना के आधार हैं वे ही वास्तविक हैं।

इन तर्कों के साथ, लाइबनित्स सिद्ध करते हैं कि रिक्त देश और रिक्त काल विसंगतिपूर्ण विचार है। देश जैसा यह अनुभूत होता है और जैसा भौतिकी में माना जाता है वह सत्य नहीं है। मोनड, जो सरल द्रव्य है आत्मा से सादृश्यता के आधार पर ग्रहण किये जाते हैं, ही केवल वास्तिक द्रव्य हैं। मोनड की तीन आयामी व्यवस्था संसार को प्रतिबिम्बित करती है। प्रत्येक मोनड संसार को स्वयं के दृष्टिकोण से विशेष स्वरूप में देखता है। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक मोनड की एक विशेष दैशिक स्थिति होती है। गति के नियमों को सूत्रबद्ध करने में, वैज्ञानिक को यह निश्चित करना पड़ता है कि कौन गति कर रहा है और गति कहाँ हो रही है। पहला दृष्टिकोण यह है कि पदार्थ के परमाणु, जो विस्तार स्वरूप होते हैं किंतु अदृश्य होते हैं, रिक्त स्थान में गति करते हैं। एक दूसरे के सम्पर्क के रिक्त स्थान में गति उत्पन्न करते हैं। तीसरी परिकल्पना देकार्त की परिकल्पना है कि भौतिक पदार्थ मूल रूप से विस्तारवान होते हैं। लाइबनित्स को यह आपत्ति थी कि ये सभी ये मान लेते हैं कि गति एक प्रकार के अक्रिस तत्वों को दी जाती है। इन आपत्तियों से उसका यह दृष्टिकोण निकलता है कि परम तत्व आवश्यक रूप से क्रियशील, अविस्तारित होते हैं और वे किसी माध्यम में यहाँ तक कि रिक्त देश में भी नहीं रहते हैं। परम् तत्व मोनड है। साधारण तत्व देश के संदर्भ में निरूपित नहीं किये जा सकते। गति के नियमों में परमाणु तम्व के रूप में कार्य नहीं कर सकते। परमाणु का सार विस्तार है और यह संघात को नहीं रोक सकता क्योंकि इससे गति संघात के साथ समाप्त हो जायेगी। लाइबनित्स पुष्टि करते हैं कि तत्व ऐसा होना चाहिए जो कि संघात का प्रतिरोध कर सके। इस प्रकार अनिवार्य गुण बल है न कि विस्तार।

लाइबनित्स न्यूटन के विशुद्ध देश का विशिष्ट तर्कों द्वारा विरोध करते हैं। लाइबनित्स बताते हैं कि रिक्त देश और काल की धारणा अतार्किक है। उनका पहला तर्क धर्मशास्त्रीय है। वह कहते हैं कि यदि रिक्त देश होता तो इसका अर्थ होता कि एक प्रज्ञावान और उदार प्राणी (ईश्वर) ने इसमें वस्तुओं/सत्ताओं को रखने के अवसर को खो दिया, जो कि विसंगतिपूर्ण है। दूसरा तर्क पर्याप्त हेतु का सिद्धांत और अबोधगम्य की तादात्म्यता के नियम का प्रयोग करता है। प्रत्येक वस्तु-स्थिति के लिए पर्याप्त तर्क होता है। कोई वस्तु-स्थिति के लिए पर्याप्त तर्क होना चाहिए; अन्यथा विभिन्न वस्तु-स्थितियां अबोधगम्य हो जाएगी और इसलिए एक समान होगी। यदि यह सत्य है, तो ईश्वर बिना तर्क के कार्य करता है। यही समान तर्क रिक्त काल पर भी लागू होता है। जगत को एक विशेष समय में बनाने और किसी दूसरे समय में नहीं बनाने का प्रर्याप्त तर्क नहीं होने से यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर ने बिना तर्क के कार्य किया है। विश्व निर्माण की प्रक्रिया में केवल 'अन्तिम कारण' ही सत्य कारण है और समस्त मोनड अपनी क्रियाओं को सबसे अच्छे की ओर ले जाते हैं। यही समान तर्क परमाणुवाद को भी

खण्डित करता है। फिर, ऐक्य विस्तारित वस्तु से सम्बंधित नहीं हो सकता जो केवल भागों का समुच्चय मात्र होता है। एक्य केवल 'पूर्णत: वास्तविक तत्व' में सम्भव हो सकता है, जैसे कि मन (समस्त क्रियाओं का केन्द्र)। मन एकात्मकता और क्रिया में मोनड के समान है। इस प्रकार लाइबनित्स कहते हैं कि परम तत्व देश, काल और पदार्थ के परिपेक्ष्य में वर्णित नहीं किये जा सकते। मोनड की शृंखला देश की सत्ता का वास्तविक प्रतिरूप है।

ज्ञान-मीमांसा (Epistemology)

शायद लाइबनित्स की देन दार्शनिक विचारधारा में ज्ञान-मीमांसा के सम्बंध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझी जायगी; क्योंकि इसमें काण्ट और समसामयिक तर्कीय प्रत्यक्षवाद की बहुत बातों का पूर्वाभास देखने में आता है। अब लाइबनित्स की ज्ञान-मीमांसा को स्पष्ट करने के लिए देकार्त और लॉक के मत का भी यहाँ संकेत करना अनिवार्य है।

देकार्त के मत के अनुसार हमारे प्रत्ययों (ideas) में कुछ आत्मजात (innate) है। ये आत्मजात प्रत्यय स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो सकते है और जब ये स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो जाते है तब सत्य ज्ञान हमें प्राप्त होता है। ठीक इसके विपक्ष में लॉक का मत है। लॉक के अनुसार कोई भी प्रत्यय आत्मजात नहीं है और वे सब-के-सब जन्म के बाद इन्द्रियानुभव से ही प्राप्त होते है। अत: ज्ञान अनुभव तक ही सीमित रहता है। अनुभव केवल हमें यही बता सकता है कि घटनाएं अमुक रीति से होती आयी है, और अनुभव के आधार पर नहीं कहा जा सकता है कि घटनाऐं अवश्यमेव इसी रीति से होती जायेंगी। उदाहरणार्थ, अनुभव के आधार पर हम नहीं कह सकते है कि सभी मनुष्य अवश्य ही मरणशील है; क्योंकि कम-से-कम हम सोच सकते है कि मनुष्य अमर हो सकते है। अत: युक्तिसंगत रूप में अनुभव पर आधारित ज्ञान आपातिक (contradictory) या असंगत बात है। 'There is nothing in the intellect which was not previously given in the senses.'

लाइबनित्स ने देकार्त और लॉक के बीच ऐसे मध्यमार्ग का अनुसरण किया है कि उनकी समस्याओं का समाधान हो जाय। चूँकि लाइबनित्स के बाद काण्ट ने इसी समीक्षावाद (criticism) को विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है, इसलिए लाइबनित्सी मत को काण्ट के समीक्षावाद का पूर्वाभास कहा जा सकता है। देकार्त और लॉक के मत को समन्वित करने के लिए लाइबनित्स ने सूझ रखी है कि न यह कहना ठीक है कुछ ही प्रत्यय आत्मजात हैं और न यह मानना ठीक है कि कोई भी प्रत्यय सहजात नहीं है। वास्तव में सभी प्रत्यय सहजात है; क्योंकि सभी प्रत्यय गवाक्षहीन चिद्बिन्दु या मोनड के अन्दर है और कोई भी प्रत्यय बाहर से अन्दर नहीं आ सकता है। परन्तु यद्यपि सभी प्रत्यय सहजात हैं तो वे सब एक ही अवस्था में नहीं रहते है। इन प्रत्ययों की स्पष्टता में प्रयासन (appetition) के कारण विकार होता रहता है। प्रारम्भ में सभी प्रत्यय अनिश्चित तथा धुँधले रहते है और अनुभव-वृद्वि के साथ धीरे-धीरे कुछ प्रत्यय अन्त में स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो जाते है। अनिश्चित तथा धुँधले प्रत्यय को इन्द्रियज्ञान या संवेदना कहते हैं और परिस्पष्ट तथा स्पष्ट प्रत्यय को विचार कहते है। अत:, हम कह सकते कि ज्ञान संवेदनाओं से प्रारम्भ होता है और स्पष्ट विचारों के चरम सीमा को प्राप्त करता है। (Knowledge begin with senses and ends in reason.) देकार्त की गलती यह थी कि वे स्पष्ट प्रत्ययों को ही ज्ञान के अन्तर्गत गिनते थे और लॉक की गलती थी कि वे संवेदनाओं के ही आधार पर ज्ञान की ईमारत खड़ी करना चाहते थे। ज्ञान के अन्तर्गत दोनों रहते है। दोनों की गलती है कि वे संवेदनाओं और परिस्पष्ट प्रत्ययों के बीच अनेक अति क्षीण

तथा निर्विकल्पक (indistinct) प्रत्ययों को, जिन्हें अति क्षुद्रतर संवेदना (petites perception) कहते हैं, तिरस्कृत कर देते है। सत्य ज्ञान परिस्पष्ट प्रत्ययों से बनता है, परन्तु इसकी बुनियाद संवेदनाओं में ही देखी जाती है।

इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि देकार्त के अनुसार ज्ञान अनिवार्य (necessary) होता है और लॉक संगत रूप से केवल आपातिक ज्ञान को ही स्वीकार कर सकते है। परन्तु वास्तव में हमें समझना चाहिए कि प्रारम्भ में ज्ञान आकस्मिक अथवा आपातिक होता है और अनुभव-बुद्धि के साथ यह अनिवार्य हो जाता है।

लाइबनित्स के मतानुसार देकार्त और लॉक दोनों की ज्ञान-मीमांसा इसीलिए संकुचित हो जाती है कि दोनों 'मन' को केवल चेतन मानते है। परन्तु ऐसा समझना सर्वथा गलत है। यदि मन के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए चेतन का रहना अनिवार्य माना जाय तो हमें कहना पड़ेगा कि निद्रावस्था, बेहोशी इत्यादि में मन लोप हो जाता है; क्योंकि इन दशाओं में चेतना नहीं पाई जाती है। परन्तु सोकर उठने के बाद भी हमें मालूम देता है कि हमारे मन की अवस्थाओं में तारतम्य (continuity) है। अतः, निद्रावस्था तथा बेहोशी में भी चेतना रहती है, परन्तु इसकी मात्रा कम हो जाती है। इसलिए हमें स्वीकार करना चाहिए कि मन अर्धचेतन रूप में भी रह सकता है। अतः सहजात प्रत्ययों के खण्डन के सम्बन्ध में लॉक की दी हुई युक्ति अमान्य ठहराती है।

फिर लॉक ने अनुभववाद के प्रसंग में कहा है कि There is nothing in the intellect which was not previously given in the senses. कुछ दूर तक लाइबनित्स भी इस बात को स्वीकार करते है; क्योंकि उनके अनुसार सभी ज्ञान संवेदनाओं से प्रारम्भ होते है। परन्तु संवेदनाओं बाह्य जगत् से मोनड के अन्दर नहीं जाती है। सब इन्द्रियानुभूति मोनड के अन्दर ही पैदा होती है और इसलिए यदि हम मान भी लें कि ज्ञान संवेदनाओं से आरम्भ होता है तो भी लाइबनित्स के सहजात प्रत्ययों के मत का खण्डन नहीं होता है। फिर लाइबनित्स ने लॉक की इस युक्ति में एक महत्वपूर्ण संशोधन जोड़ दिया है। nisi ipse intellectus अर्थात् बुद्धि स्वयं किसी संवेदना से उत्पन्न नहीं होती है। लाइबनित्स के इस संशोधन का अभिप्राय है कि संवेदनाओं से सभी ज्ञान प्रारम्भ हो सकते है, परन्तु संवेदन अर्थात् सम्वेदन-शक्ति स्वयं जन्मजात है और यह शक्ति स्वयं संवेदनाओं की देन नहीं है। यदि संवेदनाओं को ग्रहण करने की क्षमता प्रागनुभव न होती तो संवेदनायें भी सम्भव नहीं हो सकती है। अतः अनुभव की सम्भावना मात्र के लिए प्रागनुभव (a pariori) बुद्धि का होना अनिवार्य है। अब आगे चलकर हम देखेंगे कि इसी सिलसिले में काण्ट ने लाइबनित्स के इस मत कों विस्तारपूर्वक समझाया है और इसी से लाइबनित्सी मत को काण्टीय ज्ञान-मीमांसा का पूर्वाभास कहा जाता है।

ज्ञान में दो प्रकार के अर्थपूर्ण वाक्य (proposition) पाये जाते है। एक को हम अनिवार्य (necessary) और दूसरे को आपातिक अथवा संयोगात्मक (accidental) वाक्य कहते है। अनिवार्य सत्यता वह है जिनमें (mathematical) अनिवार्यता तथा बाध्यता हो, अर्थात् ऐसी सत्यता हो जिसका विपक्ष हम सोच भी नहीं सकें। इस प्रकार की सत्यता ज्यामितिक युक्तियों ने देखी जाती है। यदि हम 2 'और', 4 तथा 'योगफल' का अर्थ समझते हों, तो हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 2+2=4। इस प्रकार की सत्यता आत्मासिद्ध और आत्मसंगत (self-consistent) होती है जो अन्त में अव्याघात (non-contradiction) नियम पर आधारित होती है। इस प्रकार की सत्यता जटिल वाक्यों में भी देखी जा सकती है, पर अन्त में ऐसे वाक्यों

के विश्लेषण करने में सरल तादात्मयीय (identical) वाक्य हमें स्पष्ट मिल जाते है। फिर लाइबनित्स का मत था कि अनिवार्य सत्यता वह है, जो किसी भी उद्देश्य से रहित हो। इसी अर्थ में स्पिनोजीय सत्यता को लाइबनित्स ने अनिवार्य सत्यता वह है, जो किसी भी उद्देश्य से रहित हो। इसी अर्थ में स्पिनोजीय सत्यता को लाइबनित्स ने अनिवार्य सत्यता कहा है; क्योंकि स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर में इच्छा है ही नही, और इसलिए उसमें किसी प्रकार का उद्देश्य नहीं है।

अनिवार्य सत्यता के अतिरिक्त आपातिक सत्यता वह है जो नैतिक (moral) तथा वास्तविक स्थितियां में संचालित हो। इन दोनों सत्यताओं के बीच अन्तर करते हुए लाइबनित्स ने 'Theodicee' में इस प्रकार लिखा है: 'It would be impossible to choose a more suitable method to show the difference there is between the moral necessity which rules the choice of wise and the brute necessity of Strabo and Spinozists, who allow God neither undersatanding not will than to consider the different between the reason for the laws of motion and reason for the ternary member of dimensions the former consisting in the choice of what is best, and the latter in a geometrical and blind necessity.' अत:, प्रकृति के नियम आपातिक है; क्योंकि ईश्वर ने इसे सर्वश्रेष्ठ बनाने के उद्देश्य से ही रचा है। यदि ईश्वर के अन्दर दूसरा उद्देश्य होता तो वे इन नियमों को बदलकर अन्य नियमों की स्थापना करते। इसलिए आपातिक सत्य वह है, जिसके विपक्ष की कल्पना हम कर सकते है। इस अर्थ में वास्तविक जगत् के सम्बन्ध की सभी बातों को हम आपातिक सत्य ही कह सकते है। निस्सन्देह वह मेज जिस पर हम लिख रहे हैं, काली है। पर हम सोच सकते है कि वह मेज काली न होकर भूरी या हरी हो। अब जिस रीति से अनिवार्य सत्य अव्याघात के नियम पर आधारित है, उसी प्रकार आपातिक सत्य पर्याप्तता (sufficiency) या पर्याप्त हेतु (sufficient reason) पर आधारित है। इस विषय में लाइबनित्स ने 'Monadology' ने लिखा है कि 'Sufficient reason is that by which we believe that no fact can be true or real no statement trustworthly, unless there is sufficient reason, why it should be so and not otherwise, although in the greater number of cases we cannot know these reasons.' यह ठीक है कि कुछ दूर तक हम यह कह सकते है कि क्यों यह मेज काली है और क्यों यह कमरे के पूरब में रखी है, इत्यादि। यह सब हेतु मेज़ के रखने वाले की इच्छाओं पर तथा कमरे की स्थिति पर, तथा धूप-पानी के विचार इत्यादि पर निर्भर करता है। अत: सभी वस्तुओं की संयोगी सत्यता को दिखाने के लिए हम प्रकृति-विधान तथा वास्तविकता की बात के आधार पर अपने हेतु (reason) को रख सकते है, तो भी हमारे हेतु कभी भी इतने सम्पूर्ण नहीं हो सकते हैं कि हम सिद्ध कर लें कि यह मेज काली छोड़कर हरी या भूरी हो ही नहीं सकती थी। अत:, लाइबनित्स ने Monadology में बताया है कि अनिवार्य सत्या बौद्धिक है और इसे स्पष्ट करने के लिए या इसके हेतु को दिखाने के लिए हमें विश्लेषण (analysis) की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु वास्तविक वस्तुओं या घटनाओं के हेतु पर्याप्त हेतु पर ही निर्भर करते है। इसका विपक्ष सोचा जा सकता है और इसलिए वास्तविक घटनायें कभी भी अनिवार्य रीति से सत्य नहीं हो सकती है।

सत्यता को necessary और contingent, दो भागों में बाँट देने से तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के कथन की पुष्टि होती है और अनिवार्य वाक्य की अनिवार्य सत्यता उसके पारिभाषित शब्द-विश्लेषण पर निर्भर करती है। परन्तु वास्ततिक घटनाओं की सत्यता आनुभविक (empirical) वाक्यों द्वारा ही व्यक्त की जा सकती है और इस प्रकार की सत्यता केवल आपातिक ही हो सकती है।

ज्ञान के सम्बन्ध में लाइबनित्स ने सम्भाव्य (possible) और पूर्ण सम्भाव्य (compossible) का भेद बताया है। वह जो आत्म-व्याघात से रहित हो, सम्भाव्य है। जैसे 'सोने का पहाड़' सम्भाव्य है। परन्तु वास्तविक घटनायें पूर्ण सम्भाव्य हैं; क्योंकि वे यथार्थ घटनाओं से सम्बंद्ध रखती है। अब पेड़-पौधे, कुर्सी-मेज इत्यादि पूर्ण सम्भाव्य हैं; क्योंकि ये वास्तविक घटनाओं से मेल खाकर यथार्थ होती हैं। अतः, किसी घटना की पूर्णसम्भाव्यता (compossibility) यथार्थ वास्तविक विधान पर निर्भर करती है और यही यथार्थ वास्तविक विधान किसी घटना का पर्याप्त हेतु होता है।

यह ठीक है कि कोई भी मानव वास्तविक घटनाओं की व्याख्या पूरी नहीं कर सकता है; क्योंकि वह उन कारणों को नहीं बता सकता है, जिनकी वजह से यह मेज किसी अमुक रंग की या जगह पर है। सभी यथार्थ घटनाऐं मानव के लिए संयोगी ही मालूम देती है। पर क्या यही बात ईश्वर के लिए भी लागू है? लाइबनित्स के अनुसार ईश्वर ने मोनडों की रचना की है और प्रत्येक मोनड में विराट ब्रह्माण्ड छिपा है और उसकी सभी भूत, वर्तमान तथा भविष्य की घटनायें प्रत्येक मोनड में सन्निहित है। इसलिए ईश्वर जो मोनड या चिद्बिन्दु की सम्पूर्ण सम्भावना को जानता है, वह जानता है कि उसके अन्दर सभी घटनायें उसके स्वरूप से अनिवार्य रीति से सम्पादित होती जाती है और इस प्रसंग में लाइबनित्स ने यों लिखा है: 'From the moment when my existence began it could be said of me (i.e. truly) that this or that would happen to me; we must grant that these attributes were involved in my nature in its completeness which is the basis of the connexion all my varying inner states and which God has known perfectly from all eternity.' अब यदि प्रत्येक मोनड की प्रतिक्रियाऐं उसके निहित स्वरूप से सम्पादित होती है और ईश्वर उन्हें पूर्णतया जानता है, तो कम-से-कम ईश्वर के लिए कोई भी घटना संयोगी contingent और necessary का भेद नहीं होना चाहिए।

परन्तु लाइबनित्स इस मत का समर्थन नहीं करते है। उनके लिए contingent और necessary का भेद प्राकारिक है और यह भेद ईश्वर के लिए भी रह जाता है। लाइबनित्स स्वीकार करते हैं कि मोनडों की सारी कार्यवाही उनके स्वरूप से सम्पादित होती है और ईश्वर उसे पूर्णतया जानते है। परन्तु मोनडों की सम्पूर्ण सम्भावना ईश्वर की इच्छा के अन्तर्गत है। चूँकि ईश्वर मोनडों द्वारा अपने परम उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते है, इसलिए उन्होंने उस उद्देश्य के उपयुक्त मोनडों का स्वरूप बनाया है। अतः, मोनडों का स्वरूप ही ईश्वर की इच्छा पर निर्भर रहने के कारण आपातिक है। अतः, प्रकृति और सभी वस्तुओं की घटनाऐं मोनडों के स्वरूप पर निर्भर करती हैं और मोनडों का स्वरूप ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है, जिससे इस विश्व का कल्याण हो। इस सम्बन्ध में लाइबनित्स ने Theodicee में लिखा है: "This fitness too has its rules and reasons; but it is the free choice of God, and not a geomertrical necessity, which makes him prefer what is fit and bring it into being. Thus we may say that 'physical necessity' is based on moral necessity, i.e. on the choice of the wise, which is worthy of his wisdom, and that they ought both to be distinguished from geometrical necessity."

अतः, लाइबनित्स द्वारा contingent और necessary का भेद, समसामयिक तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के कथन की पुष्टि करता है।

लाइबनित्स की ज्ञान-मीमांसा की समालोचना: लाइबनित्स की ज्ञान-मीमांसा अपने समय से बहुत आगे थी। इस परम्परा में पलटकर काण्ट ने अपनी गम्भीर देन दर्शन को दी है। इसमें

समसामयिक गणितीय न्याय (mathematical logic) का पूर्वाभास प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। परन्तु फिर भी हम नहीं कह सकते हैं कि लाइबनित्सी ज्ञान-मीमांसा पूर्ण है। उन्होंने देकार्त और लॉक की ओर उँगली उठाई है और उनके अधूरेपन को स्पष्ट कर दिया है, पर स्वयं उन्होंने ज्ञान-मीमांसा को पूरा नहीं किया है। लॉक का समाधान निस्संदेह छिछला है, पर उनकी समस्या गहरी है। लाइबनित्स ने लॉक के छिछलेपन को स्पष्ट कर दिया है। पर समस्या की गहराई का समाधान नहीं किया है। यदि हम मान लें कि संवेदनाओं से धीरे-धीरे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट ज्ञान होता है, तो हमारी समस्या है कि किस प्रकार से यह विकसित होता है। जब तक हम उन सब पगों और सीढ़ियों को न जान लें जिनमें अनिश्चित संवेदनाओं से असंदिगध ज्ञान होता हे, तब तक ज्ञान-मीमांसा के प्रश्न हल नहीं होते हैं और यह काम लाइबनित्स ने नहीं किया है।

फिर यदि हम लाइबनित्स के मोनड की ईक्षण-शक्ति पर, जिससे ज्ञान प्रारम्भ होता है, ध्यान दें तो इसके आधार पर ज्ञान सापेक्ष (relative) ही हो सकता है। 'क' मोनड 'ख' को प्रतिबिम्बित करता, पर 'ख' स्वयं 'ग' को प्रतिबिम्बित करता, और 'ग' अपनी बारी में 'घ' के ईक्षण को प्रतिबिम्बित करता है। अत: किसी भी मोनड के किसी भी ईक्षण को निरपेक्ष (absloute) नहीं कहा जा सकता। अत:, लाइबनित्सी समाधान सापेक्षता के गहरे पंक में धँस जाता है, जहाँ से भाग निकलना दुष्कर है।

अपितु, लाइबनित्स देश-काल तथा मोनडों के बीच के सम्बंध को अवास्तविक मानते है; क्योंकि वास्तविकता मोनड और उनकी समाविष्ट स्थितियों की हो सकती और देश, काल इत्यादि मोनडों की बाह्य स्थितियाँ ही बताई गयी है। ऐसी अवस्था में ईक्षण क्या प्रतिबिम्बित करता है? क्या एक मोनड अन्य मोनडों के ईक्षण को ही प्रतिबिम्बित करता है? परन्तु ईक्षण केवल प्रतिबिम्बि है और अनेक प्रतिबिम्ब मिलकर कोई सत्ता नहीं बना सकते है। 'Even an infinity of little mirrors with nothing but each other to reflect must at once collapse into absolute vacuty.' यहाँ हम प्लेटो के गघ्वर में रहकर छाया को ही सत्य मान सकते है। अत: लाइबनित्स की ज्ञान-मीमांसा में वास्तविकता की अवहेलना की गयी है।

फिर यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है कि ईक्षण आत्मनिष्ठ (subjective) रहने के कारण लाइबनित्स की ज्ञान-मीमांसा एकात्मसत्तावाद (solipsism) में परिणत हो जाती है।

स्वतन्त्रता तथा अनिवार्यता

लाइबनित्स के अनुसार, मानव अपने श्रेय **(the good)** को प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र है और उसका नि:श्रेयस इसी में है कि वह लोकहित में लगा रहे। परन्तु स्वतन्त्र व्यवहार का अर्थ यह नहीं है कि उसमें नियन्त्रण न हों। कुछ हद तक सभी मानव-क्रियाओं में नियंत्रण रहता है; क्योंकि सभी क्रियाऐं भूत कारणों से नियंत्रित होती हे। अब यदि प्रक्रियाऐं भूत आधार से नियंत्रित न हों तो इससे यह मानना पड़ेगा कि प्रक्रियाऐं एकाएक हो जाती है। परन्तु ऐसा स्वीकार करने से तारतम्य के नियम का उल्लंघन होता है। अत:, हमें यह मानना पड़ेगा कि सभी प्रक्रियाएं भूत कारणों से नियन्त्रित होती है।

परन्तु यद्यपि मानव-प्रक्रियाऐं भूत कारणों से नियंत्रित होती है तथापि उन्हें अनिवार्य (necessary) नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि किसी भी वास्तविक घटना का अनस्तित्व सोचा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से सभी मोनडों की प्रक्रियाओं को आपातिक समझा जा सकता

है, पर उन्हें स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता है। किसी प्रक्रिया को स्वतन्त्र कहने के लिए उसमें तीन लक्षणों को होना आवश्यक है। (1) सूझ या बुद्धि, जिसके कारण प्रक्रियाओं को उनमें स्पष्ट लक्ष्य को जानकर सम्पादित किया जाय। इसके अनुसार जिस काम को जितना अधिक हम अनजाने में करेंगे वह उतना ही अधिक वह काम नियतत्वाद से संचालित होगा, और जिस काम को हम जितना अधिक समझबूझकर करेंगे वह उतना ही अधिक स्वतन्त्र समझा जाएगा। लाइबनित्स के इस मत में स्पिनोजा की झलक मिलती है। (2) दूसरी बात है कि स्वतन्त्र प्रक्रियाओं से आत्मप्रेरणा (spontaneity) होनी चाहिए, अर्थात् जिस काम को स्वयं हम करें, और (3) तीसरी बात है कि इसमें आपातिकता हो अर्थात् जिसमें तार्किक अनिवार्यता न हो। अत:, A free action is a contingent activity having spontaneous unfolding of the action guided by clear perception. इस अर्थ मे ईश्वर अति स्वतन्त्र है; क्योंकि उनकी प्रक्रियाऐं अति स्पष्ट ईक्षण से आत्मप्रेरित होती है। फिर उनकी प्रक्रियाओं को संयागात्मक कहा जायगा, क्योंकि ये ईश्वर के परम कल्याणकारी उद्देश्य से संचालित होती है। अब यदि लाइबनित्स ईश्वर की प्रक्रियाओं को संयोगात्मक नहीं मानते, तो स्पिनोजा के समान उन्हें स्वीकार करना पड़ता कि सभी घटनाऐं ईश्वर से अनिवार्य रीति से संचालित होती है। पर, फिर भी प्रश्न उठता है कि क्या लाइबनित्स अपने को स्पिनोजा के निष्कर्षो से मुक्त कर सके है? हम लोगों की समझ में लाइबनित्स गुप्त रूप से स्पिनोजावादी ही रहे है।

आलोचना

(i) रसेल के अनुसार यदि लाइबनित्ज के मोनडोलॉजी को माना जाए तो फिर ईश्वर भी एक चिदणु हो जायेगा। ऐसी स्थिति में उसे अन्य मोनडो का रचयिता नहीं माना जा सकता। रसेल के अनुसार ईश्वर की कल्पना लाइबनित्ज के दर्शन का एक ढोंग है।

(ii) लाइबनित्ज मोनड को स्वतंत्र शक्तिमान मानते हैं परंतु ऐसा मानने पर मोनडो में पूर्व स्थापित सामंजस्य की बात करना असंगत है।

(iii) लाइबनित्ज मोनड को अनादि, अनन्त एवं नित्य मानते है। साथ ही ईश्वर को उनका स्रष्टा मानते हैं। ये दोनों बातें एक साथ सत्य नहीं हो सकती।

(iv) यदि मोनड गवाक्षहीन (Windowless) हैं और एक दूसरे से स्वतंत्र हैं तो फिर वे संपूर्ण विश्व को प्रतिबिम्बित नहीं कर सकते।

(v) मोनडवाद एक धारणा या अभिग्रह (assumption) की तरह है जिसे सिद्ध या असिद्ध नहीं किया जा सकता। सत्यापन एवं मिथ्यापन से परे होने के कारण यह अर्थहीन है।

(vi) मोनडवाद तर्कत: अहंमात्रवाद (solipcism) में परिणत हो जाता है, क्योंकि व्यक्ति केवल उसी बात को ठीक से जान सकता है जो उनके गवाक्षहीन संसार के अंदर है। आशय है कि यदि प्रत्येक मोनड आत्मनिर्भर एवं गवाक्षहीन हैं तो फिर उनके मध्य कोई वास्तविक आदान-प्रदान नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में प्रत्येक मोनड का ज्ञान केवल उसी तक सीमित रहेगा, और तब ज्ञान मोनड केंद्रित हो जायेगा। इसी संदर्भ में यह आक्षेप लाइबनित्ज के मोनडोलॉजी पर लगाया यगा है।

(vii) यदि सभी मोनड पूर्व स्थापित सामंजस्य के नियम से बंधे हुए हैं तो वैसी स्थिति में संकल्प-स्वातंत्र्य के अभाव में पाप और पुण्य की अवधारणा निरर्थक हो जाती है।

(viii) यदि प्रत्येक सत्ता का पर्याप्त हेतु हैं तो फिर ईश्वर का भी पर्याप्त हेतु होना चाहिए। 'ईश्वर अपना ही पर्याप्त हेतु है' इस तर्क से पर्याप्त कारणता का नियम खंडित हो जाता है।

महत्व

– लाइबनित्ज के दर्शन ने प्रजातांत्रिक विचारों की स्थापना एवं व्यक्ति की स्वतंत्रता के संदर्भ में महत्वपूर्ण योगदान दिया हो। लाइबनित्ज प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता, गरिमा एवं विशिष्टता का सम्मान करते हैं। इसीलिये वे कहते हैं कि समान चेतन गुण से युक्त होने के बावजूद भी प्रत्येक व्यक्ति का विशिष्ट महत्व है।

– लाइबनित्ज के कारण ही जर्मनी में बुद्धिवाद का प्रचार हुआ जिसका गहरा प्रभाव काण्ट पर पड़ा है। इसीलिये कुछ दार्शनिक यह कहते हैं कि लाइबनित्ज का मत काण्ट के दर्शन की पूर्वछाया है।

– वर्तमान वैज्ञानिक अनुसंधान भी जड़ की बनावट को विद्युतशक्तियों के द्वारा व्याख्यायित करता है। विज्ञान भी मानता है कि मूर्त पदार्थ इलेक्ट्रॉन-प्रोट्रॉन/क्वार्ट्ज का पुंज (समूह) है।

लाइबनित्ज के दर्शन का मूल्यांकन

लाइबनित्ज का दर्शन अनेक परस्पर विरोधी सिद्धांतों में समन्वय करने का प्रयास है। एक ओर तो वह डेकार्ट के द्वैतवाद एवं निमित्तेश्वरवाद के तार्किक दोषों को दूर करने का प्रयास करता है, तो दूसरी ओर वह स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद से भी बचना चाहता है। स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद यहूदी, ईसाई और इस्लामी धर्मशास्त्रीय मान्यताओं के विपरीत है। किन्तु लाइबनित्ज ईसाई धर्मशास्त्रियों को असंतुष्ट नहीं करना चाहता था। वह डेकार्ट के समान ईश्वर को सृष्टि का कारण तो मानता है, किन्तु उसने ईश्वरवाद की स्थापना डेकार्ट से भिन्न अर्थ में की है। डेकार्ट का ईश्वर इस जगत् से परे है। लाइबनित्ज के दर्शन में ईश्वर मानव-बुद्धि से परे है क्योंकि वह मानव से अधिक ज्ञानी है। लाइबनित्ज का ईश्वर एक ओर चिदणुओं का स्त्रष्टा है, दूसरी ओर वह स्वयं भी एक चिदणु है। **रसल** के अनुसार यह लाइबनित्ज के दर्शन की सबसे बड़ी विसंगति है। एक ओर तो उसने द्रव्यों (चिदणुओं) के बहुत्ववाद (Pluralism) का प्रतिपादन किया, तो दूसरी ओर एक परम चिदणु (ईश्वर) की सहायता से परस्पर असम्बद्ध चिदणुओं में सामंजस्य स्थापित करने का असफल प्रयास किया। वस्तुतः चिदणुओं की पूर्णता (गवाक्षहीनता) एवं स्वतंत्रता और उनका सामंजस्यपूर्ण होना तर्कसंगत नहीं हो सकता है। ईश्वर के द्वारा स्थापित चिदणुओं का परस्पर सामंजस्य लाइबनित्ज के दर्शन पर ऊपर से थोपा गया प्रतीत होता है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए लाइबनित्ज के द्वारा दिए गए तर्कों की समीक्षा हम पहले ही कर चुके हैं। अतः यहाँ पर उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

लाइबनित्ज ने चिदणुओं को गुणात्मक दृष्टि से समान माना है क्योंकि सभी चिदणु चेतन हैं। प्रत्येक चिदणु प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति से युक्त हैं। किन्तु लाइबनित्ज ने उन्हें विभिन्न श्रेणियों में विभक्त कर दिया है। वस्तुतः चिदणुओं की यह अनेकता गौण एवं उनकी एकता प्राथमिक प्रतीत होती है। इससे सिद्ध होता है कि चिदणुओं की अनेकता वास्तविक नहीं है। प्रश्न उठता है कि चेतन्य शक्ति के विकास में विभिन्न सोपान (अवस्था-भेद) क्यों हैं? इस समस्या का

समाधान करने के लिए वह **'सूक्ष्म-जड़ता' (Materia-Prima)** का सहारा लेता है। किन्तु यह सूक्ष्म जड़ता कहाँ से आयी? यदि चेतना ही एकमात्र सत् है, तो चिदणुओं में यह जड़ता क्यों है? लाइबनित्ज के दर्शन में इन प्रश्नों का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। यदि सभी चिदणु स्वरूपतः चेतन हैं, वे प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति से युक्त हैं तो उन्हें सूक्ष्म जड़ता से ग्रस्त मानना लाइबनित्ज के चिदणुवाद से संगत नहीं है। इस जड़ता को चिदणुओं के स्वभाव में निहित नहीं माना जा सकता क्योंकि यह उनके स्वभाव में निहित नहीं माना जा सकता क्योंकि यह उनके स्वभाव के विरुद्ध निष्क्रियता है।

सतही तौर पर यह प्रतीत होता है कि लाइबनित्ज एक विकासवादी दार्शनिक है, किन्तु उसे वास्तविक अर्थ में विकासवादी नहीं कहा जा सकता है। विकास की अवधारणा के अंतर्गत विकास की विविध अवस्थाओं को क्रमिक माना जाता है। किन्तु लाइबनित्ज के दर्शन में मूलतः ऐसी मान्यता स्थापित नहीं हो पाती है। चिदणुओं में चेतना की अभिव्यक्ति का आधार सूक्ष्म जड़ता है। यदि यह जड़ता न होती तो सभी चिदणु समान स्तरीय होते। इसके अतिरिक्त विभिन्न श्रेणियों वाले चिदणुओं की सृष्टि ईश्वर ने एक साथ कर दी है। अतः प्रचलित अर्थ में इसे विकासवाद नहीं कहा जा सकता है।

लाइबनित्ज ने आत्मा और शरीर के संबंध की समस्या को अपने प्रसिद्ध **'पूर्व-स्थापित सामंजस्य के नियम'** के द्वारा हल करने का प्रयास किया। किन्तु इस समस्या को हल करने के स्थान पर उन्होंने समस्या को और अधिक जटिल बना दिया। अचेतन शरीर को चेतना की अल्प मात्रा मान लेने से चेतन और अचेतन का भेद भले समाप्त हो जाता है। उसके सातत्य नियम के अनुसार निकटवर्ती चिदणुओं का भेद भले ही अल्प हो, किन्तु दूरस्थ चिदणुओं की कोटियों में भेद बना रहता है। यदि इस भेद को न माना जाय, तो ईश्वर को परम चिदणु कैसे कहा जा सकता है? यद्यपि लाइबनित्ज ने आत्मा और शरीर के संबंध की व्याख्या करने के लिए निमित्तेश्वरवादियों के प्रतिक्षण चमत्कार को स्वीकार नहीं किया है, तथापि उसने प्रत्येक क्षण के चमत्कार के स्थान पर संपूर्ण चिदणु तंत्र (सृष्टि) को ही चमत्कारिक बना दिया।

'पूर्व स्थापित सामंजस्य-नियम' रचियता होते हुए भी ईश्वर स्वयं ही इस नियम से बँधा हुआ है। वस्तुतः लाइबनित्ज यांत्रिकतावाद और प्रयोजनवाद में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। **रसल के अनुसार चिदणुवाद लाइबनित्ज के तर्कशास्त्र का तार्किक परिणाम है। प्रत्येक चिदुण 'उद्देश्य' (Subject) है। उसके द्वारा जो कुछ किया जाता है, वह उसमें अंतर्निहित रहता है।** प्रत्येक चिदणु बाहर से एक विश्व है, किन्तु वह आंतरिक रूप से विकासशील एवं क्रियशील है। वस्तुतः लाइबनित्ज का चिदणुवाद एक संभावना मात्र है। वह तात्त्विक संभावना को वास्तविक मान लेता है। किन्तु गणित एवं तर्कशास्त्र जैसे संप्रत्ययात्मक विज्ञानों का संबंध प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों से होता है, न कि यर्थाथ सत्ता से। वस्तुतः दर्शनशास्त्र का संबंध वास्तविक तथ्यों से होता है। अतः तर्कशास्त्र के आधार पर तात्त्विक सत्ता को सिद्ध करना तर्कसंगत नहीं हो सकता है।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी लाइबनित्ज का बहुआयामी दार्शनिक अनुशीलन दर्शन-जगत् को प्रभावित करता रहा है। अनेक विचारकों ने उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करके अपने दार्शनिक सिद्धांतों की स्थापना की। उसके बुद्धिवादी दर्शन से प्रभावित होकर **काण्ट** ने ह्यूम की अनुभववादी ज्ञानमीमांसा की आलोचना किया। हेगल का गतिशील प्रत्ययवाद और नीत्शे का व्यक्तिवाद लाइबनित्ज से प्रभावित है। विभिन्न दार्शनिकों और

आलोचकों ने लाइबनित्ज के दर्शन के पृथक्-पृथक् पक्षों पर बल दिया। रसल की आलोचनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि लाइबनित्ज की दार्शनिक मान्यताएँ उसके उद्देश्य-विधेय परक तर्कशास्त्र से तर्कत: फलित होती हैं। किन्तु वास्तव में, तार्किक सत्य और तात्त्विक सत्य अभिन्न नहीं हो सकते हैं। लाइबनित्ज के प्रत्ययवादी समीक्षकों (जैसे-काण्ट) के अनुसार उसकी मान्यताएँ हेगल और क्रोंचे के समान हैं। धर्मशास्त्रीय दृष्टि से लाइबनित्ज ने अपने दर्शन का समन्वय ईसाई धर्म से करने का प्रयास किया। किन्तु यह दोनों का असंगत मेल था। इस प्रकार लाइबनित्ज का दर्शन अनेक परस्पर विरोधी सिद्धांतों एवं विभिन्न प्रवृत्तियों के समन्वय का प्रयास प्रतीत होता है। यद्यपि उसका दार्शनिक चिंतन अनेक कठिनाइयों से ग्रस्त है, तथापि यह आधुनिक बुद्धिवादी विचारधारा की पराकाष्ठा है।

लाइबनित्स और स्पिनोजा

लाइबनित्स के जीवनकाल में ही लोग कहा करते थे कि वे स्पिनोजावादी थे और लाइबनित्स इस मत का खण्डन किया करते थे। वे बताते थे कि उनका दर्शन स्पिनोजीय दर्शन के विपक्ष में है; क्योंकि स्पिनोजा एकसत्तावादी (monistic) थे और आप अनेकवादी थे। परन्तु वास्तव में पूर्वस्थापित छन्द के सिद्धान्त के प्रति कहा जा सकता है कि मोनडों का अनेकवाद परिभासमात्र (mere appearance) है और इसलिए वास्तव में आप एक सत्तावादी थे। मोनडवाद तथा लाइबनित्स के ईश्वर विवेचन से स्पष्ट हो जाता हे कि स्पिनोजा के समान आप की शून्यवादी, नियतत्ववाद (determinist) तथा सर्वेश्वरवादी (pantheistic) थे, और हम इन सब बातों को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट कर सकते है:

लाइबनित्स का शून्यवाद (Nhilism) : लाइबनित्स के लिए देश, काल तथा भौतिक पदार्थ की सत्ता है ही नहीं। अब यदि कुछ बचता है तो वह मोनडों का पारस्परिक प्रतिबिम्बित ईक्षण। परन्तु हम लोग पहले ही देख चुके है कि यह केवल छायामात्र है और इसमें कोई ठोस वास्तविकता नहीं है। यदि कहीं वास्तविकता न हो तो उसे शून्यवाद ही कहा जाएगा।

नियतत्ववाद: फिर लाइबनित्स के अनुसार मोनडों की प्रक्रियाऐं भूत प्रक्रियाओं से नियन्त्रित होती है और आत्मप्रेरित होने के कारण लाइबनित्स ने इच्छात्मक प्रक्रियाओं को स्वतन्त्र प्रक्रिया कहा है। परन्तु स्पष्ट-से-स्पष्ट ईक्षण से नियन्त्रित होने पर भी इसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि अति स्पष्ट ईक्षण का उद्देश्य भी मोनडों में वहीं है; जिसे ईश्वर ने उनके स्वरूप में स्थापित कर दिया है। अत: मोनडों की प्रक्रियाऐं ईश्वरीय उद्देश्य से संचालित होती है। मानव को इतनी ही स्वतन्त्रता है कि वह जानबूझकर उस उद्देश्य की पूर्ति करे। अब यही बात तो स्पिनोजा ने भी स्वतन्त्र प्रक्रियाओं के विषय में कही है, जिसे हमने नियतत्ववाद* कहा है।

सर्वेश्वरवाद: पूर्वस्थापित छन्द के अनुसार, प्रत्येक मोनड प्रयासन-वृत्ति के कारण ईश्वर के स्वरूप की नकल करता है। कई स्थलों पर तो लाइबनित्स ने यह भी कहा है कि मोनड ईश्वर से उसी तरह निकलते हैं जिस तरह से विचार मानव-मन से सम्भव होते है। अत:, मोनड भी स्पिनोजा के प्रकार (modes) का रूप धारण कर लेते है।

उपसंहार

यद्यपि लाइबनित्स बहुत दूर तक स्पिनोजावादी थे तथापि उनका दर्शन स्पिनोजा के विचारों की पुनरावृत्ति नहीं करता है। लाइबनित्स बहुमुखी और सर्वपटु थे। उन्होंने अपने युग

की अनेक धाराओं को एकत्र कर सम्बद्ध रूप से उनकी व्याख्या करनी चाही और यही कारण है कि उनके दर्शन को समझौता (compromise) या समन्वय का दर्शन कहा जाता है। इस प्रयास में उन्होंने अनेक सूझ हमारे सामने रखी है, जो आज तक हमारे विचारों का मार्ग-दर्शन कराती है। परन्तु फिर भी हम लाइबनित्स के सुझाव को सन्तोषजनक नहीं समझ सकते है। उनकी कमी यह थी कि उन्होंने अपनी युक्तियों को पदार्थ-गुण (substance-attribute) की मूल धारणाओं (categories) से सम्पादित किया था और आपने यहाँ भी स्पिनोजा के बताये हुए पदार्थ गुण को अपनाया था और यही कारण है कि वे स्पिनोजा के निष्कर्षो से छुटकारा न पा सके। आगे चलकर हम पाते है कि ब्रैटले ने भी परम सत्ता को उद्देश्य (subject) और अन्य सभी वस्तुओं को विधेय या उसका गुण माना है और इसी पदार्थगुण की धारणा में पड़कर एकसत्तावाद स्थापित हो ही जाता है।

हम लोगों ने पहले ही कहा है कि दर्शन वैचारिक कला है और दार्शनिक अपनी सूझ के अनुसार सब अनुभूतियों को सम्बद्ध करता है। लाइबनित्स भी गणितीय अपरिमित कलन (infinitesimal calculus) से प्रभावित हुए थे। आप यदि मोनडवाद को ही अपनाते और ईश्वर-विवेचन को स्थान नहीं देते तो आपका दर्शन अधिक संगत होता। पर आपने धर्म और विज्ञान की दो विरोधी सूझों को मिलाने की कोशिश की है और यही कारण है कि यह न तीतर हुआ न रहा बटेर।

अरस्तू बनाम लाइबनित्ज

– दोनों विकासवादी है।

– दोनों यह मानते हैं कि विकास यांत्रिक न होकर प्रयोजनपूर्ण है, अर्थात् विकास का एक उद्देश्य हैं।

– दोनों विचारकों के दर्शनों में परम् स्तर पर ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है।

– अरस्तू ने जहां ईश्वर को प्योर फॉर्म कहा है, वहीं लाइबनित्ज उसे 'Monad' का मोनॉड, पूर्ण मोनॉड कहा है।

– अरस्तू जहां यह कहते हैं कि विकास के क्रम में 'form' की मात्रा बढ़ती है और 'Matter' की मात्रा घटती है, वहीं लाइबनित्ज के दर्शन में यह माना गया है कि विकासक्रम चैतन्यपूर्ण मोनाडो से अधिक चैतन्यपूर्ण मोनाडो की ओर हो रहा है।

– अरस्तू ने भी Pure Matter की सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। लाइबनित्ज के दर्शन में भी 'Pure Matter' की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। (जड़तत्व)

– अरस्तू के दर्शन में 'Entelechy' (इन्टैलेकी) सिद्धांत का प्रभाव लाइबनित्ज के मोनडवाद पर दिखाई देता है। 'इन्टैलैकी' का शाब्दिक अर्थ है अपने उद्देश्य को अपने भीतर रखना। अरस्तू के अनुसार प्रत्येक वस्तु की एक इंटेलैकी होती है। लाइबनित्ज भी यह मानते हैं कि 'Monad' में गत्यात्मक शक्ति निहित है, उसका लक्ष्य आत्मनिहित होता है, अर्थात् बाह्य नहीं, आतंरिक (internal) होता है।

लाइबनित्ज बनाम स्ट्रॉसन

प्रश्न : क्या मोनड को स्ट्रासन के अर्थों में एक आधारित विशिष्ट माना जा सकता है?

(Can Monad be regarded as a basic particular in the Strawasonian sense?)

समानताएं :

1. Monad और Basic particular दोनों एक अर्थ में जगत की मूल एवं स्वतंत्र इकाईयां हैं।

2. दोनों की व्याख्या या संरचना किसी अन्य के आधार पर नहीं की जा सकती, जबकि अन्य सबकी व्याख्या इसके आधार पर संभव है।

3. मोनड की स्वतंत्र सत्ता हैं। वे अपने अस्तित्व के लिये किसी पर निर्भर नहीं है। अन्य सभी वस्तुओं की व्याख्या या रूपान्तरण मोनडो के रूप में किया जा सकता है। इसी प्रकार स्ट्रॉसन के मूल-विशेष इस अर्थ में स्वतंत्र है कि वे अपनी पहचान (Identification) के लिये किसी अन्य पर निर्भर नहीं है। अन्य वस्तुओं की पहचान के लिये मूल-विशेष की आवश्यकता होती है।

अंतर

	लाइबनित्ज का मोनड		स्ट्रॉसन का मूल-विशेष
1.	मोनाड चेतन हैं और विभिन्न मोनडो में कोई गुणात्मक भेद नहीं है।	1.	दूसरी ओर भौतिक शरीर को मूल विशेष के रुप में स्वीकार किया गया है।
2.	मोनड देश-काल सापेक्ष नहीं है।	2.	मूल विशेष देश और काल के अनुसार व्यवस्थित होते हैं।
3.	मोनड अनुभव पर आधारित नहीं है।	3.	मूल-विशेष अनुभव पर आधारित हैं।
4.	मोनडो का सार गुण चेतना है।	4.	स्ट्रॉसन ने स्पर्श (touch) को भौतिक शरीर के अनिवार्य लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।
5.	अंतिम रूप से संशोधनात्मक तत्वमीमांसा की स्थिति दिखाई देती है जिसमें सर्वोच्च स्तर पर ईश्वर की स्थिति उभरती है।	5.	स्ट्रॉसन का दर्शन वर्णनात्मक तत्वमीमांसा की स्थिति को इंगित करता है। वर्णनात्मक तत्वमीमांसा जगत के संबंध में हमारे विचारों की संरचना का वर्णन करता है। यह किसी उच्चतर जगत की सृजनात्मक से संबंधित नहीं है।

सारांश

लाइबनित्स की तीन मुख्य दार्शनिक धारणाएं हैं :

1. अभिप्राय, बल या जीवन ईक्षण और प्रयासन प्रत्येक वास्तविक और व्यक्ति द्रव्य का सार है।

2. तारतम्यता अथवा अबोधगम्य की तादात्मयता के सिद्धांत की परिकल्पना के द्वारा लाइबनित्स विशिष्ट द्रव्यों के आपसी संबंध या तंत्र की व्याख्या करने का प्रयास करता है।

3. पूर्वस्थापित सामंजस्य को आधारभूत तत्वों में परिवर्तन की संभावना को वास्तविक रूप देने के लिये प्रस्तुत किया गया है।

प्रमुख शब्द

मोनडः यह लाइबनित्स की तत्वमीमांसा में एक अविभाजिति, नष्ट न होने वाली इकाई है जो सत का मूल तत्व है और स्वयं में पूर्ण ब्रह्माण्ड है।

थियोडिसी: धर्मशास्त्र की वह शाखा जो अशुभ के होते हुए भी ईश्वर की अच्छाई और न्याय प्रियता के पक्ष में प्रमाण उपलब्ध कराती है।

अभ्यास प्रश्न

1. लाइबनित्ज का सामान्य परिचय दीजिए।
2. लाइबनित्ज का चिदणुवाद क्या है और उसके चिदणुवाद की विशेषताओं का वर्णन करे।
3. लाइबनित्ज के पूर्व-स्थापित सामंजस्य के नियम की समीक्षा करें।
4. "ईश्वर स्वरूपत: परम चिदणु है।" लाइबनित्ज के इस कथन को स्पष्ट करें।
5. लाइबनित्ज के क्रिया-प्रतिक्रियावाद सिद्धांत (मन-शरीर संबंध) को परिभाषित करें।
6. ज्ञान मीमांसा को परिभाषित करें तथा लाइबनित्ज की ज्ञान मीमांसा की व्याख्या करें।
7. लाइबनित्ज के दर्शन का मूल्यांकन कीजिए।
8. आधुनिक युग में लाइबनित्ज के दर्शन का क्या महत्व है?

इकाई–7 अनुभववाद (Empiricism)

इकाई की रूपरेखा:

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. अनुभववाद
4. विशेषता
5. बुद्धिवाद, प्रत्ययवाद और फ्रांसिस बेकन
6. ब्रिटिश अनुभववाद
7. लॉक, बर्कले और ह्यूम
8. सारांश
9. प्रमुख शब्द
10. अभ्यास प्रश्न

उद्देश्य

इस इकाई में हम ब्रिटिश अनुभववाद का अध्ययन करेंगे। इस अध्ययन का उद्देश्य पहले की ईकाइयों में पढ़े विचारों को और सुदृढ़ बनाना है। इसका मुख्य मन्तव्य दर्शन के छात्रों को विभिन्न दार्शनिक आन्दोलनों का बिना उनसे प्रभावित हुए अध्ययन कराना है। साथ ही छात्र में किसी भी दर्शन के सत्य तत्व को स्वीकार करने तथा उसकी प्रशंसा करने की प्रवृत्ति विकसित करना है। अनेक विद्धानों के अनुसार, तीन मुख्य ब्रिटिश अनुभववादी दार्शनिकों ने मानवता के राजनीतिक तथा बौद्धिक इतिहास को प्रभावित किया है।

इस इकाई के अंत में छात्र सक्षम होंगे–

- ब्रिटिश अनुभववादियों के दर्शन निर्माण में
- इन महान दार्शनिकों द्वारा विवेचित जीवन के विभिन्न विषयों यथा, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक, को समझने में
- ब्रिटिश अनुभववादियों की वस्तुगत ढ़ंग से प्रशंसा करने में
- लॉक, बर्कले और ह्यूम के दर्शन के समग्र एवं सारगर्भित दृष्टिकोण को समझने में।

प्रस्तावना

अनुभववादी यह मानते हैं कि केवल इन्द्रिय प्रदत्त ज्ञान की वैध है, क्योंकि यह ज्ञान ही विषय प्रदत्त अनुभवों/संस्कारों पर आधारित होता है। क्या वस्तुनिष्ठ तत्वमीमांसा को इन्द्रिय रूपांतरण के विश्लेषण द्वारा स्थापित किया जा सकता है? हम इस समस्या का परीक्षण उन दार्शनिकों के दार्शनिक शिक्षणों में करेंगे जिन्हें अनुभववादी कहा जाता है।

अनुभववाद (लॉक, बर्कले, ह्यूम)

(ज्ञान का सिद्धांत, द्रव्य एवं गुण, आत्मा एवं परमात्मा, संशयवाद)

Empiricism (Locke, Berkeley, Hume)

(Theory of Knowledge, Substance and Qualities, Self and God, Scepticism)

अनुभववाद वह ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत है जिसके अनुसार यथार्थ ज्ञान-प्राप्ति का एकमात्र साधन इन्द्रियानुभूति (sense experience) है। मनुष्य के ज्ञान-कोष में जो कुछ है, वह सब अनुभवजन्य है। चूंकि अनुभव से ही ज्ञान प्राप्त होता है, अतः सभी ज्ञान अर्जित (acquired) या सीखा हुआ है, कोई भी ज्ञान जन्मजात या सहज या नैसर्गिक नहीं है। इस रूप में यह बुद्धिवाद का विरोधी सिद्धांत है। चूंकि इस सिद्धांत के अनुसार सभी ज्ञान अनुभव से प्राप्त माने गये हैं। इसीलिये इन्हें अनुभवसापेक्ष ज्ञानवाद (apostiriorism) कहा जाता है।

अनुभववाद की सामान्य विशेषताएं

1. ज्ञान का मूल एवं एकमात्र स्त्रोत अनुभव है। यहां अनुभव का अर्थ है- इन्द्रियानुभव।

2. मन में कोई जन्मजात प्रत्यय नहीं होता। जो भी प्रत्यय मन में होते हैं, वे अनुभव से प्राप्त होते हैं। इस रूप में हमारा समस्त ज्ञान अर्जित है। लॉक के अनुसार जन्म के समय मन की स्थिति कोरे कागज (Tabula Rasa) के समान होती है जिस पर संवेदन और स्वसंवेदन रूपी अनुभव के माध्यम के ज्ञान अंकित किया जाता है।

3. ज्ञान का पद्धति आगमनात्मक (Inductive) है। इनके अनुसार सामान्य ज्ञान ही सबसे महत्वपूर्ण है परंतु वह आदि या आरंभिक ज्ञान नहीं है। चूंकि ज्ञान का एकमात्र साधन अनुभव है और अनुभव विशेषों का ही होता है, इसलिए आरंभ में विशेषों का ही ज्ञान होता है। बाद में विशेषों के ज्ञान के आधार पर आगमन विधि द्वारा सामान्य सत्यों (General truths) का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसलिए ज्ञान की पद्धति को यहां मुख्यतः आगमनात्मक माना गया है।

4. दैनिक जीवन में हमें जो विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान होता है, वह अयथार्थ नहीं है, बल्कि वह ज्ञान का वास्तविक उदाहरण है।

5. आदर्श ज्ञान भौतिक विज्ञानों में निहित ज्ञान है। इनमें नवीनता तो होती है परंतु अनिवार्यता नहीं होती।

6. अनुभववाद के अनुसार ज्ञान निर्णयों की समष्टि है। निर्णयों का निर्माण प्रत्ययों को संबंधित करने से होता है। इसलिए ज्ञान के आदि तत्व या मौलिक तत्व प्रत्यय है जो अनुभव से प्राप्त किये जाते हैं। बुद्धि इन प्रत्ययों को केवल ग्रहण करती है, इन्हें उत्पन्न नहीं करती।

7. ज्ञान-प्राप्ति में बुद्धि प्रारंभ में निष्क्रिय होती है। वह निष्क्रिय रूप से संवेदनाओं को ग्रहण करती है। इसमें क्रियाशीलता की उत्पत्ति तब होती है जब इसे कार्य करने के लिये सामग्री उपलब्ध होती है।

8. अनुभववाद ज्ञान की वैधता या सत्यता की कसौटी के रूप में संवादिता सिद्धांत (correspondence theory) को स्वीकार करते है। इनके अनुसार ज्ञान की वस्तु का जगत से अनुरूपता का ज्ञान अनुभव से ही होता है।

प्राचीनकाल में ग्रीक दर्शन में सोफिस्ट दार्शनिक प्रोटोगोरस अनुभववाद का समर्थन करते हें। इनके अनुसार बाह्य इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त अनुभव ही ज्ञान का एकमात्र साधन है। संवेदन व्यक्तिगत होते हैं, सामान्य नहीं। अतः सार्वभौम या सामान्य ज्ञान संभव नहीं हैं। सोफिस्ट विचारकों के इस मत को संवेदनवाद (Sensationism) कहा जाता है।

आधुनिक युग में लॉक से पहले बेकन एवं हॉब्स ने अनुभववाद का समर्थन किया, परंतु आधुनिक युग में एक ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत के रूप में अनुभववाद को विकसित करने का श्रेय लॉक को है। इंग्लैंड के लॉक, आयरलैंड के बर्कले और स्कॉटलैंड के ह्यूम अनुभववाद के प्रबल समर्थक (ब्रिटिश अनुभववादी परंपरा) है। इन्हें मनोवैज्ञानिक अनुभववादी (psychological empiricist) कहा जाता है।

समकालीन दर्शन में तार्किक भाववादी अनुभववाद का समर्थन करते हैं। तार्किक भाववाद को वैज्ञानिक अनुभववाद (scientific empiricism) या तार्किक अनुभववाद (logical empiricism) भी कहा जाता है। यह तार्किक आंदोलन प्रत्यक्षवादी कहलाता है क्योंकि वैज्ञानिकों के अनुभववाद की तरह यहां भी अनुभव को ज्ञान का अंतिम स्रोत तथा लौकिक प्रत्यक्ष जगत की ही अंतिम सत्ता मानी गई है, परंतु 'विएना सर्किल' से उत्पन्न प्रत्यक्षवाद पूर्ववर्ती प्रत्यक्षवाद (लॉक, बर्कले, ह्यूम) से इस बात से भिन्न था कि यह मनोवैज्ञानिक न होकर तर्क-प्रधान था। यहां भाषा के तार्किक विश्लेषण पर जोर है जो इसे पूर्ववर्ती अनुभववादियों से भिन्न बनाता है।

समकालीन दर्शन में क्वाइन आमूल अनुभववाद (radical empiricism) के समर्थक है। इन्होंने पुराने और नये अनुभववादियों द्वारा स्वीकृत दो मताग्रहों का खंडन कर अनुभव को व्यापक रूप देने का प्रयास किया है। इनके अनुसार मानव का समस्त ज्ञान अनुभव-निर्मित ढांचा है। इनके अनुसार गणित और तर्कशास्त्र को भी अनुभव-निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। इस संदर्भ में क्वाइन ने आनुभाविक संश्लेषणात्मक एवं प्रागनुभाविक विश्लेषणात्मक के गुणात्मक, निरपेक्ष, आत्यांतिक भेद का खंडन किया है।

बुद्धिवाद, प्रत्ययवाद और फ्रांसिस बेकन का अनुभववाद पर प्रभाव

'ब्रिटिश अनुभववाद' ग्रेट ब्रिटेन में 18वीं शताब्दी के दार्शनिक आंदोलन से सम्बंध रखता है। इसके अनुसार समस्त ज्ञान अनुभव से आता है। यूरोपियन बुद्धिवादियों का मत था कि ज्ञान आधारभूत धारणाओं जैसे कि अंतर्जात प्रत्यय से आता है, जिन्हें बुद्धि के माध्यम से अंत:प्रज्ञा द्वारा जाना जाता है। बाद में प्रत्ययों को इनसे निगमित किया जाता है। ब्रिटिश अनुभववादियों ने दृढ़ता से अन्तर्जात प्रत्यय के सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया और तर्क दिया कि ज्ञान, इन्द्रिय अनुभवों और आंतरिक मानसिक अनुभवों, जैसे भावनाएं और स्वचिंतन, दोनों पर आधारित है। 18वीं शताब्दी के ब्रिटिश अनुभववादी फ्रांसिस बेकन से निर्देशित थे। बेकन ने अपनी पुस्तक *न्यू आरगेनन* के प्रथम सूत्र में अनुभव की प्राथमिकता, विशेषकर प्रकृति के निरीक्षण पर, बल दिया।

मनुष्य, जो प्रकृति के सेवक और समीक्षक हैं, प्रविधि सक्रियाओं और प्रकृति-क्रम के निरीक्षण के अतिरिक्त न कुछ समझ सकते हैं और न ही क्रिया कर सकते हैं। ब्रिटिश अनुभववादियों ने अंतर्जात प्रत्यय की अपेक्षा अनुभवजनित प्रत्ययों को स्वीकार किया किन्तु यह ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि उन्होंने सामान्य रूप से सहज बुद्धि की अवधारणा अथवा अन्र्जातता को अस्वीकार नहीं किया। निश्चित रूप से, हमारे पास जन्मजात प्रवृत्तियां होती हैं जो हमारी शारीरिक क्रियाओं को नियन्त्रित करती हैं, भावनाओं को उत्पन्न करती हैं और यहां तक कि हमारे विचारों को निर्देशित करती हैं। अनुभववादी यह अस्वीकार करते हैं कि हम, विस्तृत, चित्र की तरह, ईश्वर की धारणा, कारणत्व और यहाँ तक कि गणितीय अवधारणाओं के साथ जन्म लेते हैं। बेकन के समान ब्रिटिश अनुभववादी भी निगमनात्मक प्रमाणों से हटकर

तर्क करने की आगमनात्मक प्रणाली का उपयोग करते हैं। आगमनात्मक प्रणाली अनुभव की सूचनाओं के संग्रह में अधिक सहायक थी। आगनात्मक तर्क की स्वीकार्यता के उपरान्त भी ब्रिटिश अनुभववादियों ने निगमनात्मक तर्क का व्यापक उपयोग किया। दर्शन के इतिहास में आगमन के प्रयोग पर टिप्पणी करते हुए, 19वीं शताब्दी के स्काटिश दार्शनिक जेम्स मैकाश ने तर्क दिया कि आगमन पद्धति मूलत: प्रारम्भि ब्रिटिश अनुभववाद, जैसे कि लॉक, की अपेक्षा उत्तरकालीन स्काटिश दर्शन का अधिक प्रतिनिधित्व करती है।

ब्रिटिश अनुभववाद : एक अवलोकन

जहाँ गैलिलियों और देकार्त ने ज्ञान की प्राप्ति और प्रतिरक्षा के लिए निगमनात्मक तर्क की भूमिका पर विशेष बल दिया, वहीं फ्रांसिस बेकन (1561–1626) ने ज्ञान की प्रायोगिक और निरीक्षणीय आगमन प्रणाली पर अधिक बल दिया। अपने द *ग्रेट इन्सटौरेशन* (1620) में, उन्होंने कहा कि "विज्ञान, कला और समस्त मानव ज्ञान, की पूर्ण पुनर्रचना उचित आध ार पर बनी होनी चाहिए।" उसके अनुसार "...विज्ञान आगमनात्मकता के अनिवार्य आधार पर खड़ा है। यह अनुभव का विश्लेषण करता है और इसे टुकड़ों में बांटता है और अपवर्जन और खड़ा है। यह अनुभव का विश्लेषण करता है और इसे टुकड़ों में बांटता है और अपवर्जन और समावेशन की प्रक्रिया से एक आवश्यभावी निष्कर्ष पर ले जाता है। यद्यपि वह मानते हैं कि सामान्य संवेदना अनुभव पर विश्वास नहीं करना चाहिए, लेकिन उन्होंने एक *न्यू आरगेनन* (अथवा प्रायोगिक प्रणाली), जो सामान्य अनुभव की त्रुटियों को सुधार सकती है, को प्रस्तुत किया। ऐसा इसलिये सम्भव है क्योंकि प्रयोगों की तीक्ष्णता स्वयं इन्द्रियों से अत्यधिक होती है, फिर चाहे यह अत्युत्तम उपकरणों से सम्पूरित ही क्यों नहीं, अर्थात् ऐसे प्रयोग समस्या के मुख्य बिन्दु के निर्धारण के उद्देश्य से कौशलपूर्ण और कृत्रिम रूप से निर्मित किये जाते हैं। इसलिए इन्द्रिय के त्वरित और उचित प्रत्यक्षण को मैं उतना महत्वपूर्ण नहीं मानता, लेकिन मैं कहता हूँ कि इन्द्रियों का कार्य केवल प्रयासों/ अनुभवों का निर्णय करना होना चाहिए। और इस प्रकार मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं संवेदना (जहाँ से बौद्धिक मानव के सम्पूर्ण प्राकृतिक ज्ञान को निसृत होना चाहिए) के सत्य संरक्षक के रूप में कार्य करता हूँ और मैं इन्द्रिय ज्ञान का कोई अनाड़ी व्याख्याकार नहीं हूँ...।"

यद्यपि वे जो अटकल लगाने या अनुमान करने की इच्छा नहीं रखते, बल्कि खोजने और जानने का प्रयास करते हैं, वे जो स्वयं इस उत्कृष्ट जगत की नकल कर विचार करने का प्रयास नहीं करते बल्कि इस विशेष जगत की प्रकृति का परीक्षण और सूक्ष्मता से अध्ययन करते हैं; उन्हें स्वयं प्रत्येक तथ्य तक अवश्य जाना चाहिए। इस मेहनत और खोजने और जगत के विश्लेषण की प्रवृत्ति को कोई सहज बुद्धि अथवा चिन्तन अथवा तर्कशीलता प्रदान नहीं सकती। इसलिए हमारे पास यह प्रवृत्ति अवश्य होनी चाहिए, या फिर ज्ञान प्राप्ति को सदैव के लिए रोक देना चाहिए। लेकिन इस विषय में मनुष्य की स्थिति आज तक ऐसी ही है, कोई आश्चर्य नहीं है कि प्रकृति स्वयं अपने को उनके (मानव के) हाथ में नहीं देगी।

बेकन पूर्वकालीन आधुनिक समय की दूसरे बड़ी 'चिन्तन की शाखा' ब्रिटिश अनुभववाद प्रारम्भि उदाहरण है। ये अनुभववादी मानते थे कि हमारा अधिकतर ज्ञान अनुभविक (अप्रागनुभविक) हैं। यूरोपीयन बुद्धिवादियों के समान ही वे मानव बुद्धि में आस्था रखते हैं, लेकिन उनकी 'बुद्धि' की प्रकृति की अवधारणा भिन्न है। यूरोपीयन बुद्धिवादियों ने माना कि अन्तर्जातीय प्रत्ययों में कार्यकारी निगमनात्मक तर्क जगत के बारे में आधारभूत सत्यों को

प्रकाशित करता है, वहीं ब्रिटिश अनुभववादियों ने माना कि निगमनात्मक तर्क "... केवल हमारे प्रत्ययों के मध्य के तार्किक सम्बंधों को प्रकाशित करता है; यह अस्तित्वमान वस्तु के बारे में कभी भी नवीन ज्ञान प्रदान नहीं करता। यह केवल इस प्रकार के दावों जैसे 'सभी त्रिभुजों में तीन भुजाएं होती हैं' को प्रस्तुत करता है। ज्ञान के अन्य कई संभव स्त्रोत भी होते हैं यथा; प्रकाशन, स्मृति, आप्त ग्रंथ या व्यक्ति इत्यादि।

तथापि, हमें यहाँ अनुभववाद की प्रारम्भिक विशेषताएं बताने में अवश्य ही सावधान रहना चाहिए। प्राय: यह कहा जाता है कि अनुभववादी अनुभव को केन्द्रीय भूमिका प्रदान करते हैं। अनुभववाद का ऐसा व्यापक चरित्र-चित्रण अपर्याप्त है-यदि कोई यह कहता है कि प्रत्येक वस्तु अनुभव पर आधारित है (या अनुभव से प्रमाणित है, या अनुभव में उत्पन्न होती है, इत्यादि), तो हमें यह अवश्य जानना चाहिए कि यहां अनुभव की किस धारण (परमाणुवादी, कल्पनावादी, धार्मिक, इत्यादि) की बात कही जा रही है। जैसे कि थामस ग्रें ओलिवर वेन्डेल होम्स की अनेक पुस्तकों के अपने आलोचनात्मक पुनर्निरीक्षण में बताता है। होम्स की वैज्ञानिक घोषणाओं को सदैव यह ध्यान रखते हुए पढ़ना चाहिए कि वह भी एक रोमान्सवादी थे। उनका रहस्यवाद वर्डस्वार्थ के जैसा था जो अज्ञात की उद्धात्ता को प्रकट करता है और जब वह कहते हैं कि नियम सदैव 'अनुभव' आधारित होते हैं या होने चाहिए तब वे रोमान्सवादी इतिहासकारों के व्यवहारों और प्रथाओं से निर्मित सामूहिक चेतना को उद्येलित करते हैं। यह चेतना कभी भी शिष्ट बुद्धि से पूर्णत: नहीं पकड़ी जा सकती। जैसा कि हम इस पद का प्रयोग करेंगे, उन दार्शनिकों को निर्देशित करता है जो इन्द्रिय अनुभव को एक केन्द्रीय भूमिका प्रदान करते हैं। यद्यपि यह ध्यान रखना चाहिए कि अनुभव के द्वारा 'केन्द्रीय भूमिका निभाने' के विभिन्न ढ़ग हो सकते हैं। इनमें से कुछ को निम्नलिखित दावों के मध्य के अन्तर को ध्यान में रखकर पृथक किया जा सकता है :

(अ) यह कि मनुष्य के प्रत्ययों, बोध या ज्ञान इन्द्रिय अनुभव से निकलते हैं;

(ब) यह कि मानव ज्ञान का एक मात्र स्त्रोत इन्द्रिय अनुभव है;

(स) यह कि मानव बोध या ज्ञान की विषय-वस्तु इन्द्रिय अनुभव हैं; अथवा

(द) यह कि मानव बोध या ज्ञान तब उत्पन्न होता है जब इन्द्रिय अनुभव (उचित रूप से) प्रतिज्ञप्ति (या परिकल्पना, या सिद्धांत) या प्रत्ययों के परीक्षण का आधार होता है।

तथापि, अनुभववाद के जिस भी संस्करण को स्वीकार किया जाए; यह यूरोपीयन बुद्धिमाद से एक स्पष्ट विरोधाभास प्रदर्शित करता है। जहां बुद्धिवादी प्रागनुभविक कथनों ('संशयहीन' सत्य) से कठोर निगमनात्मक प्रक्रियाओं द्वारा ज्ञान को उद्घृत करने का प्रयास करते हैं; ब्रिटिश अनुभववादी इन्द्रिय अनुभव को (चाहे स्त्रोत के रूप में, विषय के रूप में, या हमारे ज्ञान के दावों के प्रमाणीकरण में) आधारभूत भूमिका निर्दिष्ट करते हैं।

इस प्रकार वे मानते हैं कि हमारा ज्ञान आधारभूत रूप से अप्रागनुभविक है-जैसा कि ऊपर देखा गया है, अनुभववादीयों का विश्वास हैं कि निगमनात्मक तर्क केवल हमारे प्रत्ययों के मध्य के तार्किक सम्बंधों को प्रदर्शित कर सकते हैं और अस्तित्व की सत्यता को प्रकाशित नहीं कर सकते। यथार्थ सत् केवल आगनात्मक प्रक्रियाओं द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यूरोपीयन बुद्धिवादियों के समान ही ब्रिटिश अनुभववादी भी प्रत्ययों से प्रारम्भ करते हैं, लेकिन जहाँ बुद्धिवादी प्रागनुभविक अन्तर्जात प्रत्ययों, स्वस्पष्ट और निगमनात्मक ज्ञान के आधार, से आरंभ करते हैं वहीं अनुभववादी 'संवेदी प्रत्ययों' से प्रारंभ करते हैं। उनके अनुसार ये अनुभवजनित ही अप्रागनुभविक ज्ञान का स्त्रोत या आधार बनाते हैं।

ब्रिटिश अनुभववाद के साथ मूलत: तीन दार्शनिक जुड़े हैं : जान लॉक, जार्ज बर्कले और डेविड ह्यूम। कभी-कभी 19वीं शताब्दी के दार्शनिक जे.एस. मिल को भी इस सूची में जोड़ दिया जाता है। लेकिन केवल यहीं तक ब्रिटिश अनुभववादी आंदोलन को रखना भ्रामक है। अंग्रेजी प्रत्ययवाद (1850 के आस-पास तक) के उदय होने तक लॉक के बाद के सभी ब्रिटिश दार्शनिक उनके अनुभववाद के चिन्हों को अपनाए रहते हैं। दार्शनिकों, दार्शनिक ध र्मशास्त्रीयों और राजनैतिक विचारकों ने लॉक को किसी भी अन्य दार्शनिक से अधिक महत्व दिया है।

जॉन लॉक

यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि लॉक ने पारम्परिक दार्शनिक प्रश्नों के संबंध में, अनेक बिन्दुओं पर त्रुटिपूर्ण होते हुए भी, आधुनिक राजनैतिक दर्शन के विकास में बड़ा योगदान दिया। उदाहरण के लिए, लॉक ने बताया कि अधिकार एक अपरिमित बुद्धिमान सत्ता (ईश्वर) और एक विवेकपूर्ण लेकिन निर्भर सत्ता (मानव) के मध्य के सम्बंध से निश्चित किये जा सकते हैं। इसलिए नैतिक नियम तर्कपूर्ण हैं और दैवीय अधिकार और फिर प्राकृतिक अधिकार के साथ सम्बंधित किये जा सकते हैं। नैतिक नियमों के पास अनिवार्य रूप से समुचित प्रतिबन्धों (पुरस्कार और दण्ड) को होना चाहिए जो संकल्प पर इस ढ़ंग से लागू हो कि वे मनुष्य को उस प्रवृत्ति से दूर रखें जो उसके अपने कल्याण के लिये घातक होते हैं।

लॉक ने थॉमस हॉब्स के समाजिक सिद्धांत का विरोध यह कहकर किया कि आदिम युग में मनुष्य जंगली नहीं था, जहां अधिकारों को बलपूर्वक प्राप्त किया जाता था। मानव तब भी विवेकी थे और जीवन के आधारभूत अधिकारों, स्वतंत्रता, सम्पत्ति, और इसी प्रकार के अन्य अधिकारों के विचार से परिपूर्ण थे। मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था से सामाजिक अवस्था तक की प्रगति एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक की प्रगति है; लेकिन इसमें कोई नव परिवर्तन समाहित नहीं है। ऐसी संप्रभु सत्ता जो अपने नागरिक के अधिकारों की रक्षा करने की अपनी वचनबद्धता में असफल होती है वह संप्रभुता की अधिकारी नहीं है और अपने नागरिकों द्व ारा उसे हटाया जा सकता है। लॉक को शास्त्रीय उदारवादी राजनीति का संस्थापक समझा जाता है और अपने जीवन काल से लेकर कई शताब्दीयों तक उनका अत्यधिक प्रभाव रहा था। इसमें अमेरिका गणतंत्र की स्थापना में उनका दार्शनिक योगदान भी सम्मिलित है। लॉक अपने समय के विद्वानों में सर्वाधिक सुवाक थे। वह *स्कालेस्टिसिसम* को बिना समझे कट्टरता से नकारने वाले; दर्शन को जड़ से पकड़ने वाले, दुर्बोध विषयों पर स्पष्ट विचार रखने वाले महान दार्शनिक थे।

वस्तुत:, दार्शनिक सिद्धांतों की इतनी स्पष्टता और संशयहीन अभिव्यक्ति वास्तव में प्रशंसनीय है। यह मान्यता कि दर्शन को अ-ब-स जैसी स्पष्टता से प्रस्तुत किया जा सकता है, अत्यन्त अच्छी है। यह परिकल्पना की भूतकालीन सभी दार्शनिक दिग्भ्रमित और अज्ञानी थे सत्य नहीं है। पुरानी धैर्य हीनता, पुरानी दार्शनिक मान्यताओं के प्रति असहनशीलता, जिसने मानववाद, पुनर्जागरण, सुधारवाद को उत्पन्न किया, और सत्य के लिए प्रयास ये सभी गुण लॉक में ठीक उसी प्रकार स्पष्ट हैं, जिस प्रकार से फ्रांसिस बेकन, देने देकार्त और लगभग उन सभी दार्शनिकों में स्पष्ट है जिन्होंने प्रमाणिक सामान्य यर्थाथवाद को छोड़ दिया था। नि:संदेह लॉक के मन में दर्शन को पुर्नरचित करने का विचार था, जिसके लिए वह बेकन के अनुभववाद की योजना से पूर्ण रूप से सहमत नहीं थे। तथापि यह लगता है उसके पास भी अपनी कोई

विस्तृत योजना से पूर्ण रूप से सहमत नहीं थे। तथापि यह लगता है उसके पास भी अपनी कोई विस्तृत योजना नहीं थी। वह विश्वस्त थे कि एक बार मनुष्य के मन ने तथ्यों को समझना सीख लिया, एक बार वह अपनी शक्तियों को जान गया और अपनी वास्तविक सीमितताओं को पहचान गया, एक बार वह ज्ञान की प्रकृति और विस्तार के विषय में निश्चित हो गया, तब दर्शन का विकास निर्बाध रूप से होता रहेगा। इस प्रकार, लॉक की विशेष रूचि ज्ञानमीमांसीय प्रश्न में थी। वह इस सम्बन्ध में अपने प्रसिद्ध निबन्ध में लिखते भी है।

ज्ञान की स्पष्टता में रूचि रखते हुए भी लॉक संवेदनात्मक ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान में अंतर करने से बच नहीं सके और इस प्रकार उन्होंने अपने दर्शन को अस्पष्ट और अधिक जटिल बना दिया। परिणाम स्वरूप, कोई भी न केवल उनसे भिन्न बल्कि विपरीत, मत को उनकी सैद्धान्तिक अवधारणाओं से निकाल सकता है। उन्हें एक विभिन्न सैद्धान्तिक आधार से समझने पर प्रत्ययवाद सामने आता है। एक दूसरे दृष्टिकोण से समझने पर इन्द्रियवाद और भाववाद, जो अनुभविक सत्यों को ही वास्तविक मानते हैं और बुद्धिमता और तार्किकता (यहाँ तक कि उस तार्किकता को भी जिससे तुम इस अरूचिकर निष्कर्ष पर पहुँचे हो) को मूल्यहीन मानता है, निकल आता है। सिद्धांतों के इस असम्भव समूह को स्पष्ट रूप से या अस्पष्ट रूप से, एक स्वच्छ मस्तिष्क वाले व्यक्ति के द्वारा, जिसकी अन्ततः समस्त दर्शन के आधारभूत प्रश्न, ज्ञानमीमांसीय प्रश्न के आधार पर आलोचना की गयी, प्रस्तुत किया गया।

लॉक की ज्ञानमीमांसा

लॉक ने अन्तर्जात प्रत्ययों के देकार्त के मत का कठोर रूप से विरोध किया। उनके अनुसार, समस्त ज्ञान अनुभव से आता है। ज्ञान के तत्व प्रंत्यय हैं, और लॉक ने अपने निबंध *एससे कन्सरनिग ह्यूमन अण्डर स्टेण्डिग* में प्रत्यय की निम्न प्रकार से व्याख्या की है : "यह वह पद है जो, मैं सोचता हूँ, जब मनुष्य सोचता है तो उसके बोध के विषय को प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त होता है, मैं कल्पना, मंतव्य, जाति, या फिर वह सब कुछ जिसे सोचने के लिए मन का उपयोग हो सकता है, को व्यक्त करने के लिये प्रत्यय शब्द का प्रयोग करता हूँ।"

देकार्त ने समस्त इन्द्रिय प्रत्यक्ष को आध्यात्मिक मन में स्थापित किया और इस प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्ष को आध्यात्मिक क्रिया के साथ सम्बंधित किया। इसके विपरीत, लॉक ने प्रत्ययों को, कम से कम कुछ सीमा तक, इन्द्रिय सम्वेदन (कल्पना, जाति) के स्तर पर लाकर रख दिया। इस प्रकार, उन्होंने स्वच्छिक ढ़ंग से इन्द्रिय प्रत्यक्ष को समाहित करके प्रत्यय की प्रकृति को धुँधला कर दिया और इन्द्रियवाद संवेदनावाद की आधारशिला रखी, जहाँ सभी चिन्तन और कुछ नहीं है बल्कि संवेदना का एक प्रकार है। 'प्रत्यय' की इस परिभाषा का एक अन्य महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि 'प्रत्यय' हमारे बोध का विषय है, न कि वस्तु-सत्।

लॉक के अनुसार, प्रत्यय, दो स्त्रोतों से उद्घृत होते हैं-इन्द्रिय प्रत्यक्ष और चिंतन; और समस्त ज्ञान प्रत्ययों में सीमित है। चूँकि मनस अपने समस्त विचारों और तर्कों में प्रत्यय, न कि अन्य कोई तत्कालिक विषय, को जानता है, मन केवल प्रत्यय को ही समझ सकता है इसलिये यह कोई तत्कालिक विषय, को जानता है, मन केवल प्रत्यय को ही समझ सकता है इसलिये यह स्पष्ट है कि हमारा ज्ञान केवल उनसे ही परिचित है। तब, प्रत्ययों के बीच संगति या असंगति या विरोधिता के सम्बंध के प्रत्यक्ष को ज्ञान कहते हैं।"

निश्चय ही, इसका अर्थ यह है कि हम वास्तव में वस्तुओं या वस्तुसत् को नहीं जानते बल्कि प्रत्यय या मन की चेतन अवस्था को जानते हैं और यही देकार्त और प्रत्ययवाद का

दृष्टिकोण है। यद्यपि, लॉक न तो भौतिक पदार्थों जैसे द्रव्य, न ही आध्यात्मिक पदार्थों, जैसे आत्मा और ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करते हैं, वह केवल भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के द्रव्यों को अज्ञेय मानते हैं।

किन्तु वस्तु सत् के रूप में कुछ तो होना चाहिए, क्योंकि नहीं तो मेरे मन पर पड़े इन्द्रिय सम्वेदनाओं का विश्लेषण नहीं किया जा सकेगा। लॉक अन्तर्जात क्षमताओं के प्रागानुभविक स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। लॉक बताते हैं कि मानव मन में ज्ञान के तीन स्तर होते हैं; अंत:प्रज्ञात्मक, प्रदर्शनात्मक और सम्वेदनात्मक ज्ञान। यह समझना महत्वपूर्ण है कि उन्होंने सह दावा नहीं किया कि उनका दर्शन सभी निश्चितताओं को खोज सकता है, बल्कि उन्होंने यह कहा कि यह उन वस्तुओं को खोज सकता है जो निश्चित रूप से हमारे बोध से परे हैं। लॉक के लिए ऐसा ज्ञान सर्वाधिक निश्चित होता है जो निश्चित रूप से हमारे बोध से परे हैं। लॉक के लिए ऐसा ज्ञान सर्वाधिक निश्चित होता है और ज्ञान को आधार प्रदान करता है। लॉक के अनुसार, समस्त प्रत्ययों को या सरल या जटिल प्रत्यय में वर्गीकृत किया जा सकता है। जटिल प्रत्यय सरल प्रत्यय की अन्य प्रत्यय की तुलना करके बनाये जाते हैं। लॉक ने इस प्रश्न का उत्तर यह कहते हुए दिया कि प्रत्यय उस स्तर तक जगत का बाह्य वस्तुओं को प्रदर्शित करते हैं जितना ईश्वर चाहते हैं। प्रदर्शनात्मक ज्ञान उस स्तर का ज्ञान है जिसे हम तार्किक चरणों, कतिपय निश्चितताओं की प्रक्रिया द्वारा प्रकाशित कर जान सकते हैं। ये प्रत्यय मन की विभिन्न तीन क्रियाओं द्वारा बनते हैं; मिश्रण करना, तुलना करना और अमूर्तीकरण करना। लॉक के अनुसार, सरल प्रत्यय सबसे आधारभूत मानसिक कण हैं। अंगूर का प्रत्यय सरल प्रत्ययों जैसे कि गोलपन, लाल और कोमल द्वारा बना होता है। 'हमारा द्रव्य का प्रत्यय समान रूप से अस्पष्ट है, मैं नहीं जानता कि वह क्या है अथवा वह है भी या नहीं; किन्तु यह गुणों को ध ारण करने वाला प्रत्यय है। विस्तरित, आकृत, रंगयुक्त और सभी अन्य अनुभवपरक गुणों का जटिल प्रत्यय ही वह सब है जिसे हम जानते हैं, द्रव्य के प्रत्यय से हम उतने दूर है, जैसे कि हम इसके बारे में कुछ नहीं जानते।'

लॉक, इस प्रकार, भौतिक और आध्यात्मिक 'द्रव्य' के अस्तित्व को मानते हैं, लेकिन वह स्वीकार करते हैं कि वे अज्ञेय है; केवल 'गुण' या 'परिघटना' को ही जाना जा सकता हैं। अन्तत: वह एक परिघटनावादी अनुभववाद को प्रस्तुत करते हैं। लॉक एक विश्लेषणवादी विचारक थे। उसकी मुख्य रूचि ज्ञान को प्रकाशित करने और उसकी वैधता के परीक्षण करने में थी। मन के तत्वमीमांसीय कारक उसके लिए समस्या के रूप में कम महत्वपूर्ण थे। वह अनुभववाद के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करने वाले पहले दार्शनिक थे। अनुभवादी मान्यता के साथ वस्तुनिष्ठ वास्तविकताओं की तत्वमीमांसा की रचना असंभव हो जाती है। लेकिन लॉक ने अपनी ज्ञानमीमांसा में ईश्वर के, जगत और ज्ञेय / कर्ता के अस्तित्व को प्रमाण द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया।

प्राथमिक और द्वितीयका गुण

लॉक को भौतिक वस्तुओं में प्राथमिक और द्वितीयक गुणों को पृथक करने के लिए भी जाना जाता है। ज्ञान के स्वरूप की खोज करने में लॉक को निरन्तर ऐसे प्रश्नों का सामना करना पड़ा कि : क्या अनुभव के विषय वास्तव में ऐसे हैं जैसे वे दिखते हैं; घास क्या वास्तव में हरी है; क्या घूमने वाला पहिया वास्तव में गति में है; पत्थर क्या वास्तव में ठोस है? लॉक ने देखा कि कुछ कतिपय गुण अभेद्यता, विस्तार, आकार, स्थिरता, गति सभी पिण्डों में समान हैं।

ये प्राथमिक गुण कहलाते हैं और वस्तुनिष्ठ वस्तुओं में अस्तित्व मान होते हैं। किन्तु कुछ ऐसे अन्य गुण भी हैं जो सभी पिण्डों में समान रूप से नहीं पाया जाते जैसे कि रंग ध्वनि, स्वाद, गंध, ताप प्रतिरोध आदि और ये द्वितीयक गुण कहलाते हैं। ये गुण मुख्यत: आत्मनिष्ठ होते हैं।,

लॉक का संवेदित गुणों का प्राथमिक और द्वितीयक के रूप में भेद केवल एक सुगम सूची का कार्य कर सकते है। लेकिन उनकी वस्तुनिष्ठ वास्तविकता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि हम प्राथमिक गुणों के बारे में पूर्ण रूप से अनभिज्ञ हैं। हम इन्हें केवल गुणों के माध्यम से ही जान सकते हैं और यदि द्वितीयक गुण, आत्मनिष्ठ होने के कारण, संदिग्ध होते हैं तो हमारे पास कोई कारण नहीं है कि प्राथमिक गुणों की वास्तविकता पर विश्वास करें। लॉक का संवेदनात्मक-गुणों का सिद्धांत पूर्ण संशयवाद के स्व-अंतर्विरोध के मार्ग को इंगित करता है।

बर्कले

जॉन लाक ने ज्ञान का एक ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत किया जिसमें द्रव्य स्वयं में ही बद्ध था। ऐसे ज्ञान का उद्देश्य परिणामत: प्रत्यय (विषयगत प्रभाव) होते है न कि वस्तुएँ। यदि प्रत्यय हमारे ज्ञान की त्वरित वस्तु है, तो यह सदैव सम्भव है कि ऐसे प्रत्ययों के समान कोई बाह्य यथार्थ हो ही नहीं।

जॉर्ज बर्कले ने इस सिद्धांत को नकार दिया और बाह्य-विश्व के यथार्थ को सीमित और असीमित आत्मा (ईश्वर) तक सीमित कर दिया। बर्कले के अनुसार, कोई भौतिक जगत नहीं है। यहाँ तक की लॉक का द्रव्य का सम्प्रत्यय मात्र एक नाम है, जिसमें कोई सत्य नहीं है। यह केवल आत्माओं का विश्व है, जिसे उच्चतम आत्मा (ईश्वर) नियंत्रित करती है।

बर्कले के दर्शन में केवल अभौतिक आध्यात्मिक द्रव्य है। ऐसा क्यों है? इसे जानने के लिए हमें यह ध्यान रखना होगा कि बर्कले के दर्शन का उद्देश्य धार्मिक समस्याओं का समाधान करना था। उन्होंने अपने समय के समाज पर आध्यात्मिक और ईसाई मूल्यों की पुनर्स्थापना करनी चाहिय। बर्कले ने भौतिकवादियों को यह बताना चाहा कि लॉक के ज्ञान के सिद्धांत में द्रव्य का कोई स्थान नहीं है और इसलिये उनका सम्पूर्ण दर्शन व्यर्थ है। यथार्थ केवल आत्माओं, जिनके सम्मुख ईश्वर व्यक्त होते हैं और जिन्हें ईश्वर प्रत्ययों को सम्प्रेषित करते हैं, का समुच्चय है।

बर्कले के दर्शन का आरम्भिक बिंदु लॉक का भाषा सिद्धांत है। लॉक के अनुसार, शब्दों में अर्थ उनके अनुरूप उपस्थित प्रत्ययों द्वारा आता है और सामान्य शब्द, जैसे कि विधेय, अमूर्त सामान्य प्रत्ययों के संगत अर्थग्रहण करते हैं। ऐसे प्रत्ययों का निर्माण करने की क्षमता ही मानव और पशु में भेद करती है।

बर्कले लॉक के निबंध से सामान्य शब्दों के दो भिन्न अर्थ निकालते हैं। प्रथम को हम प्रतिनिधित्व सिद्धांत तथा दूसरे को निष्कर्षात्मक सिद्धांत कह सकते हैं। प्रथम के अनुसार, सामान्य प्रत्यय विशिष्ट प्रत्यय है। विशिष्ट प्रत्यय को सामान्य प्रत्यय विशिष्ट वस्तुओं के सभी प्रकारों के लिये एक आदर्श प्रकार को प्रस्तुत करके बनाया जाता है। जैसे कि अध्यापक सभी त्रिकोणों को प्रदर्शित करने के लिये एक त्रिकोण को स्यामपट्ट पर बनाता है। द्वीतीय के अनुसार, एक सामान्य प्रत्यय ऐसा विशिष्ट प्रत्यय है जिसे वस्तुओं में उपस्थित समान गुणों को एक नाम देकर बनाया जाता है। जैसे 'मनुष्य' का अमूर्त प्रत्यय पीटर, राम और रहिम की विशिष्टता को परे रख उनके केवल सामान्य गुणों को संचित करता है।

ज्ञान का सिद्धांत

बर्कले का सबसे रोचक और मौलिक विचार उनका ज्ञान का सिद्धांत है। वह लॉक की अनुभववादी शिक्षा कि हमारे ज्ञान की त्वरित वस्तु प्रत्यय है को स्वीकार करते हैं परन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत प्राथमिक (वस्तुगत) और द्वितीयक (विषयगत) गुणों के विभाजन को नकार देते हैं।

प्राथमिक गुण (समय, स्थान, गति) द्वितीयक गुण (रंग, ध्वनि) के बिना अनुभूत नहीं हो सकते। वास्तव में, हम प्राथमिक गुणों को द्वितीयक गुणों के संयोजन और उनके द्वारा ही जान पाते हैं। यदि हम विषयीगत प्रभाव को अनुभूत करने के ढ़ंग जानते हैं तो ऐसे प्रभाव दो कोटियों में, एक विषयीगत और दूसरा वस्तुगत, विभाजित नहीं हो सकते। सभी संवेदन केवल विषयी द्वारा अनूभूत होने चाहिए, अतः सभी गुण विषयीगत है। फिर, बर्कले रहस्यात्मक वस्तुनिष्ठ आधार के रूप में लॉक के द्रव्य के प्रत्यय का निषेध करते हैं। बर्कले पूछते हैं कि क्या ऐसा कोई भौतिक आधार, हमारी संवेदनाओं से पृथक अस्तित्वमान हो सकता है। यदि यह हमारे संवेदनों से पृथक हैं, तो अनुभूतिगम्य नहीं हो सकता। यदि वह हमारे संवेदनों से सम्बंधित है, तो वह विषयी में स्थित हैं और इस प्रकार भौतिक पदार्थ संज्ञानात्मक परिघटनाएं सिद्ध होते हैं और इसका प्रकार विषयनिष्ठ ठहरता है।

अतः, यह असम्भव है कि पदार्थ स्वः अस्तित्वमान, वस्तुनिष्ठ, अक्रिय और चिन्तन रहीत हो। जब हम कहते हैं कि वस्तु है तो इसका अर्थ है कि वह हमारे द्वारा अनुभूत है। वस्तुओं का अस्तित्व प्रत्यक्ष आधारित होना है; अर्थात अनुभूत होना ही अस्तित्वमान होना है; (*दृश्य इति वृतते*) है। प्राथमिक और द्वितीयक गुण, पदार्थ और संवेदन प्रत्यक्ष क्रिया के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। ये मानसिक तथ्य हैं। इस प्रकार बर्कले का ज्ञान का सिद्धांत सभी यर्थाथ वस्तुओं को प्रतिभासित सत् के स्तर पर ले आता है। अतः, भौतिक जगत केवल संज्ञानात्मक, निर्मित और मानसिक सिद्ध होता है। अतः सभी कुछ विषयीनिष्ठ रूप से अस्तित्वमान हैं।,

बर्कले सामान्य और सार्वजनिक प्रत्ययों का खण्डन करते हैं। मन एक सामान्य रंग, जो न तो लाल है न सफेद है, का प्रत्यय नहीं बना सकता। अतः केवल विशेष, निर्धारित प्रत्यय होते हैं और तथाकथित सामान्य प्रत्यय केवल नाम है, प्रत्यय नहीं। सामान्य प्रत्यय न तो मन में होते हैं और न ही मन से बाहर। जहाँ तक यह सामान्य और अमूर्त प्रत्ययों का निषेध करता है, बर्कले का नामवाद लॉक से अधिक मौलिक है। लॉक ने उन पर (प्रत्ययों पर) केवल प्रतिबंध आरोपित किये हैं।

ब्रह्माण्ड की प्रकृति

बर्कले भौतिक जगत का खण्डन करते हैं और इसे ज्ञानात्मक प्रपंच मानते हैं किन्तु वे आध्यात्मिक विश्व के अस्तित्व से इनकार नहीं करते। वे मानते हैं कि उन्होंने विषयीनिष्ठ प्रत्ययों की उपस्थिति से आध्यात्मिक विश्व के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया है। बर्कले अपनी आत्मा के अस्तित्व के प्रति आश्वत होकर इसकी प्रकृति निर्धारित करने का प्रयास करते हैं। आत्मा प्रत्यय-जनक होने से सक्रिय और प्रत्यय-ग्रहण करने से अक्रिय भी है। इसकी क्रिया शीलता कल्पना में और स्मृति में प्रकट होती है, जिसकी सहायता से हम प्रत्यय उत्पन्न व स्मृत करते हैं। आत्मा की निष्क्रियता, जैसा हमने ऊपर कहा है, इस तथ्य में प्रकट होती हैं कि आत्मा उन प्रत्ययों को ग्रहण करती है, जिन्हें उसने उत्पन्न नहीं किया हैं। फलतः, यह हमारी शक्ति के बाहर है कि कमरे की चीजें हमें इच्छानुसार दिखाई दे और न दिखाई दे।

आत्मा की यह अक्रियता बर्कले को अपने से अन्य सीमित आत्माओं के अस्तित्व का और ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में सहायता प्रदान करती है। वे प्रश्न करते हैं कि उन प्रत्ययों का मूल क्या है जो हमारी आत्मा पर आरोपित है और जिसकी उत्पत्ति हमसे नहीं हुई है। उनके अनुसार, वे अन्य आत्माओं की इच्छा से उत्पन्न हैं चूँकि जैसे मैं देखता हूँ वैसे ही अन्य आत्माएँ भी देखती हैं। प्रत्ययों के उत्पादन में मेरी आत्मा के साथ-साथ अन्य आत्माएँ सहायक होती हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे प्रत्यय भी हैं जिसे हम अनुभूत तो करते हैं किन्तु वे मेरी आत्मा से जनित नहीं हैं, न ही किसी अन्य सीमित सत्ता से उत्पन्न माने जा सकते हैं- जैसे प्राकृतिक प्रपंचों की नियमितता। बिना किसी की इच्छा के अग्नि सदैव जलाती है। ऐसे प्रत्यय हेतु सभी सीमित आत्माओं से पृथक एक असीमित आत्मा (ईश्वर) की आवश्यकता होती है, जो प्राकृतिक प्रपंचों की व्यवस्था, संतुलन और स्थिरता बनाए रखता है।

इस प्रकार, ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करके बर्कले मानते हैं कि उन्होंने आध्यात्मिक परिघटनावाद के विरूध खड़ी सभी कठिनाइयों को हल कर दिया है। उदाहरण के लिए, जैसे कोई पूछता है कि यदि प्रत्ययों/वस्तुओं का अस्तित्व आत्मा की इच्छा पर निर्भर है तब क्या वस्तुएँ तब भी आस्तित्वमान रहती हैं जब हम कमरे या घर में नहीं होते। बर्कले इसका उत्तर हां में देते हैं और कहते हैं कि जब सीमित आत्मा चीजें अनुभूत नहीं करती होती हैं तो उसे ईश्वर देखता है। अब, यदि कोई चित्र की आग और वास्तविक आग में अंतर करते हुए प्रश्न करता है कि क्यों चित्र की आग जलाती नहीं है और वास्तविक आग जलाती है तो बर्कले का उत्तर होगा कि जन्मदाता ईश्वर ने वास्तविक आग में जलाने का प्रत्यय जोड़ा है जो कि चित्रात्मक आग में नहीं है। संक्षेप में, इस अंतर के साथ बर्कले का प्रपंचात्मक जगत जैसा लोग जानते हैं उससे अलग नहीं है। अंतर केवल यह है कि जहां सामान्य अवधारणा यह है कि प्राकृतिक प्रपंच भौतिक जगत के उत्पाद हैं वहीं बर्कले के अनुसार भौतिक जगत का अस्तित्व नहीं है। भौतिक जगत के अस्तित्व का मूल ईश्वर भौतिक जगत की वस्तुओं के संगत प्रत्यय को उत्पन्न एवं व्यक्त करने वाला, है। इस प्रकार, अब हम मेलब्रांश के प्रसंगवाद पर पहुँच जातेह हैं; ईश्वर आत्मा में प्रत्यय उत्पन्न करता है। प्रत्यय आत्मा को प्रभावित करते हैं। स्थायी संबंध, जिससे ईश्वर हमारी आत्माओं के प्रत्यय निर्धारित करता है, तथाकथित प्रकृति के नियम है। यह वह भाषा हैं जिसके माध्यम से ईश्वर स्वयं को प्रकट करता है और हमें निर्देश देता है। इस प्रकार बर्कले विश्वास करते हैं कि उन्होंने वह कार्य सम्पन्न कर दिया जिसे उन्होंने आरम्भ किया था : नास्तिकतावादियों के आक्रमण से ईश्वरवाद की प्रतिरक्षा तथा भौतिकवादी विश्व के अस्तित्व का खण्डन।

लेकिन क्या बर्कले ने अपना लक्ष्य प्राप्त किया? सीमित आत्माओं का प्रत्ययों से भिन्न अस्तित्व आध्यात्मिक द्रव्य के सम्प्रत्यय को जन्म देता है। आत्मा की सक्रियता और निष्क्रियता कारणता के प्रत्यय को आपादित करती है। ईश्वर के अस्तित्व की स्वीकृति कारणता और पदार्थ दोनों के सम्प्रत्यय को जन्म देती है। वस्तुत:, इन सभी सम्प्रत्ययों को तत्वमीमांसीय रूप से स्थापित किया जाना चाहिए था, जो बर्कले ने नहीं किया। अनुभववाद का पूर्ण परिघटनावाद की ओर विकास बर्कले में आधे रास्ते तक जाता है।

वह ह्यूम थे जिन्होंने अनुभववाद के तार्किक निष्कर्षों को निकाला और परिघटनावाद को न केवल भौतिक द्रव्य के प्रसंग में, जैसा कि बर्कले ने किया, वरन् आध्यात्मिक पदार्थ के संदर्भ में भी स्थापित किया।

बर्कले सामान्य को वैध नहीं मान सके। उन्होंने सामान्यों और स्वसिद्धों को अनावश्यक रूप से नकार दिया। उनके दर्शन की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उन्होंने बहुत कुछ, विशेष रूप से बाह्य विश्व, बिना व्याख्या के छोड़ दिया। उनका आधारभूत सिद्धांत-मन केवल अपने प्रत्यय जान सकता है-को 'अहमवादी अवस्था' (Egocontric predicament) कहा जाता है। यह अज्ञात की कल्पना करने की अवस्था है। बर्कले के दर्शन से चिन्तन की दो धाराएं निकलती हैं।

उनके कमजोर पक्ष सामान्यों का निषेध से डेविड ह्यूम का दर्शन प्रतिपादित होता है।

उनका सबल पक्ष-आत्मा की सर्वोच्चता, जर्मन प्रत्ययवाद; फिख्ते, शेलिंग, शलाईमेकर और हेगेल की ओर जाता है।

डेविड ह्यूम

ह्यूम के अनुसार, अनुभवों के संगठित और संश्लेषित होने के ढ़ंगों को दिग्दर्शित करके प्रथाएँ और परम्पराएँ मन को संरचना प्रदान करती हैं। सहज बुद्धि प्रत्यय भूतकालीन पीढ़ी के विभिन्न अनुभवों का संग्रह होते हैं। नयी पीढ़ी उन्हें अनुपूरित कर सकती है लेकिन उन्हें अनदेखा नहीं कर सकती। यद्यपि प्रथा और परम्परा अनुभव से श्रेष्ठ नहीं हैं। तब क्या पूर्णतः नए प्रकार के अनुभव (जैसे कि नये उपकरणों यथा इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी और एम.आर. आई. आदि से उत्पन्न नया अनुभविक ज्ञान) उत्पन्न होते हैं और तब क्या चिन्तन की प्रथागत आदत उनमें उपयुक्त रूपान्त्रण करती है। अधिकतर अनुभववादी तथ्य और मूल्य में स्पष्ट भेद करते हैं। मूल्यपरक निर्णय मन के 'अतार्किक' तत्वों से निगमित होते हैं। अनुभूति, संवेग या अभिवृत्ति, जिसमें अनुभविक वैधता की कमी होती है, इसके उदाहरण हैं। शुद्ध विवरणात्मक और सत्यापनीय कथन वह हैं जो अनुभव के अनुरूप होते हैं। कई अनुभववादी कहते हैं कि मूल्यात्मक कथन मात्र तथ्यों से निगमित नहीं हो सकते; वे तथ्यों की संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ है जो विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न हो सकती हैं। अनुभवादी मूल्यपरक कथनों को तभी वर्णनात्मक मान सकते हैं जबकि मूल्यपरक दावों को व्यक्तियों की वास्तविक इच्छाओं अथवा वास्तविक अनुभवपरक आनन्द के स्तर पर लाया जा सके। यही कारण है कि बाद के अनुभवादी जैसे मिल और जेम्स नैतिकता के सिद्धांत के उपयोगितावादी सिद्धांत की और आकर्षित हो जाते हैं। अनुभववादी मन को मूलतः निष्क्रिय मानते हैं। उनके अनुसार, मन वास्तविक वस्तुओं से उत्पन्न संस्कारों को ग्रहण करता है। बुद्धि का मुख्य प्रकार्य अनुभविक प्रस्तुतियों में समानता और विभिन्नता की खोज करना है। इस प्रकार बुद्धि विभिन्न समानताओं को प्रकारों और साधारण सामान्यीकरणों में अपघटित कर सम्प्रत्ययों का निर्माण करती है जिससे आगे के अनुभव सुसंगठित हो सकें।

कारणता

यदि हम कारणता के प्रत्यय के मूल को देखे तो, ह्यूम कहते हैं, हम पाते हैं कि यह वस्तु का आंतरिक गुण नहीं हो सकता। क्योंकि दो विभिन्न प्रकार कि वस्तुएं भी कारण और कार्य हो सकती है। इसलिए कारणता के स्थान पर हमें वस्तुओं के बीच के सम्बंध को देखना चाहिए। ध्यान से देखने पर वास्तव में हम यह पाते हैं कि कारण और कार्य एक दूसरे के समीप होते हैं। कारण सदैव कार्य से पूर्व होता है। परन्तु ज्ञान के लिये मात्र यही पर्याप्त नहीं है। यद्यपि प्रकृतिक रूप से अस्तित्व का कारणपरक होना आवश्यक नहीं है किन्तु फिर भी

हमें अनुभव होता है कि कारण और कार्य के बीच एक अनिवार्य सम्बंध होना चाहिए। यदि ऐसा सोचने में कोई असंगति नहीं है कि चीजें बिना किसी कारण के अस्तित्व में या परिवर्तित होती है तो यह मानने में भी कोई असंगति नहीं है कि कोई घटना बिना किसी विशिष्ट कारण के अस्तित्वमान है। क्योंकि कई विभिन्न कार्य तार्किक रूप से एक विशेष कारण से उत्पन्न होते हैं, केवल अनुभव उनमें से एक वास्तविक कार्य की ओर ले जाता है।

यह विरोधाभाषी लग सकता है कि अनुमान कार्य-कारण के अनिवार्य सम्बंध पर निर्भर नहीं होता बल्कि अनिवार्य संबंध अनुमान पर आधृत है। ह्यूम कारणता को दो प्रकार से परिभाषित करते है; प्रथम; कारण कार्य के पूर्व एवं निकटवर्ती होता है और पूर्ववर्ती (कारण) के अनुरूप सभी वस्तुएं अनुवर्ती (कार्य) के अनुरूप सभी वस्तुओं के साथ पूर्वर्तिता और सामीप्यता से संबंधित होती है। इस परिभाषा में अनिवार्य सम्बंध के बारे में कुछ नहीं कहा गया है और मन की क्रिया का कोई उल्लेख नहीं है। फलत: दूसरी अधिक दार्शनिक परिभाषा के अनुसार; कारण कार्य के पूर्व एवं समीप होता है और दोनों कल्पना में संयुक्त कर लिये जाते है। यह प्रक्रिया कुछ इस प्रकार होती है: प्रथम (कारण) का प्रत्यय द्वीतय (कार्य) के प्रत्यय के निर्माण के लिये मन को नियत करता है और प्रथम का संस्कार द्वीतय का और अधिक जीवन्त प्रत्यय निर्मित करने के लिये मन को प्रेरित करता है।

ज्ञातव्य है कि दूसरी परिभाषा में मन को एक प्रत्यय के होने से दूसरा प्रत्यय बनाने के लिये नियत माना गया है। ह्यूम की कारणता के विश्लेषण की मौलिकता और शक्ति उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा के कारण छिप गई है। परिणामत:, उनकी कारणता की व्याख्या संस्कार और प्रत्यय की यान्त्रिकता के कारण सभी प्रकार की अस्पष्टता से ग्रसित हो गयी है। परंतु हम मनोतार्किक साधन से तीन प्रकार के अति महत्वपूर्ण सिद्धांत पृथक कर सकते है:

(अ) कारण और प्रभाव दोनों का पृथक अस्तित्व हैं और वे एक दूसरे के बिना ग्रहण किये जा सकते है।

(ब) कारणिक सम्बंध, समीप्य, पूर्णवर्तीता और नित्य संयोग के रूप में विश्लेषित होने चाहिए।

(स) यह एक अनिवार्य सत्य नहीं है कि प्रत्येक अस्तित्व का आरम्भ एक कारण से होता है।

इनमें से प्रत्येक सिद्धांत गंभी दार्शनिक विवेचना की मांग करता है। कुछ की आलोचना कांट ने की है, और अन्य का खण्डन अथवा रूपांतरण अधिक आधुनिक काल के दार्शनिकों ने किया है। परंतु यह ह्यूम ही थे जिन्होंने कारणता और संबंध की सारगर्भित विवेचना आरम्भ की।

ह्यूम की कारणता के सिद्धांत की विवेचना पर हम चकित हो सकते है कि उनकी परिभाषा में किस आधार पर 'प्रवृत्ति का उदय' प्रकट होता है। यद्यपि यदि हम 'सचेत रूप से किसी नयी प्रवृत्ति का उदय' को 'नयी प्रवृत्ति के उदय होने का अवलोकन' से बदल दें तो उनकी परिभाषा सत्य नहीं रह जाती। ह्यूम के मन-दर्शन और कारणता के विवरण से किसी क्रिया के 'गुप्त उदय' के लिये कोई स्थान नहीं बचता। वास्तव में, कारण रूप में संकल्प की अनिवार्यता की उनकी मांग न तो उनकी स्वतंत्र संकल्प की परिभाषा के और न ही उनके अपने कारणता के सिद्धांत के संगत है।

कारणता, आगमन और आत्मा के बारे में ह्यूम का संदेह तर्कशास्त्र के 'नियमों' और व्यक्ति की गरिमा पर भी समान रूप से लागू होता है। तार्किक नियमों का सटीक स्तर अनुभववादीयों को परेशान करता है। उन्हें तार्किक नियमों को वास्तविक चिन्तन प्रक्रिया के सामान्यीकरण के रूप में मानना पड़ता है जो प्राय: गलत होता हे। परन्तु तर्क शास्त्रीय निश्चितता इससे कहीं अधिक गहरी प्रतीत होती है। तर्कशास्त्र के आधार पर संशय वैज्ञानिक तर्क प्रक्रिया को भी संदेह में डालता है। चूँकि कारणता विश्व के यांत्रिक दृष्टिकोण के मूल में है इसलिये ह्यूम का संशयवाद इसे भी कटघरे में खड़ा करता है। समान रूप से ह्यूम का व्यक्तिगत आत्म संबंधि संशय व्यक्तिगत अधिकारों और संपूर्ण प्रथम-पुरूष दृष्टिकोण के लिये भी घातक सिद्ध होता है।

ह्यूम को बारहवीं शताब्दी में अत्यधिक पढ़ा और अनुपालित किया गया है। विशेष रूप से उनकी तत्वमीमांसा और धर्म के खण्डन ने कई प्रशंसकों को जन्म दिया। किन्तु दर्शन में उनका महत्व कारणता के विश्लेषण और अनुभववाद की पूर्वकल्पनाओं का सहास के साथ अनुसरण करने के कारण है।

ह्यूम का अस्पष्ट दर्शन आधुनिक स्तर लिए है। यह संस्कारों का समूह, जो कहीं से भी एकत्रित नहीं है, मन की अंतर्वस्तु, जो स्वयं आधान नहीं है, को स्वीकार करता है। यहाँ हमारे समक्ष आधुनिक यथार्थवाद के विरोधियों की मन की परिभाषा 'परिस्थितियों का व्यापक प्रतिनिधित्व' की अबोधगम्यता उभर कर सामने आती है। ह्यूम कहते हैं कि हम केवल अपने प्रत्यक्षों (संस्कार और प्रत्यय) के बारे में ही पूर्णत: निश्चित हो सकते है। इन और ऐसे प्रत्यक्षों में कोई कारणता का संबंध नहीं है। वास्तव में, कहीं भी कारणता की उपस्थिति का ज्ञान नहीं होता है। यदि बाह्य जगत वास्तव में आस्तित्वमान है तो उसके अस्तित्व की सिद्धि का हमारे पास कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। उनका सैद्धांतिक अनुभववाद सम्पूर्ण तार्किक ज्ञान के विध्वंस के साथ समाप्त होता है। यह अनिवार्यत: संशयवाद को जन्म देता है और साथ ही विषयीनिष्ठतावाद और सापेक्षवाद को भी जन्म देता है। ये दोनों आधुनिक दर्शन के स्तंभ है।

सारांश

अनुभववाद ने विज्ञान की विधियों की मान्यताओं का पक्ष लिया और मन की पूरकता का सिद्धांत विकसित किया। विषमता पूर्वक, जहाँ वैज्ञानिकों ने प्रकृति की व्याख्या में महत्वपूर्ण योगदान दिये वहीं अनुभववादियों ने वैज्ञानिक चिंतन को ही संशय की दृष्टि से देखा। उदाहरणत: ह्यूमस ने इस पर संदेह किया कि क्या कारणता को स्थापित किया जा सकता है और आगमन को प्रमाणित किया जा सकता है। वे मानते हैं कि मानव स्वाभाविक रूप से साथ-साथ होने वाली घटनाओं को कारणता से जोड़ता है। कारणता में एक घटना दूसरी घटना द्वारा अनुकरित होती है न कि उत्पन्न करती है। समान रूप से, अनुभविक रूप से या तार्किक रूप से यह कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता की भविष्य में भी भूतकाल में स्थापित संवेदनाओं के सयोग सदैव फलित होंगे। यह केवल सम्भावना हो सकती है निश्चितता नहीं। क्योंकि आत्मा का अनुभव ज्ञान से नही होता, इसलिए उन्होंने आत्मा, जो अनुभवों को एकत्रित करती है, के अस्तित्व पर भी संदेह किया। ह्यूम के संशयवाद ने पूरे अनुभववादी आंदोलन को शिखर पर पहुँचाया।

तीन कथन अनुभववाद को परिभाषित करते है: सभी ज्ञान अनुभव से आते है, अनुभव के पूर्व मन स्वेत पट्टिका के समान होता है, अत: सम्प्रत्यय अमूर्तन संवेदनों के सहचर्य के द्वारा उभरते है, और संवेदन सरल अथवा आणविक होते हैं या सरल अथवा आणविक के स्तर तक अपघटित किये जा सकते है। सम्पूर्ण ज्ञान को अनुभव से उत्पन्न मान कर और यह मान कर कि अनुभव केवल बाह्य जगत को प्रतिबिम्बित करता है, अनुभववादी देकार्त के प्रथम व्यक्ति दृष्टिकोण और उनके इस विचार कि केवल व्यक्ति ही अपने स्वयं के सम्वेदनों को समझ सकता है को सुदृढ़ बनाते है। तथापि, वे बुद्धि के महत्व को कम करके देकार्त से पृथक हो जाते है। समान अनुभवों के सहचर्य से संप्रत्यय निगमित होते है। यदि कुछ सम्प्रत्यय, जैसे कारणता या आत्म, सीधे अनुभव-प्रसूत नहीं है तो उनका कोई अर्थपूर्ण उपयोग नही है। अनुभववादी मानते है कि मन की सरंचना अनुभव से इसलिये निर्मित है क्योंकि अनुभव से पूर्व यह रिक्त होता है। विभिन्न संज्ञानात्मक विभाग विभिन्न अनुभवों का परिणाम होते है। विभिन्न संस्कृति और सभ्यताएँ इस आधार पर पृथक सम्प्रत्यय बनाती है क्योंकि वे भिन्न वातावरण में फलित होती है। संस्कृतियों के मध्य समानता की व्याख्या केवल सामान्य सांस्कृतिक प्रत्ययों के द्वारा उत्पन्न अनुभव से ही हो सकती है।

अत: यदि यह सामान्यताओं का जगत नहीं है तो बौद्धिक और यहां तक कि अन्तवर्यक्तिक बोध भी असम्भव हो जायेगा। तीसरा दावा-सरल, आण्विक प्रत्यय-अनुभव किसी प्रकार की जैविक सम्पूर्णता को धारण करते है का खण्डन करता है। अनुभवों के मध्य के संबंध को केवल भूतकालीन अनुभवों से तुलना करके बाह्य रूप से स्थापित किया जा सकता है। यद्यपि अनुभव पर सुक्ष्म दृष्टि मूल अन्तरसंबंधिता, विशेष रूप से जब अनुभव में कल्पना, इच्छा, भाव आदि सम्मिलित होते है, को प्रकट कर सकती है। इस अणुवादी विश्लेषण को प्राय: सामाजिक सिद्धांत तक,व्यक्तियों की व्याख्या समाज के मूलभूत सामाजिक अणु के रूप में करके और सामाजिक संबंधों को स्पष्ट समझौतों के परिणाम के रूप में मान कर, विस्तारित किया जा सकता है। तथापि, यह व्यक्तिवादी स्थिति आधारभूत मानव अधिकारों को आधार प्रदान करती है किन्तु यह प्राय: अधिकारों की रक्षा के लिए सशक्त विधि संस्थानों की आवश्यकता की मांग करती है।

यूरोपीयन दार्शनिक प्राय: कहते हैं कि अनुभववादी अनुभवों के आंतरिक संबंधों की देशिक एकता की अनदेखी करते हैं और स्वैच्छिक रूप से अनुभव के एक सीमित सम्प्रत्यय की कल्पना करते है। उदाहरणत: संवृतिवादी अनुभवों में निर्देशात्मकता और विभिन्न सचेतन अवस्थाओं में जटिल रूप से बुनी सरंचना को खोजते है। ये सब तथ्य अनुभववादियों द्वारा कठिनाई से स्वीकार किये जाते है। वे सम्पूर्ण अनुभव की विस्तृत विवेचना, जिसमें संवेग, लक्ष्य, मूल्यन और कल्पना सम्मिलित है, के साथ-साथ अन्तर-विषयी अनुभवात्मक एकता के स्रोत की खोज पर जोर देते है। ऐसी ऐकता ह्यूम के प्रथा के विचार में न्यूनतम स्तर पर पायी जाती है।

चूँकि अनुभववाद ने मानव की महानतम उपलब्धि विज्ञान की निश्चिता के संबंध में संशयवाद को उत्पन्न किया इसलिये कुछ यूरोपीय दार्शनिकों ने वैकल्पिक व्यवस्थित ज्ञान के सम्प्रत्यय विकसित किए। हेगेल, मार्क्स, संवृत्तिवादीयों, सरंचनावादियों और अन्य ने 'वैज्ञानिक प्रणाली' का विकल्प खोजा जिसमें विस्तारित बौद्धिकता और परिघटनाओं के मध्य के संरचनात्मक संबंधों, जो न तो आकस्मिक होते हैं और न प्रत्ययात्मक, को प्रकट करने की आवश्यकता थी। यूरोपीय दार्शनिकों ने अनुभववादीयों की इस दृष्टि कि प्रतीति यथार्थ का

प्रतिनिधित्व करती है और इसलिये यथार्थ सत का सीधे ज्ञान नहीं हो सकता, का खण्डन किया। उन्होंने जोर दिया कि अनुभव यथार्थ सत् को ज्यों का त्यों कम से कम इसका वास्तविक चित्र और परिप्रेक्ष्य प्रकट करता है।

प्रमुख शब्द

छाया (Phantasm) : भूत, आत्मा, आभास

देववाणी : भविष्य कथन, प्रकटीकरण

पहेली : उलझन अथवा अस्पष्ट कथन

अभ्यास प्रश्न

1. अनुभववाद से आप क्या समझते है? इसकी विशेषताओं का वर्णन करें।
2. बुद्धिवाद, प्रत्ययवाद और फ्रांसिस बेकन का अनुभववाद पर क्या प्रभाव पड़ा है?
3. ब्रिटिश अनुभववाद पर संक्षिप्त नोट लिखें
4. लॉक, बर्कले और ह्यूम ने अनुभववाद को कैसे प्रभावित किया है? स्पष्ट करें।

इकाई–8 लॉक (Locke)

इकाई की रूपरेखा:

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. ज्ञान का सिद्धांत
4. प्रतिनिधिमूलक वस्तुवाद
5. तत्त्वमीमांसा
6. आलोचना
7. महत्त्व
8. सारांश
9. प्रमुख शब्द
10. अभ्यास प्रश्न

उद्देश्य

अनुभववाद के प्रवर्तक जान लॉक के दर्शन से परिचित करवाना इस इकाई का उद्देश्य है। इस इकाई की समाप्ति पर छात्र सक्षम होंगे :

- बुद्धिवाद और अनुभववाद में विभेद करने में, और
- इंद्रिय-अनुभव के महत्व पर नए दृष्टिकोण से बल देने को लेकर लॉक की प्रसंशा करने में

प्रस्तावना

जॉन लॉक 1632 ई. में पैदा हुए थे। वे 1688 की क्रांति, जिसने इंगलैण्ड में सफलतापूर्वक सुधार किए, के अग्रदूत थे। लॉक के अधिकतर कार्य 1688 के बाद के कुछ वर्षों में दिखाई पड़े। सैद्धांतिक दर्शन से सम्बंधित उनकी प्रसिद्ध रचना एससे कन्सर्निंग ह्यूमन अन्डरस्टेण्डिग है। यह कृति 1690 में प्रकाशित हुई।

लॉक अनुभववाद, जिसके अनुसार दर्शनिक ज्ञान का स्त्रोत केवल इंद्रिय अनुभव हो सकता है, के संस्थापक माने जा सकते हैं। द्रव्य का संप्रत्यय लॉक के समय मुख्य एवं प्रभावशाली विषय था। लॉक ने इसे अस्पष्ट एवं अनुपयोगी समझ कर नकार दिया। यद्यपि लॉक ने इसे पूर्णत: नकारने का भी प्रयास नहीं किया। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व हेतु तत्वमीमांसक तर्क की वैधता को स्वीकार किया। लॉक ने अत्यधिक अमर्त्तिकरण के साथ पर मूर्त विवरण पर अधिक चिंतन किया। लॉक शब्दों, गलत विधियों और इस धारणा को कि दार्शनिकों का कार्य परिकल्पनाएं करना है, तोड़ना चाहते थे। इस प्रकार लॉक अपने प्रसिद्ध निबंध में पाठकों से कहते हैं, 'यह आकांक्षा ही बहुत है कि किसी निम्न श्रमिक की भांति ज्ञान के रास्ते में

नीचे जीम गंदगी को साफ कर दिया जाय' आगे निबंध की पुस्तक 1 में वे कहते हैं कि यह कार्य 'धारणा, मत और सहमति के आधार और मात्रा का परिक्षण' करना है।

ज्ञान का सिद्धांत (Theory of Knowledge or Locke's Epistemology)

लॉक आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के प्रथम विचारक हैं जिन्होंने अपने दर्शन का प्रारंभ ज्ञानमीमांसा से किया। इनके दर्शन में ज्ञानमीमांसा प्रमुख है। लॉक का मानना है कि तत्वमीमांसीय विवेचन से पूर्व ज्ञानमीमांसा का विवेचन आवश्यक है। लॉक की ज्ञानमीमांसा के दो पक्ष है– (1) खंडनात्मक पक्ष और (2) मंडनात्मक पक्ष। खंडात्मक पक्ष में लॉक बुद्धिवादियों द्वारा स्वीकृत जन्मजात प्रत्ययों की अवधारणा का खंडन करते हैं। जबकि मंडनात्मक पक्ष मे वे ज्ञान प्राप्ति की साधन, स्वरूप, सीमा इत्यादि का वर्णन करते हैं।

जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धांत का निराकरण (Refutation of Innate Ideas)

'समस्त ज्ञान अनुस्मरण मात्र है', प्लेटो का यह कथन जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धांत का प्रमुख आधार है। आधुनिक युग में इस सिद्धांत को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनित्ज को जाता है। किन्तु लॉक के कुछ आलोचकों के मतानुसार अपने निबंध के प्रथम भाग में लॉक ने जन्मजात प्रत्ययों के जिस सिद्धांत का खंडन किया है, वह उसकी कल्पनामात्र है। अपने मत को स्पष्ट करने के लिए उसने जन्मजात प्रत्ययों के तार्किक सिद्धांत को खोज लिया।[1] प्लेटो के दर्शन में जन्मजात प्रत्ययों का सिद्धांत भले ही निहित हो, किन्तु उसने इसका व्यवस्थित वर्णन नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि लॉक के द्वारा जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धांत की आलोचना का प्रमुख आधार आधुनिक बुद्धिवादियों (डेकार्ट एवं उसके अनुयायियों) की ज्ञानमीमांसा रही है। जन्मजात प्रत्ययों का सिद्धांत मध्ययुग के **कैम्ब्रिज प्लेटोवादियों** के द्वारा भी किसी न किसी रूप में अपनाया गया। इस सिद्धांत के अनुसार बुद्धि अपनी विषय-वस्तु को ग्रहण करके उसे एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने की क्षमता रखती है। लॉक ने इस सिद्धांत का खंडन करने के लिए अधोलिखित तर्क दिए हैं–

(1) सर्वसम्मति पर आधारित तर्क–बुद्धिवादियों का दावा है कि कुछ प्रत्ययों एवं सिद्धांतों को लेकर प्रायः लोगों में सामान्य रूप से सहमति पायी जाती है। जैसे– अभेद का नियम, व्याघात का नियम इत्यादि। यदि ये प्रत्यय जन्म से आत्मा में निगूढ़ न होते तो इन पर सर्वसम्मति न होती। अतः ऐसे प्रत्यय आपातिक माने जाते। किन्तु हम देखते हैं कि इन प्रत्ययों के बारे में सर्वसम्मति पायी जाती है। इस प्रकार सर्वसम्मति (General Assent) प्रत्ययों के जन्मजात होने का प्रमाण है इस तर्क का खंडन करते हुए लॉक कहता है कि 'सर्वसम्मति' प्रत्ययों के जन्मजात होने का प्रमाण नहीं सकती है। सर्वसम्मति को अनुभव के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है। इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि किसी वस्तु का प्रत्यय उसके प्रत्यक्ष से पूर्व ही आत्मा में निगूढ़ है। प्रायः किसी भी प्रत्यय के स्वरूप पर सभी लोगों की सर्वसम्मति नहीं होती है। पागलों, मूर्खों और बच्चों को उन नियमों एवं प्रत्ययों के बारे में कोई जानकारी नहीं होती है, जिसके संदर्भ में सर्वसम्मति का दावा किया जाता है। यही बात नैतिक और धार्मिक प्रत्ययों के बारे में लागू होती है। लॉक के कहने का आशय यह है कि नैतिक और धार्मिक सिद्धांतों को जन्मजात नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वे सर्वमान्य नहीं है। जो कुछ लोगों के लिए शुभ है वही दूसरों के लिए अशुभ हो सकता है। जो एक व्यक्ति के लिए न्यायपूर्ण है वही दूसरे लोगों के लिए अन्यायपूर्ण हो सकता है। कुछ लोग नैतिक नियमों को

निरपेक्ष तो कुछ लोग उन्हें सापेक्ष मानते हैं। लॉक के अनुसार संसार में निरीश्वरवादियों की कमी नहीं है। इसके अतिरिक्त जो लोग ईश्वर को मानते भी हैं, उनमें ईश्वर के प्रत्यय और स्वरूप को लेकर मतभेद हैं। इससे सिद्ध होता है कि किसी भी प्रत्यय के स्वरूव पर सर्वसम्मति असंभव है। पुनश्च, यदि सर्वसम्मति को मान भी लिया जाय तो इससे उसका (सर्वसम्मति का) जन्मजात होना नहीं सिद्ध होता है।

(2) अनिवार्यता एवं स्वयंसिद्धियों पर आधारित तर्क–बुद्धिवादियों ने अनिवार्य प्रत्ययों एवं कुछ स्वयंसिद्धियों के आधार पर जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धांत का समर्थन किया है। उनके अनुसार कुछ प्रत्यय अनिवार्य रूप से सत्य हैं। यदि वे जन्मजात न होते तो आपातिक रूप में सत्य होते, अर्थात् यदि वे आत्मा में जन्म से ही निगूढ़ न होते तो कभी सत्य होते और कभी असत्य होते। ज्यामिति और तकशास्त्र के क्षेत्र में कुछ नियम स्वत: सिद्ध होते हैं। उन्हें सिद्ध करने के लिए किसी अन्य नियम का सहारा नहीं लेना पड़ता। वस्तुत: ये नियम जन्म से ही आत्मा में निहित होते हैं।

इस तर्क का खंडन करते हुए लॉक कहता है कि किसी प्रत्यय की अनिवार्य सत्यता के आधार पर भी उसे जन्मजात नहीं माना जा सकता है। हमें इन प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी वैसा ही प्रयास करना पड़ता है, जैसा कि आपातिक कथनों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए। अत: यह तर्क एक मिथ्या दृष्टिकोण पर आधारित है। ज्यामिति या तर्कशास्त्र के किसी कथन का स्वयंसिद्ध होना निरपेक्ष रूप से नहीं माना जा सकता है। कोई स्वयं सिद्धि एक दृष्टि विशेष से ही स्वयंसिद्धि मानी जा सकती है। उसे सभी दृष्टियों से स्वयं सिद्धि नहीं माना जा सकता है। को स्वीकार नहीं किया है। लॉक के अनुसार हमें अनिवार्य एवं स्वयं सिद्ध कथनों का ज्ञान भी आपातिक कथनों, प्रत्ययों, नियमों और वस्तुओं के ज्ञान के समान ही होता है। इससे सिद्ध होता है कि किसी कथन की अनिवार्यता एवं स्वयंसिद्धि जन्मजात नहीं होती है।

(3) जन्मजात प्रत्ययों के समर्थकों का दावा है कि किसी प्रत्यय को जन्मजात कहने का अर्थ उसका स्पष्ट ज्ञान होना नहीं बल्कि आत्मा में उसका अव्यक्त रूप में निहित होना है। कोई ज्ञान आत्मा में जन्म से ही निहित है, इस कथन का अर्थ यह है कि जो ज्ञान आत्मा में निगूढ़ है, उसको विकसित करने की आवश्यकता है। बूद्धिवादियों के अनुसार इन्द्रियानुभव का उपयोग केवल आत्मा में अंतर्निहित ज्ञान को अभिव्यक्त करने में ही किया जा सकता है।

लॉक के अनुसार यह एक भ्रामक दृष्टिकोण है। ज्ञान कभी भी आत्मा में अव्यक्त नहीं हो सकता है। कोई प्रत्यय मानव-बुद्धि में जन्म से निहित हो, फिर भी उसका ज्ञान न हो, यह बात समझ में नहीं आती। जो प्रत्यय आत्मा में व्यक्त है और आत्मा उसे जानती भी नहीं है, उसके ज्ञान का दावा किस प्रकार किया जा सकता है।? ऐसी मान्यता बेतुकी (Absurd) है। अत: आत्मा ज्ञान से रहित है। लॉक ने उसे आलंकारिक भाषा में कोरी पाटी (Tabula Rasa), रिक्त प्लेट (Empty Plate), अंधेरी कोठरी (Dark Chamber) इत्यादि के समान कहा है। इस प्रकार अनुभव से रहित ज्ञान की कल्पना का खंडन हो जाता है।

(4) बुद्धिवादियों के अनुसार ज्ञान आत्मा की एक अन्त:शक्ति है, जिसका आत्मा से अवियोज्य संबंध होता है। यह उसके स्वभाव में जन्म से ही निहित होती है। **लाइबनित्ज** के अनुसार यदि आत्मा को स्वरूपत: ज्ञान से युक्त न माना जाय, तो वह जड़ होगा और उसे आत्मा कहना ही आत्मव्याघाती होगा। इस दृष्टि से ज्ञान आत्मा का आकस्मिक गुण नहीं है, बल्कि यह आत्मा में शक्ति के रूप में अंतर्निहित होता है। चूँकि लाइबनित्ज के

अनुसार आत्मा एक सक्रिय चिदणु है, इसलिए इसमें बीजरूप में समस्त विश्व का ज्ञान निगूढ़ होता है।

लॉक के अनुसार यह सत्य है कि आत्मा में कुछ मूल प्रवृत्तियाँ अन्तर्निहित होती हैं, जैसे– मनुष्य स्वभावतः दुःख से दूर भागता है और सुख के प्रति आकर्षित होता है।[1] इसके अतिरिक्तक भूख, निद्रा, भय, कामुकता (Sexual desires) इत्यादि सहज क्रियाएँ एवं प्रवृत्तियाँ पशुओं-पक्षियों एवं मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से पाई जाती हैं। किन्तु लॉक के अनुसार उन्हें ज्ञान नहीं कहा जा सकता है।[2] आत्म-रक्षण, जाति-रक्षण, अनेक प्रकार के संवेगों इत्यादि को ज्ञान कहना ज्ञान के स्वरूप की गलत समझ के कारण है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों और स्वाभाविक क्रियाओं को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है।

(5) लॉक के अनुसार तथाकथित अनेक जन्मजात प्रत्ययों का ज्ञान बालकों, मूर्खों (idiots), पागलों, बर्बर एवं असभ्य आदिम जाति के लोगों (Savages) आदि को नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि कोई प्रत्यय जन्मजात नहीं होता है क्योंकि **जन्मजात प्रत्ययों को लेकर सार्वभौमिक सम्मति नहीं पायी जाती है।**[3] ईश्वर-प्रत्यय के साथ-साथ अनेक सार्वभौम नियमों का ज्ञान बहुत से लोगों को नहीं होता है। अतः ईश्वर के प्रत्यय को सार्वभौम नियमों का ज्ञान बहुत से लोगों को नहीं होता है। अतः ईश्वर के प्रत्यय को सार्वभौमिक नहीं कहा जा सकता है। ईश्वर का प्रत्यय, उसकी उपासना इत्यादि का ज्ञान जन्मजात नहीं है और यदि ईश्वर का प्रत्यय जन्मजात नहीं है तो अन्य प्रत्ययों को भी जन्मजात नहीं कहा जा सकता है।[4] इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे प्रत्यय हैं जिनका ज्ञान सभी मनुष्यों को है, जैसे– सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, गर्मी, शीतलता इत्यादि के प्रत्ययों का ज्ञान। यद्यपि इन्हें सभी लोग जानते हैं, तथापि कोई व्यक्ति इन प्रत्ययों को जन्मजात नहीं कहता है। इस प्रकार लॉक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कोई भी ज्ञान आत्मा में जन्मजात नहीं होता है। समस्त ज्ञान अनुभवजन्य है।

यद्यपि लॉक अनुभव-निरपेक्ष ज्ञान को स्वीकार नहीं करता है, तथापि वह कुछ अनिवार्य संबंधों के ज्ञान को सार्वभौम मानता है। इससे स्पष्ट है कि कुछ ज्ञान अनिवार्य एवं सार्वभौम संबंधों से संबंधित होते हैं, परन्तु उनका ज्ञान न तो इन्द्रियानुभव से होता है और न आगमनात्मक तर्क-प्रक्रिया से। किन्तु उन्हें भी जन्मजात प्रत्यय नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः उनकी जानकारी यौक्तिक और प्रातिभ ज्ञान से होती है।[5]

लॉक के द्वारा जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धांत का निराकरण एकांगी है। वस्तुतः यह निराकरण उसकी अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के पूर्वाग्रहों पर आधारित है। यद्यपि यह सच है कि बुद्धिवादियों ने ज्ञान की संरचना में अनुभव की भूमिका की उपेक्षा किया, तथापि केवल अनुभव को ही ज्ञान का आधार मान लेना तर्कसंगत नहीं है। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धांत पर अत्यधिक बल देने के कारण बुद्धिवाद का पर्यावसान (अंत) रूढ़िवाद एवं अंधविश्वास में हुआ। इसी प्रकार लॉक ने सार्वभौम और अनिवार्य नियमों का आधार बुद्धि के स्थान पर अनुभव को मानकर गंभीर भूल की। इसके परिणामस्वरूप अनुभववाद का अंत संशयवाद में हुआ। लॉक के अनुसार मानव-बुद्धि केवल ज्ञात नियमों के आधार पर अज्ञात नियमों का निगमन करती है। उसमें कोई भी ज्ञान जन्मजात नहीं हो सकता है। लॉक के द्वारा जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धांत का खंडन और अनुभववादी ज्ञानमीमांसा का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक है। लॉक कहता है कि मनुष्य के अचेतन मन में कोई भी ज्ञान अंतर्निहित नहीं होता है। उसके अनुसार यदि कोई सिद्धांत जन्मजात होता तो इसे हम जानते होते।

आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के मन में बहुत-सी ऐसी चीजें विद्यमान हैं, जिन्हें हम नहीं जानते। कुछ संदर्भों में वे हमेशा अज्ञात होती हैं। लॉक के अनुसार इसका अर्थ यह नहीं है कि अचेतन मन में पाये जाने वाले प्रत्यय जन्मजात हैं। ये ऐसे प्रत्यय हैं जो अचेतन स्तर पर दवा दिए जाते हैं। अत: लॉक का यह कथन गलत है कि यदि कोई प्रत्यय हमारे मन में अंतर्निहित होता तो हम उसे अनिवार्यत: जानते होते। वस्तुत: कुछ सार्वभौम एवं अनिवार्य नियमों को तार्किक दृष्टि से जन्मजात कहा जा सकता है, क्योंकि उनकी प्राप्ति बुद्धि के प्रागनुभविक नियमों से होती है। जब तक इन सार्वभौम और अनिवार्य नियमों की सत्यता को स्वीकार न किया जाय तब तक कोई भी सामान्य अवधारणा संभव नहीं हो सकती। वस्तुत: ज्ञान की सार्वभौमिकता एवं अनिवार्यता बुद्धि के प्रागनुभविक नियमों से ही संभव है। यही मानव-बुद्धि का ज्ञान की संरचना में योगदान है। यद्यपि लॉक ने मानव-बुद्धि (आत्मा) को अंधेरी कोठरी या कोरी पाटी (Tabularase) कह करके मन में अंतर्निहित जन्मजात प्रत्ययों का निराकरण किया, तथापि उसकी आलोचना से मानव-बुद्धि में अंतर्निहित प्रत्यय-व्यापारों की क्षमता का निराकरण नहीं हो पाता है। यद्यपि उसे अपने निबंध के प्रथम खंड में जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धांत का खंडन करने में पर्याप्त श्रम और समय व्यय करना पड़ा, तथापि वह अपने प्रयास में सफल न हो सका। किंतु उसका यह कहना सही है कि अनुभव के अभाव में हमें बाह्य जगत् का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुत: लॉक ने ज्ञान के निर्माण में अनुभव के महत्त्व का अतिशयोक्तिपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया। आगे चलकर जर्मन दार्शनिक काण्ट ने ज्ञान की संरचना में बुद्धि के अनिवार्य एवं सार्वभौम नियमों (बुद्धि-विकल्पों) के साथ-साथ इन्द्रियानुभव की भूमिका का सम्यक् विवेचन और मूल्यांकन किया।

लॉक की ज्ञानमीमांसा का मंडनात्मक पक्ष

लॉक की ज्ञानमीमांसा में पांच पक्ष विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

(i) ज्ञान का मूल स्रोत क्या है अर्थात उसकी उत्पत्ति कैसे होती है?

(ii) ज्ञान का स्वरूप क्या है।

(iii) ज्ञान की वैधता या प्रमाणिकता का आधार क्या है?

(iv) ज्ञान की सीमा क्या है?

(v) ज्ञान के प्रकार

लॉक इन प्रश्नों का विवेचन 'अनुभववाद' के प्रसंग में करते हैं। अनुभववाद बुद्धिवाद का विरोधी सिद्धांत है। लॉक बुद्धिवादियों की मान्यताओं का खंडन करते हुए कहते हैं कि कोई भी प्रत्यय जन्मजात नहीं होता। जन्म के समय मन एक सफेद पेपर (White paper) या स्वच्छ प्लेट (Clean Plate) या रिक्त कमरे (Empty cabinet) या खाली पट्टी (Tabula Rasa) के समान होता है जिसमें ज्ञान रूपी प्रकाश का प्रवेश इन्द्रिय अनुभव के माध्यम से होता है। स्पष्ट है कि यथार्थ ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र स्रोत अनुभव है, बुद्धि नहीं।

ज्ञान के स्त्रोत (Source of Knowledge)

लॉक के अनुसार यथार्थ ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र स्रोत अनुभव है। अनुभव से ज्ञान की प्राप्ति दो रूपों में होती है- 1. संवेदन (Sensation), 2. स्वसंवेदन (Reflection)

इनमें संवेदन पहले होता है और स्वसंवेदन उसके बाद होता है। ये दोनों ही हमारे समस्त ज्ञान का निर्माण करते हैं।

संवेदन ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त बाह्य ज्ञान है। इसके द्वारा बाह्य जगत की वस्तुओं के प्रत्यय मन को प्राप्त होते हैं। यह ज्ञान का प्राथमिक स्त्रोत है। स्वसंवेदन मन की आंतरिक क्रियाओं का प्रत्यक्षीकरण है। इससे आतंरिक भावों या संवेगों-संशय, स्मरण आदि का ज्ञान प्रात होता है। हमारा समस्त ज्ञान इन्हीं स्वसंवेदन से पहले होता है।

ज्ञान का स्वरूप (Nature of Knowledge)

लॉक के अनुसार हमारा ज्ञान प्रत्ययों (Ideas) से निर्मित होता है। संवेदन एवं स्वसंवेदन से हमें ज्ञान प्रत्ययों के रूप में प्राप्त होते हैं। प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी पदार्थ का साक्षात् ज्ञान हमें नहीं होता। किंतु प्रत्ययों को ही ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। ज्ञान तो प्रत्ययों के बीच संगति (Agreement) या असंगति (Disagreement) या विरोधिता (Repugnance) के संबंध के प्रत्यक्ष को कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यय ज्ञान नहीं है बल्कि ज्ञान के निर्मायक तत्व (Constituent Element) हैं।

तुलना :

– ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के दर्शन में प्रत्यय न तो आत्मनिष्ठ हैं और न ही वस्तु-विशेषों में निहित। प्रत्यय की सत्ता इनसे पृथक और स्वतंत्र है।

– डेकॉर्ट के अनुसार प्रत्यय जन्मजात है।

– लॉक के अनुसार प्रत्यय अनुभव की ईकाई है। प्रत्यय प्रत्यक्ष, चिंतन और बोध के साक्षात विषय हैं।

लॉक के अनुसार प्रत्यय के दो प्रकार है - 1. सरल प्रत्यय (Simple Ideas), 2. मिश्र या जटिल प्रत्यय (Complex Ideas) ।

सरल प्रत्यय वे हैं जो संवेदन से या स्वसंवेदन से या फिर दोनों से आते हैं। इन प्रत्ययों को मन निष्क्रिय रूप से ग्रहण करता है। ये सरल प्रत्यय निरवयव एवं अविश्लेष्य होते हैं। ये प्रत्यय असम्बद्ध (Unrelated) रूप से होते हैं और साक्षात् रूप से जाने जाते हैं। सरल प्रत्यय चार प्रकार के होते हैं-

1. एक इन्द्रिय से प्राप्त सरल प्रत्यय।	जैसे स्वाद, गंध आदि।
2. एक से अधिक इन्द्रियों से प्राप्त प्रत्यय।	जैसे विस्तार, आकृति आदि।
3. स्वसंवेदन से प्राप्त प्रत्यय।	जैसे संशय, स्मरण आदि।
4. संवेदन और स्वसंवेदन से प्राप्त प्रत्यय।	जैसे सुख-दु:ख आदि।

ये सरल प्रत्यय ही हमारे समस्त ज्ञान की सामग्री है।

सरल प्रत्ययों से जटल प्रत्ययों का निर्माण होता है। निष्क्रिय रूप में सरल प्रत्ययों को ग्रहण करने के पश्चात् मन सक्रिय होकर उनके मिश्रण से जटिल प्रत्ययों का निर्माण करता है। सरल प्रत्ययों से जटिल प्रत्ययों के निर्माण की प्रक्रिया में लॉक 6 अवस्थाओं को स्वीकार करते हैं।

1. प्रत्यक्षीकरण (Perception), 2. धारण (Retention), 3. पृथक्करण (Discernment), 4. तुलना (Comparision), 5. मिश्रण या संयोजन (Composition), 6. अमूर्तिकरण और नामकरण (Abstraction and naming)

अमूर्तिकरण और नामकरण की प्रक्रिया में आत्मा कुछ सरल प्रत्ययों के सामान्य लक्षणों को ग्रहण करके और उसके विशिष्ट लक्षणों को हटाकर सामान्य प्रत्यय की रचना करती है। सामान्यीकरण से नामकरण संभव होता है। सारगुणों के आधार पर वस्तुओं का वर्ग निर्धारित करके उन्हें एक नाम देने की क्रिया ही नामकरण है। यह मनुष्यों की अपनी मौलिक विशेषता है।

जटिल प्रत्ययों के तीन प्रकार है- 1. पर्याय (Modes), 2. द्रव्य (Substance), 3. संबंध (Relation)।

1. पर्याय या विकारों का प्रत्यय : पर्याय वे जटिल प्रत्यय हैं जिनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। ये अपनी सत्ता के लिए द्रव्य पर निर्भर करते हैं। जैसे सौंदर्य का प्रत्यय, आकार, गठन, वर्ण आदि सरन प्रत्ययों के मल से बना जटिल प्रत्यय है जो उन वस्तुओं पर निर्भर करता है जिसे हम सुंदर कहते हैं।

2. द्रव्य का प्रत्यय : द्रव्य के प्रत्यय वे जटिल प्रत्यय हैं जो उन सरल प्रत्ययों के मिश्रण से बनते हैं जो स्वतंत्र वस्तुओं के प्रतिनिधि होते हैं। लॉक के अनुसार हम वास्तव में द्रव्य को नहीं जानते। हम केवल द्रव्य के गुणों को जानते हैं और इन गुणों के माध्यम से उन गुणों के आधार या अधिष्ठान के रूप में द्रव्य का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण का विषय द्रव्य न होकर उसके गुण हैं। लॉक के अनुसार द्रव्य तीन प्रकार के हैं- 1 ईश्वर, 2 आत्मा और 3. जगत।

3. संबंध का प्रत्यय : संबंध के प्रत्यय वे जटिल प्रत्यय हैं जिनकी कल्पना आत्मा सरल प्रत्ययों के आधार पर करते हैं। ये प्रत्यय किसी बाह्य वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करते। संबंध के प्रत्यय स्वयं अपना ही प्रतिनिधित्व करते हैं। जैसे कारणता का प्रत्यय, भेद-अभेद का प्रत्यय संबंध के प्रत्यय कहे जाते हैं।

ज्ञान की परिभाषा : लॉक ज्ञान को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'ज्ञान हमारे प्रत्ययों के पारस्परिक संबंध का, उनकी संगति या असंगति का प्रत्यक्ष मात्र है।' प्रत्ययों के बीच संगति या असंगति चार प्रकार की होती है- 1. अभेद या भेद, 2. अमूर्त्त संबंध, 3. सह-अस्तित्व, 4. यथार्थ अस्तित्व।

ज्ञान के प्रकार : लॉक की ज्ञानमीमांसा में तीन प्रकार के ज्ञानों की विवेचना की गई है-

1. इन्द्रिय ज्ञान (Sensitive Knowledge): इन्द्रिय ज्ञान या संवेदन ज्ञान द्वारा बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। यह अन्य की अपेक्षा कम प्रमाणिक ज्ञान है।

2. प्रतिभा ज्ञान या अन्तः प्रज्ञात्मक ज्ञान (Intuitive Knowledge) : यह सबसे अधिक असंदिग्ध ज्ञान है। कुछ ऐसे ज्ञान हैं जिनकी सत्यता में किसी प्रकार का संदेह नहीं होता। जैसे दिन रात नहीं है, काला सफेद नहीं है। यह निश्चयात्मक एवं स्वयंसिद्ध ज्ञान है। इसमें हम दो प्रत्ययों की संगति या असंगति साक्षात् रीति से अन्तःप्रज्ञा द्वारा जानते हैं। आत्मा का ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान, प्रतिभा ज्ञान है। डेकार्ट के दर्शन में जहां 'प्रतिभान' इन्द्रियातीत एवं बौद्धिक है वहीं यहां इसे आनुभावित माना गया है।

3. निदर्शनात्मक ज्ञान (Demonstrative Knowledge) : जब दो विज्ञानों की संगति या असंगति का ज्ञान तीसरे विज्ञान के माध्यम से होता है तो उसे निदर्शनात्मक ज्ञान कहते हैं। ईश्वर का ज्ञान इसी श्रेणी में आता है।

ज्ञान-प्रत्ययों तक ही सीमित है जिन पदार्थों का प्रत्यय नहीं हो सकता, उनका ज्ञान भी संभव नहीं हो सकता।

ज्ञान की सीमा एवं प्रमाणिकता : लॉक के अनुसार चूंकि अनुभव में प्रत्यय मिलते हैं, अत: प्रत्यय ही हमारे ज्ञान की सीमा है। हम ऐसे किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते जिसका हमें कोई प्रत्यय न मिलता हो।

ज्ञान की प्रामाणिकता के निर्धारण के संदर्भ में लॉक संवादिता सिद्धांत (correspondence theory) को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार प्रत्यय के अनुरूप वस्तु के रहने पर ज्ञान सत्य होता है, प्रत्यय के अनुरूप वस्तु के नहीं रहने पर ज्ञान असत्य होता है।

प्रतिनिधिमूलक वस्तुवाद (Representative Realism)

अनुभववादी लॉक ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से वस्तुवाद का समर्थन करते हैं। वस्तुवाद एक ऐसा सिद्धांत है जो वस्तु की सत्ता को ज्ञाता से पृथक एवं स्वतंत्र मानता है। लॉक अपने अनुभववाद में यह मानते हैं कि अनुभव ही ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र यथार्थ स्त्रोत है परंतु अनुभव द्वारा हमें वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। अनुभव में हमें केवल प्रत्यय प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ प्रत्यय प्राथमिक गुणों के या मूल गुणों के प्रत्यय होते हैं। मूल गुण वास्तव में, अनिवार्यत: वस्तु में निहित होते हैं। ये मनाश्रित नहीं होते। अनुभव से प्राप्त मूल गुणों के ये प्रत्यय (ठोसपन, आकार, विस्तार, संख्या आदि) मूल गुणों के प्रतिनिधि होते हैं।

वस्तुओं का ज्ञान हमें वस्तुओं में निहित प्राथमिक गुणों के माध्यम से होता है। लॉक के अनुसार प्रत्यय हमारे ज्ञान के साक्षात् विषय है। प्रत्ययों से हमें वस्तुओं के गुणों का ज्ञान प्राप्त होता है। लॉक के अनुसार जब इन्द्रिय का किसी वस्तु से संपर्क होता है तो वस्तु अपने मूल गुण की छाप उस इन्द्रिय के माध्यम से चेतन मन में डाल देती है। यही छाप या प्रत्यय वस्तु का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार लॉक प्रत्यक्षीत गुणों के आधार रूप में बाह्य वस्तु की सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। स्पष्ट है कि हम द्रव्य को साक्षात् रूप से नहीं जानते, बल्कि मूल गुणों के अधिष्ठान के रूप में द्रव्य की सत्ता को स्वीकार करते हैं। चूंकि यहां प्रत्यय रूपी प्रतिनिधि के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर इसके अधिष्ठान स्वरूप द्रव्य की सत्ता को स्वीकार किया गया है। इसीलिये इसे प्रतिनिधिमूलक वस्तुवाद कहा जाता है।

लॉक का यह सिद्धांत बौद्ध दर्शन के हीनयान संप्रदाय के सौत्रांतिक मत के बाह्यअनुमेयवाद के समरूप है। उल्लेखनीय है कि सौत्रांतिक मत क्षणिकवाद में विश्वास करता है जिसके अनुसार विश्व की प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। इनके अनुसार प्रत्यक्ष से हमें वस्तु का केवल संस्कार या चित्र प्राप्त होता है। संस्कार उत्पन्न कर वस्तु परिवर्तित हो जाती है। उस संस्कार या चित्र के आधार पर ही उस वस्तु की सत्ता का अनुमान किया जाता है।

लॉक के अनुसार प्रत्यय ज्ञाता एवं ज्ञेय के बीच संबंध के माध्यम है। इस प्रकार लॉक के इस प्रतिनिधिमूलक वस्तुवाद में ज्ञान प्रक्रिया के तीन पक्ष दिखाई देते हैं- 1. ज्ञाता, 2. ज्ञेय, 3. प्रत्यय (ज्ञान के साक्षात् विषय)। चूंकि यहां ज्ञान प्रक्रिया के तीन घटक माने गये हैं, इसीलिए इसे 'ज्ञान का त्रिघटकीय सिद्धांत' (Three Factor Theory of Knowledge) कहा जाता है।

इस प्रकार प्रतिनिधिमूलक वस्तुवाद ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से द्वैतवाद का समर्थक हैं। यहां ज्ञान के दो विषय उभरकर सामने आते हैं-

1. प्रत्यक्ष : जिससे प्रत्यय का ज्ञान मिलता है।

2. अनुमान : जिससे वस्तु का ज्ञान मिलता है।

इसीलिए लॉक का यह सिद्धांत ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद (Epistemological Dualism) कहलाता है।

यहां लॉक ज्ञान की सत्यता के निर्धारण के संदर्भ में संवादिता सिद्धांत (Correspondence Theory) को स्वीकार करते है। इसके अनुसार प्रत्ययों के अनुरूप वस्तु के रहने पर ज्ञान सत्य होता है, नहीं रहने पर ज्ञान असत्य होता है।

आलोचना : जी.ई. मूर के अनुसार प्रत्यय 'जानने की प्रक्रिया' मात्र है। जानने की प्रक्रिया को ज्ञान का विषय मान लेना भूल है। प्रकाश वस्तु को प्रकाशित करता है न कि उसे उत्पन्न करता है। ज्ञान के संदर्भ में प्रत्यय की भी यही भूमिका है। अतः प्रत्यय प्रतिनिधि त्ववाद गलत है।

लॉक की तत्त्वमीमांसा

यद्यपि लॉक के दर्शन में ज्ञानमीमांसा का प्राथमिक महत्त्व है; तथापि वह तत्त्वमीमांसा की उपेक्षा नहीं करता है। वस्तुतः वह तत्त्वमीमांसा को ज्ञानमीमांसा के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास करता है। लॉक के दर्शन की सबसे बड़ी विसंगति यह है कि उसकी ज्ञानमीमांसा से उसके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा तर्कतः सिद्ध नहीं हो पाती है। यद्यपि लॉक और डेकार्ट की ज्ञानमीमांसा में मौलिक अंतर है, परंतु तत्त्वज्ञान से संबंधित विचारों में दोनों दार्शनिकों में पर्याप्त समानता है। लॉक की तत्त्वमीमांसा के अंतर्गत तीन प्रमुख तत्त्व हैं– भौतिक द्रव्य, आत्मा और ईश्वर। लॉक के अनुसार जगत् द्रव्यों से निर्मित है। द्रव्य मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं– (1) भौतिक द्रव्य और (2) अभौतिक द्रव्य।

भौतिक द्रव्य के छः प्रमुख मूलगुण हैं– विस्तार, (Extension), ठोसपन (Solidity), आकार (Form), गति (Motion), विराम (Rest), एवं संख्या (Number)। ये गुण भौतिक वस्तुओं में पाये जाते हैं जो भूततत्त्व या जड़ (Matter) से निर्मित हैं। हमें द्रव्य का साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता है। किन्तु लॉक भौतिक द्रव्य में दृढ़ विश्वास करता है। वह कहता है, **'द्रव्य सर्वत्र एक-साथ किन्तु मैं नहीं जानता क्या' (The same everywhere, but I know not what?)** भौतिक द्रव्य निष्क्रिय है। द्रव्य के अज्ञेय होते हुए भी लॉक कुछ समुचित साक्ष्यों के आधार पर द्रव्य के अस्तित्व में विश्वास करता है। उसके अनुसार अधोलिखित साक्ष्यों के आधार पर जड़द्रव्य (भौतिक द्रव्य) के अस्तित्व को सिद्ध किया जा सकता है–

हमें जो संवेदन प्राप्त होते हैं, इनका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अंधा, बहरा, लंगड़ा, अथवा किसी अन्य इंद्रिय से रहित है तो वह उस ज्ञानेन्द्रिय से संबंधित संवेदनों को नहीं प्राप्त कर सकता है। इससे सिद्ध होता है कि भूतत्व ही संवेदनों का कारण है, जो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से हमारे मन में उन्हें (संवेदनों को) उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त भूतत्त्व के कारण ही प्रत्यक्ष और स्मृति में भेद किया जाता है। हमारे प्रत्यक्ष स्पष्ट और पर्याप्त होते हैं क्योंकि वे जड़ तत्त्व के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। इसके विपरीत किसी बाह्य जड़तत्त्व से उत्पन्न न होने वाली स्मृति अस्पष्ट और धुँधली होती है। स्मृति मन के आंतरिक संस्कारों से उत्पन्न होती है। **लॉक के समान नैयायिकों ने भी स्मृति को संस्कारजन्य ज्ञान कहा है।**

हमारे इन्द्रिय संवेदन बाह्य भौतिक द्रव्य के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। कोई मनुष्य जिस वस्तु (जैसे-सेब) को देखता है, उसे चख सकता है, सूंघ सकता है, उसके चिकनेपन आदि का स्पर्श कर सकता है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य का प्रत्यय यथार्थ है। उल्लेखनीय है कि लॉक द्रव्य के प्रत्यय को यथार्थ मानते हुए भी उसे प्रर्याप्त नहीं मानता है। द्रव्य का कोई भी जटिल प्रत्यय उसके सभी पहलुओं अथवा उसके मूल स्वरूप का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करता है।

लॉक के अनुसार हम जिन मूलगुणों का प्रत्यक्ष करते हैं, उनका कोई न कोई आशय अवश्य होना चाहिए। निश्चित रूप से उन मूलगुणों का अधिष्ठान भौतिक द्रव्य है। यही कारण है कि लॉक ने मूलगुणों को वस्तु का वास्तविक धर्म कहा है। दूसरे शब्दों में मूलगुण वस्तुनिष्ठ है। इसके विपरीत उपगुण आत्मनिष्ठ होते हैं, जो हमारे मन में हैं। वे वस्तुओं में नहीं पाये जाते है। मूलगुणों का विवेचन पहले ही इस अध्याय में किया जा चुका है, अतः इस स्थल पर उसका विवेचन करना अपेक्षित न होगा।

इस प्रकार लॉक ने संवेदनों के स्त्रोत और समस्त प्रत्यक्षों के आधार के रूप में जड़द्रव्य की सत्ता का प्रतिपादन किया। हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान की स्पष्टता और निश्चायक वैधता का आधार भौतिक द्रव्य है। इसी प्रकार मूलगुणों के आश्रय के रूप में लॉक जड़ द्रव्य की सत्ता का प्रतिपादन करता है। संक्षेप में, प्रत्यक्ष ज्ञान की स्पष्ट प्रतीति और उसकी तुलना में स्मृतिजन्य ज्ञान की अस्पष्ट और मंद प्रतीति का कारण भौतिक (जड़) द्रव्य है। उल्लेखनीय है कि लॉक के समान नैयायिकों ने स्मृति को संस्कारजन्य कहा है जिसमें वस्तु का साक्षात् अनुभव नहीं होता। यह वस्तु के ज्ञान की पुनरभिव्यक्ति मात्र है।

लॉक के अनुसार भौतिक द्रव्यों की संख्या अनेक है। उनकी अनेकता से सिद्ध होता है कि वे विशेष हैं। विशेष द्रव्य एक-दूसरे के प्रति अंतर्क्रिया करते हैं। इस प्रकार वे कारण-कार्य की श्रृंखला में बँधे हुए हैं। किन्तु लॉक इस द्रव्य को अज्ञेय मानता है। हम देख चुके हैं कि वह भौतिक द्रव्य के प्रत्यय को एक जटिल प्रत्यय कहता है जिसके अनुरूप प्राकृतिक जगत् में भौतिक द्रव्य का अस्तित्व अनुमान के आधार पर सिद्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि लॉक भौतिक द्रव्य को अनुमान का विषय मानता है। किन्तु यह लॉक-दर्शन की अत्यंत उलझी हुई समस्या है। यदि कोई वस्तु अज्ञात और अज्ञेय है तो केवल उस वस्तु के प्रत्यय के आधार पर वस्तु के यथार्थ स्वरूप और अस्तित्त्व का निर्धारण कैसे किया जा सकता है? चूँकि लॉक प्रत्यय और वस्तु में भेद करता है, इसीलिए वह वस्तुवादी है। द्रव्य की सत्ता द्रव्य के ज्ञान से स्वतंत्र है। किन्तु वस्तु के प्रत्यय और वस्तु की सत्ता में संवादिता (अनुरूपता) कैसे स्थापित की जाय? लॉक इस समस्या को हल करने में असफल रहा है। यही कारण है कि आगे चलकर उसे अनुभववादी परंपरा के ही एक दार्शनिक बिशप बर्कले की आलोचना का कोपभाजन होना पड़ा। उसका अनुभववाद विसंगतियों के ऐसे भँवरजाल में उलझ जाता है कि वह उससे निकलने में असमर्थ रहता है। इसके परिणामस्वरूप वह पूरी अनुभववादी परंपरा को ही डुबो देता है, जो कभी ह्यूम के संशयवाद के रूप में तो कभी बर्कले के आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद के रूप में अभिव्यक्त होता रहता है। यदि वह मान लेता कि भौतिक द्रव्य का ज्ञान प्रत्ययात्मक नहीं है तो अनुभववाद की यह मान्यता ही ध्वस्त हो जाती कि समस्त ज्ञान आनुभविक प्रत्ययों तक सीमित है। इससे स्पष्ट है कि उसके दर्शन में भौतिक द्रव्य की अवधारणा सामंजस्यपूर्ण नहीं है।

द्रव्य (Substance)

लॉक अनुभववादी दार्शनिक हैं। वे अनुभव को यथार्थ ज्ञान-प्राप्ति का एकमात्र स्त्रोत मानते हैं। अनुभव में हमें गुणों का ही ज्ञान मिलता है। इन गुणों का आधार अवश्य होना चाहिए, क्योंकि ये गुण निराधार नहीं रह सकते। गुणों के अधिष्ठान का ही नाम द्रव्य है। लॉक के अनुसार द्रव्य वह पदार्थ है जिसमें गुण रहते हैं, अर्थात् गुणों का आश्रय या आधार ही द्रव्य है।

द्रव्य का प्रत्यय एक जटिल प्रत्यय है जिसे बुद्धि सरल प्रत्ययों की प्राप्ति के पश्चात् सक्रिय होकर बनाती है। जैसे- सोना एक जटिल प्रत्यय है जो ठोसपन, चमकीलापन, विस्तार आदि सरल प्रत्ययों का आधार है।

द्रव्य की सत्ता का प्रत्यक्ष नहीं होता, बल्कि प्रत्यक्षित गुणों के आधार पर उसकी सत्ता का अनुमान किया जाता है। दूसरे शब्दों में, लॉक ज्ञात गुणों के अज्ञात आधार के रूप में द्रव्य की सत्ता को अनुमानित करते हैं। लॉक का यही मत प्रतिनिधिमूलक वस्तुवाद (Representative Realism) कहलाता है। भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन का सौतांत्रिक मत भी बाह्य वस्तु की सत्ता का ज्ञान अनुमान से मानता है। (बाह्य अनुमेयवाद)।

लॉक के विचारों से पाश्चात्य दर्शन में एक नई विचारधारा का उदय होता है। चूंकि लॉक अनुभववादी थे, इसीलिए उन्होंने मात्र अनुभव को ही ज्ञान का साधन माना और दार्शनिक गुत्थियों को उसने साधारण अनुभव के आधार पर ही सुलझाने का प्रयास किया। लॉक के पहले द्रव्य की समस्या विश्व के परिवर्तनों, अस्थायित्व तथा विनाशशीलता के बीच एक स्थायी, अविनाशी, असीमित स्वयंभू आधार की खोज की समस्या थी और द्रव्य की अवधारणा इसी समस्या से प्रेरित होकर वस्तुतः मूलभूत सत्ता की अवधारणा से सम्बद्ध थी। परंतु लॉक के विचारों में इस समस्या ने एक साधारण आनुभविक स्तर की समस्या का रूप ले लिया।

लॉक अपनी तत्वमीमांसा में तीन प्रकार के द्रव्यों की सत्ता को स्वीकार करते हैं। निष्क्रिय रूप से सरल प्रत्ययों को ग्रहण करने के पश्चात् मन सक्रिय होकर जटिल प्रत्ययों का निर्माण करती है। ये जटिल प्रत्यय तीन है- 1. पर्याय (Modes), 2. द्रव्य (Substance) और 3. संबंध (Relation)।

द्रव्य का प्रत्यय एक जटिल प्रत्यय है। ये सरल प्रत्ययों से निर्मित होते हैं। द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं-

1. भौतिक द्रव्य (जड़ द्रव्य), 2. आत्मा, 3. ईश्वचर।

लॉक के अनुसार भौतिक द्रव्य भौतिक गुणों का आश्रय है। आत्मा मानसिक गुणों का आश्रय है, जबकि ईश्वर संपूर्ण विश्व का आश्रय है।

भौतिक या जड़ द्रव्य (Material Substance)

लॉक प्राथमिक गुणों के अधिष्ठान के रूप में जड़ तत्व की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार प्रत्यक्ष से हमें केवल गुणों का ज्ञान होता है। इन गुणों का बाह्य जगत में कोई न कोई अधिष्ठान होना आवश्यक है। इस अधिष्ठान के रूप में यहां जड़ तत्व अथवा भौतिक पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।

भौतिक द्रव्य के छः प्रमुख मूलगुण है-

1. विस्तार (Exetension) 2. ठोसपन (Solidity) 3. आकार (Form)
4. गति (Motion) 5. विराम (Rest) 6. संख्या (Number)।

लॉक के अनुसार हमें द्रव्य का साक्षात ज्ञान नहीं हो सकता, किंतु लॉक भौतिक द्रव्य में दृढ़ विश्वास करता है। वह कहता है- "द्रव्य एक सा, किंतु मैं नहीं जानता क्या?" (The same everywhere, but I know not what)।

लॉक के अनुसार भौतिक द्रव्य निष्क्रिय है। इनकी संख्या अनेक है। जड़-द्रव्य की मन से पृथक स्वतंत्र सत्ता है। लॉक जड़-द्रव्य को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित तर्क देते है।

1. बाह्य पदार्थ ही हमारी संवेदनाओं के कारण हैं। संवेदनाओं की उत्पत्ति के लिए बाह्य वस्तुओं या जड़-द्रव्यों की सत्ता आवश्यक है। सरल प्रत्यय (संवेदनाएं आदि) मन की रचना नहीं है।

2. हमारी विभिन्न बाह्य इंद्रियां भी बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को सिद्ध करती है। जैसे पत्थर के टुकड़े को छूने पर उसकी कठोरता की अनुभूति होती है। यदि वहां पत्थर का टुकड़ा न होता तो कठोरता की अनुभूति भी नहीं होती।

3. संवेदना और स्मरण में अंतर भी बाह्य वस्तु की सत्ता को प्रमाणित करता है। संवेदना प्रत्यक्षजन्य है, जबकि स्मृति संस्कारजन्य है। प्रत्यक्ष से प्राप्त संवेदन स्पष्ट और पर्याप्त होते हैं जबकि स्मृति या स्मरण में यह बात नहीं हो पाती।

इस प्रकार भौतिक द्रव्य का साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी लॉक प्रत्यक्षीत मूल गुणों के अधिष्ठान के रूप में भौतिक द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करते हैं। लॉक मूल गुणों को वस्तु का वास्तविक धर्म मानते हैं। इस रूप में मूल गुण वस्तुनिष्ठ है।

आत्म द्रव्य

लॉक भौतिक द्रव्य के साथ साथ अभौतिक द्रव्य के रूप में अनेक जीवात्माओं की सत्ता को स्वीकार करते हैं। जहां बाह्य भौतिक पदार्थों को हम संवेदनाओं के आधार पर जानते हैं वहीं स्वसंवेदन (Reflection) से मन के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। स्वसंवेदन के आधार पर ही हम यह जानते हैं कि चिंतन, कल्पना, निश्चय, संकल्प करना इत्यादि मन के गुण हैं। लॉक के अनुसार जहां भौतिक द्रव्य निष्क्रिय है, वहीं आतमा क्रियाशील है। लॉक के अनुसार आत्म स्वरूपतः ज्ञान शून्य है। दूसरे शब्दों में लॉक न्याय वैशेषिक की तरह ज्ञान को आत्मा का आकस्मिक लक्षण मानते हैं। आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव के द्वारा होती है। डेकार्ट के विपरीत लॉक कहते हैं कि चिंतन या चेतना आत्मा का सारतत्व (Essence) नहीं है बल्कि आत्मा का यह एक कार्य है। चिंतन करने के अतिरिक्त भी आत्मा की अनेक आकस्मिक क्रियाएं होती हैं। लॉक आत्मा को प्रातिभ ज्ञान (Intution) का विषय मानता है।

ईश्वर

लॉक भौतिक द्रव्य एवं आत्म-द्रव्य के साथ साथ ईश्वर को एक सक्रिय आध्यात्मिक द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। लॉक के अनुसार जैसे भौतिक द्रव्य के विषय में बुद्धि केवल उसके गुणों को जानकर उसके आधार के रूप में भौतिक द्रव्य की सत्ता को अनुमानित कर लेती है। उसी प्रकार मनुष्य की सीमित बुद्धि केवल ईश्वरीय गुणों से परिचित हो सकती है, उसके वास्तविक तत्व को नहीं जान सकती। हम ईश्वरीय प्रत्यय का निर्माण ज्ञान, शक्ति, सुख, आनंद आदि अनुभवों से प्राप्त प्रत्ययों से करते हैं। हम इनमें से प्रत्येक को अनन्त तक

विस्तारित कर देते हैं। इन्हीं अनन्त प्रत्ययों को अंत में एक साथ मिला देते हैं। यही प्रक्रिया ईश्वर प्रत्यय के निर्माण में काम आती है। संक्षेप में, सत्ता, बल, शक्ति, ज्ञान, आनंद आदि सरल प्रत्ययों का संकलन ईश्वर का जटिल प्रत्यय है।

ईश्वर का ज्ञान साक्षात नहीं होता है, यह एक निदर्शनात्मक (Demonstrative Knowledge) ज्ञान है। इसका आधार दो प्रातिभ ज्ञान है–

1. आत्मा के अस्तित्व का प्रातिभ ज्ञान अर्थात् 'मैं स्वयं हूं', अर्थात् कोई वस्तु सत् है।
2. यह प्रातिभ ज्ञान की शुद्ध असत् से किसी सत् वस्तु की उत्पत्ति संभव नहीं है। लॉक यहां यह कहते हैं कि 'यदि हम जानते है कि एक सत् वस्तु है और असत् किसी सत् को उत्पन्न नहीं कर सकता है, तो यह स्पष्ट निष्कर्ष है कि अनादिकाल से ही कोई सत् वस्तु है, क्योंकि जो अनादि काल से नहीं है उसका आदि है और जिसका आदि है उसको किसी वस्तु ने उत्पन्न किया है।'

स्पष्ट है कि वस्तुओं के अस्तित्व और उनमें निहित समस्त शक्ति का कारण सर्वशक्तिमान ईश्वर ही है। पुनः आत्मा (ज्ञाता) का कारण होने के कारण उसे सर्वज्ञ होना चाहिए। इस प्रकार यहां समस्त वस्तुओं के कारण के रूप में एक नित्य, सर्वशक्तिमान और सर्वा तत्व अर्थात् ईश्वर की सत्ता सिद्ध की गई है।

लॉक के अनुसार विश्व की सभी वस्तुएं कारण–कार्य श्रृंखला में आबद्ध है। ऐसी स्थिति में अनवस्था दोष से बचने के लिए ईश्वर को आदि कारण के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।

लॉक ईश्वर के अस्तित्व के संदर्भ में डेकार्ट के सत्तामूलक तर्क का खंडन करते हैं। इनके अनुसार वास्तविक सत्ता को काल्पनिक प्रत्यय के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता।

लॉक भी डेकार्ट की भांति ईश्वर को जगत का केवल निमित्त करण मानते हैं। यद्यपि ईश्वर वस्तुओं और आत्माओं का स्रष्टा है फिर भी यहां लॉक के दर्शन में ईश्वर, आत्माएं और जड़–द्रव्य ये तीन मौलिक द्रव्य के रूप में स्वीकार किये गये है।

लॉक यहां डेकार्ट की इस अवधारणा का खंडन करते हैं कि ईश्वर जन्मजात प्रत्यय है।

संक्षेप में, लॉक के अनुसार मन सरल प्रत्ययों को ग्रहण करने के पश्चात् सक्रिय होकर जटिल प्रत्ययों का निर्माण करता है। द्रव्य (Substance) का प्रत्यय भी एक जटिल प्रत्यय है। उदाहरणार्थ स्वर्ण एक द्रव्य है जो रूप, रंग, वजन आदि अनेक सरल प्रत्ययों के योग से निर्मित हैं।

लॉक के अनुसार द्रव्य तीन प्रकार के हैं– 1. जड़ द्रव्य, 2. आत्म द्रव्य, 3. ईश्वर।

जड़ द्रव्य : जड़ द्रव्य सांसारिक भौतिक वस्तुएं है। इनकी संख्या अनेक है। इन्द्रिय संवेदन से जड़–द्रव्यों का अस्तित्व प्रमाणित होता है। ये मूल गुणों के आश्रय है।

आत्म द्रव्य : यह एक आध्यात्मिक द्रव्य है। आत्मा के व्यापारों का ज्ञान स्वसंवेदन से होता है।

ईश्वर : ईश्वर का ज्ञान निदर्शन से प्राप्त होता है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और जड़ जगत का निमित्त कारण है। सत्ता, बल, शक्ति, ज्ञान, आनंद, अनन्तता आदि सरल प्रत्ययों का संकलन ईश्वर का जटिल प्रत्यय है। सरल प्रत्ययों के अनुरुप लॉक ईश्वर की वास्तविक सत्ता में विश्वास करते हैं।

गुण (Attribute)

लॉक के अनुसार ज्ञान प्रत्ययों के रूप में होता है। इन प्रत्ययों को उत्पन्न करने वाली शक्ति ही गुण कहलाती है। लॉक के अनुसार 'गुण' द्रव्य की वह शक्ति है जिसके कारण हमारे मन में प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। हमारा प्रत्यक्ष रूप से संपर्क गुणों से ही होता है द्रव्य से नहीं। गुण ही हमारे साक्षात् ज्ञान (अनुभव) के विषय बनते हैं। हमें द्रव्य का साक्षात् ज्ञान नहीं होता।

ये गुण दो प्रकार के हैं-

1. प्राथमिक गुण (Primary Qualities) 2. गौण गुण Secondary Qualities)

प्राथमिक गुण वे हैं जिसका अस्तित्व हमारे ज्ञान पर निर्भर नहीं है, अपितु ये अनिवार्य रूप से द्रव्य में रहते हैं। इन्हें द्रव्य से पृथक नहीं किया जा सकता। ये द्रव्य के यथार्थ या वास्तविक एवं अवियोज्य (inseparable) गुण हैं। द्रव्य के मूल गुण हैं- विस्तार (Extention), घनत्व (Solidity), आकृति (Figure), गति (Motion), स्थिति (Rest) और संख्या (number) आदि द्रव्य के प्राथमिक गुण हैं।

गौण गुण द्रव्य के परिवर्तनशील धर्म है। गौण गुण हमारी आत्मा में द्रव्यों के मूल गुणों द्वारा उत्पन्न की गई संवेदना मात्र है। ये वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मगत (Subjective) है। ये गौण गुण मानवों की इंद्रियों पर निर्भर करते हैं। जैसे, रूप, रस, स्पर्श, गंध आदि गौण गुण है। यद्यपि गौण गुण आत्मनिष्ठ हैं, परंतु इन्हें हमारी आत्मा उत्पन्न नहीं करती, बल्कि प्राथमिक गुणों के द्वारा ये गौण गुण हमारी आत्मा में उत्पन्न किये जाते हैं।

लॉक के इस गुण विचार से निम्न बातें उभरकर सामने आती हैं-

1. बाह्य पदार्थ के वास्तविक धर्म होने के कारण मूल गुण वस्तुगत है। इन मूल गुणों का आश्रय वस्तु है।

2. गौण गुण आत्मगत हैं। अतः आत्मतत्व की सत्ता भी सिद्ध होती है।

3. मूल गुण परिस्थिति सापेक्ष नहीं है जबकि गौण गुण परिस्थिति सापेक्ष है। जैसे विस्तार सदैव पदार्थ में रहता है परंतु विभिन्न प्रकाशों में एक ही रत्न विभिन्न रंगों में दिखाई देता है।

आत्मा का स्वरूप

भौतिक द्रव्यों के साथ-साथ लॉक अभौतिक द्रव्यों के रूप में अनेक जीवात्माओं की सत्ता को मानता है। किन्तु जहाँ भौतिक द्रव्य निष्क्रिय हैं, वहीं आत्मा क्रियाशील, संकल्पों से युक्त और विचारशील द्रव्य है। डेकार्ट के विपरीत लॉक चिंतन को आत्मा का नित्यगुण नहीं मानता है। उसके अनुसार आत्मा की अनेक क्रियाओं में से चिंतन करना एक व्यापार मात्र है। आत्मा स्वरूपतः ज्ञान-शून्य द्रव्य है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान आत्मा का आकस्मिक लक्षण है। आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव के द्वारा होती है। आत्मा के व्यापारों का ज्ञान स्वसंवेदन से होता है यहाँ पर लॉक का आत्मा संबंधी सिद्धांत न्याय-वैशेषिक के आत्मा संबंधी सिद्धांत से बहुत साम्य रखता है। **नैयायिकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का आगंतुक गुण है, न कि आत्मा का स्वरूप लक्षण। लॉक के समान जयन्तभट्ट भी यह मानते हैं कि बाह्य वस्तुओं के संपर्क में आने के बाद ही प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है।** जब तक आत्मा में ज्ञान न उत्पन्न हो, तब तक आत्मा जड़ द्रव्य के समान होता है।[1] न्याय दर्शन भी लॉक के समान आत्मा को एक अभौतिक द्रव्य मानता है। इस प्रकार लॉक और न्याय का

आत्मा संबंधी सिद्धांत कांट, हेगल, टी. एच. ग्रीन, सांख्य और अद्वैत वेदान्त के आत्मा संबंधी सिद्धांत से भिन्न है। उल्लेखनीय है कि **काण्ट और अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार आत्मा और चैतन्य में द्रव्य और गुण का संबंध नहीं है। वे आत्मा को चैतन्य स्वरूप मानते हैं।** यद्यपि लॉक आत्मा को देश-काल के अंतर्गत मानता है, तथापि वह उसके अभौतिक स्वरूप को स्वीकार करता है।

आत्मा को ज्ञान-शून्य द्रव्य मानकर लॉक बुद्धिवादी परंपरा को चुनौती देता है। वस्तुत: वह आत्मा के अस्तित्व के बारे में तो निश्चित है, किन्तु वह आत्मा के स्वरूप की युक्तिसंगत व्याख्या नहीं कर पाता है। अपने निबंध के चतुर्थ खण्ड में वह कहता है कि आत्मा क्या है? इसके बारे में किये जाने वाले संशय उसके अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। यह किस प्रकार का अस्तित्व है? हमें इसके अज्ञान पर ही संतोष करना पड़ता है। लॉक के विपरीत डेकार्ट ने चिंतन को आत्मारूपी द्रव्य के एक अनिवार्य गुण के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु **लॉक कहता है कि चिंतन या चेतन आत्मा का सारतत्त्व (Essence) नहीं है, बल्कि यह आत्मा का एक कार्य है। चिंतन करने के अतिरिक्त भी आत्मा की अनेक आकस्मिक क्रियाएं होती हैं।** आत्मा के अस्तित्व के लिए प्रमाण यह है कि चिंतन करना, संशय करना, तर्क करना, डरना आदि ऐसे कार्य हैं जिनका संबंध न तो शरीर से माना जा सकता है और न इन क्रियाओं को स्वयं अस्तित्वपूर्ण कहा जा सकता है। अत: ये समस्त कार्य किसी अन्य द्रव्य के हैं, जिसे 'आत्मा' कहा जाता है।

यद्यपि लॉक डेकार्ट के सूत्र **'मैं सोचता हूँ, इसलिए, मैं हूँ'** का प्रयोग नहीं करता है, तथापि परोक्ष रूप से वह भी इस सूत्र को अपनाता है। वह कहता है कि बाह्य जगत् में शरीर द्रव्य की सत्ता के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। यदि हमें अपने अंदर के किसी द्रव्य कर अत्यंत निश्चित ज्ञान है जो देखता है, सुनता है अर्थात् प्रत्यक्ष करता है, तो वह द्रव्य आत्मा ही है। हमारे विचारों का स्त्रष्टा और समस्त गतियों का उत्पादक जड़तत्त्व नहीं हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि इन सबके मूल में एक अध्यात्मिक तत्त्व है। लॉक इस आध्यात्मिक तत्त्व को ही 'आत्मा' कहता है।

लॉक के द्वारा आत्म-ज्ञान का आधार अनुभव-सापेक्ष प्रातिभ ज्ञान को मानना दोषपूर्ण है। इससे आत्मा प्रातिभ ज्ञान का विषय हो जाता है। आत्मा स्वरूपत: ज्ञाता और विषयी है। अत: उसे विषय के स्तर पर लाने का प्रयास दोषपूर्ण है। **यद्यपि लॉक आत्मा को अभौतिक द्रव्य कहता है, तथापि चिंतनशून्य और चेतना से रहित आत्मा के मूल में इसकी जड़ता प्रच्छन्न है।** यदि आत्मा एक ज्ञानशून्य द्रव्य है, अर्थात् अन्य वस्तुओं के समान आत्मा भी एक वस्तु है, तो आत्मा के द्वारा अन्य वस्तुओं का ज्ञान कैसे संभव होगा? डेकार्ट के समान आत्मा भी एक वस्तु है, तो आत्मा के द्वारा अन्य वस्तुओं का ज्ञान कैसे संभव होगा? डेकार्ट के समान लॉक का तात्त्विक सिद्धांत मूलत: द्वैतवादी है। वह भौतिक और मानसिक इन दो द्रव्यों को स्वीकार करता है। प्लेटो से लेकर डेकार्ट और लॉक-पर्यन्त सभी द्वैतवादियों के लिए मानसिक और शारीरिक तत्त्वों के संबंध की समस्या एक चुनौती रही है। वस्तुत: लॉक आत्मा को ज्ञानस्वरूप न मानकर उसे एक विषय जगत् की वस्तु बना देता है जिसमें अनुभव के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा भी एक विषय है तो उस आत्मा का ज्ञान कैसे होगा? जिसमें अभी ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हुआ है। इससे स्वष्ट है कि वह आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप की तार्किक व्याख्या नहीं कर पाता है।

आलोचना या क्या लॉक एक असंगत अनुभववादी है (Is Locke Inconsistent Empiricist)

लॉक अनुभववादी दार्शनिक है। अनुभववाद अनुभव को ही ज्ञानप प्राप्ति का एकमात्र यथार्थ साधन स्वीकार करता है। ऐसी स्थिति में अनुभववाद को मानने का अर्थ है केवल उन्हीं विषयों एवं सत्ताओं का स्वीकार करना जिनका ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में जिनका ज्ञान अनुभव से प्राप्त नहीं होता, उन सबकी सत्ता को अस्वीकृत करना। परंतु लॉक के अनुभववाद को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कई स्थलों पर अनुभववाद की सीमा का अतिक्रमण किया है जिसके कारण उनका अनुभववाद असंगत अनुभववाद के रूप में उभरकर सामने आता है। ऐसा कहने के निम्नलिखित आधार है-

1. लॉक के अनुसार अनुभव में हमें केवल प्रत्यय प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में द्रव्य की सत्ता को स्वीकार करने का कोई आनुभविक आधार नहीं है। लॉक यद्यपि अनुभव को ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन मानते हैं, फिर भी वे स्वयं आनुभविक ज्ञान की सीमा का अतिक्रमण करते हुए द्रव्य की सत्ता को अनुमानित कर देते हैं। ये उनके अनुभववाद का दोष है।

लॉक की ज्ञानमीमांसा में स्पष्टता एवं सुसंगति की कमी है। यहां तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक भेदों में अंतर नहीं किया गया है।

2. लॉक ने मूल गुणों आधार के रूप में बाह्य वस्तु की सत्ता को माना और इस क्रम में सत्यता निर्धारण हेतु संवादिता सिद्धांत (Correspondence Theory) को स्वीकार किया। परंतु जब हम बाह्य वस्तु का कभी प्रत्यक्ष नहीं करते ही नहीं, तो फिर ऐसी स्थिति में ऐसा कहने का कोई तार्किक आधार नहीं है कि प्राथमिक गुण बाह्य वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। लॉक की इस अवधारणा में संदेहवाद (scepticism) के बीज निहित है।

3. लॉक के अनुसार मन निष्क्रिय होकर संवेदनाओं को ग्रहण करता है। लॉक की यह मान्यता मनोवैज्ञानिक मान्यताओं के विपरीत है। यदि मन निष्क्रिय है तो वह न तो ज्ञान को ग्रहण कर सकता है और न ही जटिल प्रत्ययों का निर्माण ही कर सकता है। यही कारण है कि आगे चलकर कांट ने बताया कि बुद्धि की धारणएं (categories) आनुभाविक सामग्री को ..... के रूप में ढालने का काम करती है, ज्ञान को निर्मित करती है।

4. लॉक यह मान लेते हैं कि हमें एक एक करके प्रत्यय मिलते हैं। इस प्रकार प्रत्यय परमाणु रूप होते हैं। परंतु प्रत्ययों का अणुवादी सिद्धांत सही नहीं है। वास्तव में हमें प्रत्ययों का अलग अलग अनुभव न होकर समग्रता में, सामूहिक रूप से होता है। बाद में हम उनका पृथक-पृथक रूप से विश्लेषण करते हैं।

5. लॉक ने यह स्पष्ट रूप से माना है कि जटिल प्रत्यय मन की रचना है। ऐसी स्थिति में जटिल प्रत्ययों के अनुरूप किसी द्रव्य की सत्ता को मानना अनुभव के विपरीत जाना है।

6. यदि अनुभव में केवल गुण ही मिलते हैं तो फिर उनके आधार के रूप में द्रव्य को मानने का तर्कसंगत आधार नहीं है।

7. समकालीन विश्लेषणवादी दार्शनिक मूर के अनुसार प्रत्यय जानने की प्रक्रिया मात्र हैं। इस जानने की प्रक्रिया को ज्ञान का विषय मान लेना भूल है। जैसे-प्रकाश वस्तुओं का प्रकाशित करता है, उसे वस्तुओं का उत्पादक मानना भूल है। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति में प्रत्यय की स्थिति है। ऐसी स्थिति में प्रतिनिधिमूलक वस्तुवाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

8. बर्कले के अनुसार मूल गुणों एवं गौण गुणों में कोई भेद नहीं है। दोनों आत्मगत ही है। ऐसी स्थिति में इनके आधार के रूप में जड़-पदार्थ की सत्ता को मानना संगत नहीं है।

9. ज्ञान को केवल अनुभव पर आधारित मानने पर अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान की व्याख्या नहीं हो पाएगी। अनुभव से प्राप्त सभी ज्ञान सीमित एवं संभाव्य होते हैं।

10. बर्कले के अनुसार लॉक एक तरफ तो जड़ पदार्थ को निष्क्रिय मानते हैं तो दूसरी तरफ वे जड़ पदार्थ को हमारे मन में उत्पन्न होने वाले प्रत्ययों के बाह्य वस्तुगत आधार एवं कारण के रूप में स्वीकार करते हैं। परंतु यदि जड़ द्रव्य निष्क्रिय है तो फिर उनमें प्रत्ययों को उत्पन्न करने की शक्ति या सक्रियता नहीं आ सकती। अत: जड़ पदार्थों को प्रत्ययों का कारण मानना अनुभववाद से असंगत है।

11. ह्यूम के अनुसार अनुभव के आधार पर न तो जड़ द्रव्य की सत्ता स्वीकार की जा सकती है और न ही आध्यात्मिक सत्ता की सिद्धि होती है।

12. यदि द्रव्य अज्ञात एवं अज्ञेय है तो फिर दो समस्याएं उत्पन्न होती है।

(a) द्रव्य हमारे भीतर विज्ञानों को उत्पन्न करता है। ऐसा कहने का कोई आधार नहीं रहेगा।

(b) हमारे विज्ञान और बाह्य वस्तु में संगति है या नहीं, इसका निर्धारण नहीं हो सकेगा।

इन्हीं आलोचनाओं के संदर्भ में प्राय: यह कहा जाता है कि लॉक एक असंगत (Inconsistent Empiricist) अनुभववादी है।

महत्व

1. लॉक ने मानव ज्ञान एवं विचार के संबंध में नवीन एवं महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाकर दर्शन को एक नई दिशा दी है।

2. लॉक के अनुभववाद ने दर्शन के क्षेत्र में अंधविश्वास एवं पूर्वाग्रहों को दूर करने का प्रयास किया है।

3. लॉक ने ज्ञानमीमांसा को प्रमुखता प्रदान की। इससे ब्रिटिश परंपरा को इसकी ओर उन्मुख होने की प्रेरणा मिली।

4. यद्यपि लॉक के दर्शन में तार्कि एवं मनोवैज्ञानिक भेदों को भुला दिया गया है, यह एक गलती थी। परंतु इस गलती ने मनोविज्ञान की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसीलिए लॉक को प्राय: मनोविज्ञान का पिता कहा जाता है।

सारांश

लॉक को अनुभववाद का संस्थापक कहा जा सकता है। अनुभववाद के अनुसार ज्ञान इंद्रिय अनुभव से उत्पन्न होता है। लॉक अपने से पूर्व के दार्शनिकों के इस विचार से कि प्रत्यय अंतर्जात होते हैं, सहमत नहीं थे। लॉक अपने से पूर्व के दार्शनिकों के इस विचार से कि प्रत्यय अंतर्जात होते हैं, सहमत नहीं थे। लॉक के अनुसार, मन सादा कागज़ है। मन में समझने की शक्ति है परंतु यह कहना गलत है कि इसमें पहले से कुछ होता है। ज्ञान की सामग्री अनुभव से आती है। जब मनुष्य सोचता है तब प्रत्यय उसके बोध के विषय होते हैं। हमारे प्रत्यय दो स्त्रोतों से आते हैं-संवेदन और चिंतन। लॉक सरल और जटिल प्रत्ययों में भेद करते हैं। सरल प्रत्यय सर्वाधिक आधारभूत भाव होते हैं और मन में इन प्रत्ययों को संयुक्त

करके जटिल प्रत्यय बनाने की क्षमता होती है। जटिल प्रत्यय तीन प्रकार के होते हैं- द्रव्य, प्रयाय और संबंध। गुणों के आश्रय के रूप में द्रव्य का प्रत्यय अनिवार्य है। प्रयाय का प्रत्यय द्रव्य पर निर्भर है। संबंध का प्रत्यय तुलना के द्वारा निर्मित होता है। सामान्य प्रतिज्ञप्तियों का प्रत्यय अमूर्तन से आता है। एक और भेद जो लॉक ने सुझाया वह है प्राथमिक और द्वितीयक गुण का। ठोस, आकार, गति, विराम और संख्या प्राथमिक गुण हैं और इनका माप संभव है तथा ये द्रव्य से पृथक नहीं किये जा सकते। ये वस्तुनिष्ठ होते हैं। प्राथमिक गुणों के प्रत्यय नहीं गुणों की सत्य प्रतिलिपि होती है। ये प्रत्यय बाह्य वस्तुओं की नकल या प्रतिनिधि होते हैं। इस प्रकार लॉक कहते हैं कि जो ज्ञान की शर्तों को पूरा करता है वही निश्चित होता है। हमारे विचारों से सहमति-असहमति और प्रत्यक्ष के संबंध में ज्ञान निहित होता है। ज्ञान तीन प्रकार का होता है- (1) सहज ज्ञान; जो आदर्श, सत्य और स्वत:सिद्ध होता है, (2) प्रदर्शित ज्ञान जो संबंधात्मक, विश्लेषणात्मक और अमूर्त हैं। इस श्रेणी में नैतिकता, ईश्वर का अस्तित्व और गणीतिय ज्ञान आता है। (3) संवेदनात्मक ज्ञान। इसका सम्बंध संवेदना के सरल प्रत्यय और जटिल प्रत्यय पर आधारित सह-अस्तित्व से है। ज्ञान की सीमा बताते हुए लॉक कहते हैं कि "हम प्रत्ययों से परे कोई ज्ञान प्राप्त नहीं की सकते।"

प्रमुख शब्द

अनुभववाद : यह मान्यता कि सभी ज्ञान इंद्रिय अनुभव से उत्पन्न होते हैं।

प्रत्यय : एक विचार जो केवल मन में होता है या एक मानसिक बिम्ब जो यथार्थ को चित्रित करता है।

अभ्यास प्रश्न

1. जन्मजात/अंतर्जात प्रत्ययों के सिद्धांत की लॉक द्वारा खंडन की समीक्षा करें।
2. लॉक के ज्ञान के सिद्धांत का परीक्षण करें तथा संगत अनुभववादी के रूप में उनकी समीक्षा करें।
3. लॉक की ज्ञान मीमांसा का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
4. लॉक के प्रतिनिधिमूलक वस्तुवाद सिद्धांत से आप क्या समझते है?
5. लॉक की तत्वमीमांसा क्या है? व्याख्या करें।
6. द्रव्य क्या है? लॉक ने अपने दर्शन में द्रव्य को कैसे परिभाषित किया है?
7. "लॉक भौतिक द्रव्य एवं आत्म-द्रव्य के साथ-साथ ईश्वर को एक सक्रिय आध्या. त्मिक द्रव्य के रूप में स्वीकार करते है।" स्पष्ट करें।
8. गुण क्या है? यें कितने प्रकार के होते है? वर्णन करें।
9. क्या लॉक एक असंगत अनुभववादी है? अपने शब्दों में लिखिए।
10. लॉक के दर्शन में आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करें।
11. आधुनिक दर्शन में लॉक का क्या महत्व है?
12. लॉक के दर्शन का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई–9 बर्कले (Berkeley)

इकाई की रूपरेखा:

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. जड़ पदार्थों का खंडन
4. अमूर्त प्रत्ययों का खंडन
5. ईश्वर
6. आत्मा
7. प्रतिनिधिक सिद्धांत
8. दृश्यते इति वृतते
9. द्वैतवाद, निरीश्वरवाद और संशयवाद
10. बर्कले का प्रत्ययवाद
11. महत्त्व
12. सारांश
13. अभ्यास प्रश्न

उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश दार्शनिक जार्ज बर्कले के मुख्य विचारों के बारे में जानना है। बर्कले जॉन लाक के दर्शन का अनुसरण करते हैं। लॉक का ज्ञान का सिद्धांत बर्कले की आलोचना का केंद्र बिंदु है। सत्तामीमांसा तथा तत्वमीमांसा की सतत् एवं जटिल समस्याओं को बर्कले आगे दिए गए तर्कों से सुलझाने का प्रयास करते हैं। यहां हम उनके इन तर्कों का अध्ययन करेंगे। फिर उनके अनुभववाद और व्यक्तिनिष्ठ प्रत्ययवाद का विवरण देंगे तथा उनके प्रसिद्ध कथन दृश्य इति बृतते (esse est percipi) अर्थात् 'होने का अर्थ है अनुभूत होता' की व्याख्या करेंगे। अपने विमर्श के दौरान हम यह भी देखेंगे कि वे कैसे निरीश्वरवाद, भौतिकवाद, द्वैतवाद और संशयवाद का खण्डन करते हैं तथा कैसे यह दिखाते हैं कि एक मात्र और सर्वव्यापी ईश्वर ही बाह्य विश्व के अस्तित्व का अकेला निर्धारक है।

प्रस्तावना

जान लॉक के आलोचक के रूप में तथा डेविड ह्यूम के पूर्ववर्ती के रूप में जार्ज बर्कले ने ज्ञानमीमांसा और तत्वमीमांसा के महत्वपूर्ण प्रश्नों के संबंध में एक सर्वथा मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उल्लेखनीय मौलिकता से पदार्थ के अस्तित्व को नकारते हुए बर्कले ने दर्शन का एक प्रभावी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। जार्ज बर्कले एक आइरिस व्यक्ति थे जिनका जन्म 1685 में हुआ था। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा किलकैनी में लेने के बाद सोलह वर्ष की अवस्था में उन्होंने ट्रिनिटी कॉलेज में प्रवेश किया। यहां वे अपने कैरियर की पराकाष्ठा पर पहले स्नातक छात्र के रूप में और इसके बाद एक शिक्षक और शौधार्थी के रूप में पहूंचे।

उन दिनों ट्रिनिटी बड़े स्तर पर न्यूटन-विज्ञान और देकार्त, लॉक, मिल, मैलब्रास के नये दर्शन से प्रभावित था। बर्कले अपनी प्रखर बुद्धि के साथ वैज्ञानिक व दार्शनिक क्षेत्र में घुस गए। उन्होंने 1713 में लंदन की यात्रा की। यहाँ उन्होंने अपने समय के महान विद्वानों स्वीफ्ट, स्टिले, ऐडिसन और पॉप आदि पर विशेष प्रभाव छोड़ा। उन्होंने बरमूडा में कॉलेज की स्थापना की योजना बनाई। इस उद्देश्य से बाद में वे अमेरिका चले गये। तीन वर्ष रॉड आइसलैण्ड में व्यतित करने के बाद उन्होंने अपनी योजना को छोड़ दिया और इंग्लैण्ड लौट आये। उन्होंने नयी दुनिया की संभावनाओं को उद्वेलित किया। यहां उन्होंने कवितायें लिखीं। उनकी कविता की यह पंक्ति कि 'साम्राज्य (अमेरीका) पश्चिम के अन्वेषण और विस्तार की ओर पूर्व निर्दिष्ट रूप से अग्रसर है।' इसके बाद कैलिफोर्नियां की एक कॉलोनी का नाम उनके नाम पर रखा गया। उन्होंने एक नौजवान लड़की के साथ विवाह किया और उससे कहा कि मैंने तुम्हारे साथ विवाह तुम्हारे मानसिक गुणों और पुस्तकों के प्रति सतत झुकाव के कारण किया है। उनकी पत्नी ने उनके साथ प्रसन्नता पूर्वक एक किसान की जिन्दगी जी और स्वयं के द्वारा बुने हुए कपड़े पहने।

1934 ई.वी. में वह दक्षिणी आयरलैण्ड में क्लोपने के बिशप बने। यहाँ उन्होंने सेवानिवृत्ति का जीवन जिया और एक विद्वान के रूप में पढ़ते हुए पुस्तकों को प्रकाशित किया और समय-समय पर अपने अभिलेखों को भी प्रकाशित किया। किसानों की निम्न आर्थिक स्थिति में सुधार लाने का प्रयास किया। 67 वर्ष की उम्र में जब बर्कले का स्वास्थ्य बिगड़ गया तो वे क्लांयने से आक्सफोर्ड चले गये। एक वर्ष की उम्र में जब बर्कले का स्वास्थ्य बिगड़ गया तो वे क्लांयने से आक्सफोर्ड चले गये। एक वर्ष पश्चात् 1753 में अपने परिवार के साथ चाय पीते हुए उनकी मृत्यु हुई। उन्हें क्राइस्ट चर्च चोपेल आक्सफोर्ड में दफना दिया गया। बर्कले ने अपनी सम्पूर्ण विद्वता के साथ पवित्र जीवन जिया। पोप ने उनके बारे में कहा कि बर्कले सर्वगुण सम्पन्न थे। अल्टर बरी ने बर्कले के बारे में कहा कि उनके पास अत्याधिक समझने की शक्ति, अत्यधिक ज्ञान, अत्यधिक अनुभूति और अत्यधिक भव्यता थी। मैं सोचता हूँ कि इस सज्जन इंसान में देवदूतों के समान सभी गुण थे। बर्कले ने बहुत अधिक लिखा और उनके जवानी के काल में ही उनका सर्वोत्तम लेखन कार्य समाप्त हो गया था। उनके कुछ प्रसिद्ध लेखन कार्य हैं :

कॉमन पलेस बुक (1706-1708)

ए न्यू थ्योरी ऑफ बिजन (1709)

द प्रन्सिपल ऑफ ह्यूमन नॉलिज (1710)

द डायलॉग ऑफ हायलास एण्ड फिलोनाउस (1713)

एलिसिफ्रोन (1732) और साइरिस (1744)

अठ्ठाईस साल के बाद के उनके लेख कम प्रभावशाली थे। बर्कले ने सुन्दर और स्पष्टता के साथ लिखा।

बर्कले की समस्या

बर्कले उस युग से संबंध रखते थे जबकि विज्ञान का विकास, भौतिकतावादी प्रवृत्ति, और नास्तिकतावाद अपनी जड़े जमाने लगा था। बर्कले एक धार्मिक पुरूष थे। बर्कले ने इस प्रवत्ति के विरूद्ध घोषणा की कि भौतिक जगत मूलत: आध्यात्मिक है और यह आत्म की क्रियात्मकता और ईश्वर की अच्छाई की अभिव्यक्ति है। यह आध्यात्मवाद उन्हें इतना स्पष्ट प्रतीत हुआ

कि उन्होंने इसका बचाव तक करना आवश्यक नहीं समझा। इसके विपरीत भौतिकतावा का निराकरण करना उनके लिए आवश्यक हो गया और उन्होंने लॉक के अनुभववाद में सम्मिलित विसंगतियों को दूर करने और उसे तार्किक निष्कर्ष तक पहुंचाने वाले कार्यों का निष्पादन किया।

अभौतिकवाद या जड़ पदार्थों का खण्डन (Immaterialism or Refutation of Matter)

बर्कले के दर्शन का प्रमुख उद्देश्य जगत की यंत्रवादी, भौतिकवादी एवं वस्तुवादी व्याख्या का निराकरण करना था और उसके स्थान पर जगत की आध्यात्मवादी, प्रयोजनवादी एवं प्रत्ययवादी व्याख्या को स्थापित करना था। बर्कले विज्ञान के प्रभाव से पैदा हुए भौतिकवाद और नास्तिकवाद (Athseism) को जीवन से हटाना चाहते थे। बर्कले का मानना था कि भौतिकवाद के कारण ही नास्तिकवाद की स्थिति उत्पन्न होती है। अतः यदि भौतिकवाद का खंडन कर दिया जाए तो नास्तिकवाद भी खण्डित होगा और आध्यात्मवाद की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

बर्कले भी लॉक की परंपरा के अनुभववादी दार्शनिक हैं। वे भी यह मानते हैं कि अनुभव ही यथार्थ ज्ञान प्राप्ति का एक मात्र स्रोत है। परंतु यहां बर्कले लॉक के ऊपर यह आक्षेप लगाते है कि लॉक ने अनुभवमूलक प्रणाली का पूरी तरह पालन नहीं किया। वह अनुभव न कर पाने पर भी भौतिक द्रव्य (जड़ पदार्थ) और अमूर्त प्रत्ययों की सत्ता को स्वीकार कर लेते है। बर्कले नास्तिकवाद के खण्डन हेतु जड़ पदार्थ की सत्ता का खंडन करते हैं।

बर्कले भौतिक पदार्थ के खंडन हेतु निम्नलिखित तर्क देते हैं -

1. प्राथमिक एवं गौण गुणों के भेद का खण्डन (Refutation of difference between Primary and Secondary Qualities) : लॉक ने प्राथमिक एवं गौण गुणों में भेद माना था। वे प्राथमिक गुण को वस्तुनिष्ठ और गौण गुण को आत्मनिष्ठ मानते हैं। लॉक ने मूल रूप से प्राथमिक गुणों के आश्रय के रूप में जड़ तत्व की सत्ता को माना था। कर्बले के अनुसार प्राथमिक गुण और गौण गुण का भेद युक्तिसंगत नहीं है। वे इस भेद का खण्डन करते हैं। बर्कले प्राथमिक गुणों के संदर्भ में लॉक की अवधारणा से सहमत नहीं है। बर्कले इसके लिए निम्न तर्क देते हैं-

– जिस प्रकार गौण गुण इन्द्रियों द्वारा जाने जाते हैं, उसी प्रकार प्राथमिक गुण भी इन्द्रियगम्य हैं। जैसे- रंग का ज्ञान आंखों के बिना संभव नहीं है, उसी प्रकार ठोसपन का ज्ञान त्वाचिक स्पर्श के बिना संभव नहीं है। स्पष्ट है कि प्राथमिक गुण भी गौण गुणों के समान इन्द्रियों पर निर्भर रहने के कारण द्रष्टा पर आश्रित रहते हैं। वस्तुतः हमारे मन में प्राथमिक गुणों के वैसे ही प्रत्यय बनते हैं जैसे गौण गुणों के बनते हैं।

– प्राथमिक एवं गौण गुण दोनों अन्तः संबंधित है, अवियोज्य है, परस्पर निर्भर है। जैसे-बिना रंग, स्पर्श के विस्तार नहीं हो सकता। पुनः विस्तार भी रंगविहीन, रूपविहीन, स्पर्शविहीन नहीं हो सकता है।

– बर्कले के अनुसार गौण गुणों की भांति प्राथमिक गुण भी परिवर्तनशील हैं, आत्मनिष्ठ हैं। दोनों में स्वरूपगत भेद नहीं है। दोनों ज्ञाता सापेक्ष है। उदाहरणस्वरूप एक ही जहाज नजदीक से देखने पर बड़ा दिखाई देता है और दूर से देखने पर छोटा प्रतीत होता है। स्पष्ट है कि विस्तार, गति आदि भी ज्ञाता सापेक्ष है।

वस्तुत: प्राथमिक और गौण गुण दोनों मनाश्रित हैं, समजातीय हैं। अत: बर्कले के अनुसार सारे गुणों को गौण गुण ही कहना चाहिए। जैसे स्वाद, स्पर्श आदि आत्मनिष्ठ हैं, उसी प्रकार विस्तार, मति आदि भी आत्मनिष्ठ हैं। चूंकि ज्ञाता से पृथक एवं स्वतंत्र किसी गुण की सत्ता नहीं है। अत: प्राथमिक गुणों के अधिष्ठान के रूप में भौतिक वस्तु की सत्ता को मानने का कोई तार्किक आधार नहीं है। यहां बर्कले यह कहते हैं कि "पहले हम धूल उड़ाते हैं और फिर हम यह कहते हैं कि हमें कुछ दिखाई नहीं देता।"

2. प्रत्यक्ष से नहीं : बर्कले के अनुसार वस्तु की स्वतंत्र सत्ता का हमें कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। अत: उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं किया।

3. अनुमान से भी जड़ द्रव्य की सत्ता सिद्ध नहीं होती है। अनुमान के लिए पहले प्रत्यक्ष का होना आवश्यक है। प्रत्यक्ष से हमें केवल प्रत्यय मिलते हैं। ये प्रत्यय मानसिक है। अत: इन मानसिक प्रत्ययों के आधार पर भौतिक वस्तुओं की सत्ता को अनुमानित नहीं किया जा सकता।

4. कारण-कार्य संबंध नहीं : लॉक ने जड़ द्रव्यों को प्राथमिक गुणों के कारण माना था और इस प्रकार कारणता सिद्धांत के आधार पर वे भौतिक पदार्थ की सत्ता सिद्ध करते हैं। बर्कले के अनुसार भौतिक वस्तुएं प्रत्ययों का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि भौतिक वस्तुएं निष्क्रिय हैं, जड़ है। कोई सक्रिय सत्ता ही प्रत्ययों का कारण हो सकती है। पुन: अनुभव का विषय होने के कारण प्रत्यय मानसिक है, अत: इन चेतन प्रत्ययों का कारण या आधार कोई चेतन तत्व ही हो सकता है कोई अचेतन जड़ पदार्थ नहीं।

5. अनवस्था दोष : यदि प्रत्ययों के आधार या कारण के रूप में बाह्य वस्तु की सत्ता को अनुमानित किया जाए तो उस बाह्य वस्तु के आधार के रूप में भी किसी अन्य रूप की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार इस संदर्भ में अनवस्था दोष की उत्पत्ति हो जाती है।

6. अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन (Refutation of Abstract Ideas):

– अमूर्त्त प्रत्ययों का खण्डन क्यों ? : भौतिकवाद का खण्डन और आध्यात्मवाद की स्थापना हेतु बर्कले लॉक द्वारा प्रतिपादित अमूर्त प्रत्ययों की अवधारणा का खंडन करते हैं। उल्लेखनीय है कि लॉक ने आत्मा की छ: शक्तियों स्वीकार की थी जिसमें से अंतिम शक्ति अमूर्तिकरण एवं नामकरण के आधार पर उन्होंने जड़तत्व की सत्ता को स्वीकार किया था। लॉक यद्यपि जन्मजात प्रत्ययों का खण्डन करते हैं परंतु वे अमूर्त प्रत्ययों की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार अमूर्त प्रत्ययों का मानवीय चिंतन में महत्वपूर्ण भूमिका है। इसी से भाषा में प्रयुक्त होने वाली जातिवाचक और भाववाचक संज्ञाओं की व्याख्या होती है। पुन: इसी कारण मनुष्य पशु से श्रेष्ठ श्रेणी में स्थापित होता है।

– अमूर्त प्रत्यय क्या है? : किसी भी सामान्य या जाति के विचार को जो उस संपूर्ण वर्ग-विशेष का सार हो, उसे अमूर्त प्रत्यय कहते हैं। जैसे-मनुष्यत्व। यहां लॉक का यह कहना है कि यद्यपि अनुभव के माध्यम से गुण प्राप्त होते हैं, परंतु उन गुणों के आश्रय के रूप में जड़ द्रव्य या जड़ सामान्य की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रकार जड़ द्रव्यों की स्वीकृति एक प्रकार से अमूर्त प्रत्ययों की स्वीकृति का परिणाम है।

– कैसे खण्डन? : बर्कले के अनुसार अमूर्त प्रत्यय असंभव है। हमारी बुद्धि में कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो विशेषों को ग्रहण कर सामान्यों का निर्माण करे। बर्कले के अनुसार समस्त प्रत्यय विशेष एवं मूर्त ही होते हैं। हमें अनुभव से विशेषों का ही ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे जब भी हम मनुष्य की कल्पना करेंगे, उसमें कुछ न कुछ विशेषताएं अवश्य आयेंगी।

जैसे- उसका रंग, रूप, आकार आदि। हम कभी भी सामान्य मनुष्य की कल्पना नहीं कर सकते। इसका आशय है कि अमूर्त प्रत्यय संभव नहीं। अमूर्तबोधयन एक असंगत प्रक्रिया है। अमूर्त प्रत्यय का सत्तात्मक आधार नहीं होता। अतः अमूर्त प्रत्ययों के आधार पर जड़ द्रव्यों की सत्ता को नहीं माना जा सकता।

7. अनुपयोगी : बर्कले के अनुसार जड़ पदार्थ की सत्ता को मानना जीवन के लिए अनुपयोगी है। इससे नास्तिकता एवं भौतिकवाद को बढ़ावा मिलता है तथा आध्यात्मिकता का खण्डन होता है।

यहां बर्कले का यह कहना है कि प्रत्यय काल्पनिक नहीं है और न ही वे हमारी आत्मा की रचना हैं। वास्तव में प्रत्यय मन के साक्षात् विषय-वस्तु है जिनका मूल ईश्वर में निहित है। मन और प्रत्यय में ज्ञाता-ज्ञेय संबंध नहीं है। इन प्रत्ययों का रचयिता ईश्वर है। वस्तुएं इन्हीं प्रत्ययों का संगठन है जोकि संवेदनीय गुण है। इन गुणों के आधार के रूप में किसी बाह्य जड़ पदार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। बर्कले के अनुसार यहां जड़त्व के खण्डन का अर्थ किसी भी वस्तु का खण्डन करना नहीं है। वस्तुएं प्रत्ययों के संघात (combination) हैं। उदाहरणस्वरूप-टेबल ठोसपन, विस्तार, आकार आदि प्रत्ययों का संधाात है। इन प्रत्ययों के अधिष्ठान के रूप में किसी जड़तत्व की सत्ता नहीं है।

इस प्रकार, बर्कले के अनुसार भौतिक पदार्थ अनुभूत विषय नहीं है। इसलिए हमें भौतिक पदार्थ की धारणा को छोड़कर अनुभूत विषय को अपनाना चाहिए। प्रत्यय अनुभव की ईकाई हैं। परंतु इन प्रत्ययों का कोई आधार, कोई अनुभवकर्ता अवश्य होना चाहिए। बर्कले ने प्रत्ययों के सीमित आधार के रूप में आत्मा तथा स्थायी एवं असीमित आधार के रूप में परमात्मा (ईश्वर) की सत्ता स्वीकार की है। ये सभी आध्यात्मिक सजाएं हैं। अतः आध्यात्मवाद ही एकमात्र युक्तिसंगत सिद्धांत है। इस प्रकार बर्कले लॉक के अनुभववाद का विकास प्रत्ययवाद (Idealism) में कर देते हैं।

अमूर्त प्रत्ययों का खंडन

पूर्ववर्ती आधुनिक दार्शनिकों के व्यवहार के अनुरूप बर्कले ने प्रन्सिपल ऑफ ह्यूमन नॉलिज का आरम्भ अतीत की झूठी अवधारणाओं के निराकरण से किया। लॉक ने सहज विचारों को निरस्त किया था और बर्कले ने, अनुभववाद को आगे बढ़ाते हुए अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन किया। लॉक ने कहा कि केवल विशेष वस्तुओं का ही अस्तित्व है। फिर वे कहते हैं कि इन वस्तुओं की एक दूसरे के साथ तुलना करके सामान्य गुण जैसे 'विस्तार', 'रंग', 'गति, मानव', जानवर आदि को प्राप्त किया जा सकता है। लॉक विविध गुणों और भौतिक वस्तुओं को एक साथ बाँधे रखने वाले एक आधार का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। यद्यपि उनका मानना था कि ऐसे आधार का प्रत्यक्ष अनुभव संभव नहीं है और न ही इस आधार तत्व के स्वरूप और इसमें उपस्थित हमारे अनुभव के प्रत्ययों के सत्स संबंधों को खोजा जा सकता है। बर्कले जोर देकर कहते है कि हम किसी भी तरह के अमूर्त प्रत्ययों का कभी अनुभव नहीं कर सकते हैं, और शब्द, जिसके द्वारा अमूर्त प्रत्ययों को निर्देशित किया जाता है, केवल नाम है क्योंकि वहाँ वास्तव में उनके अनुरूप कुछ भी नहीं है।

बर्कले ऐसे दार्शनिकों से क्षुब्ध थे जो वैज्ञानिकों के साथ मिलकर सरल वस्तुओं को कठिन बनाकर सामान्य लोगों में यह कर कि प्रत्यक्ष वास्तविकता को पकड़ने का प्रमाणिक

ढ़ंग नहीं है बल्कि उसे सार्वभौमिक अवधारणाओं की अंर्तदृष्टि द्वारा ही जाना जा सकता है संदेह उत्पन्न करते थे। इस प्रकार के मत से ज्ञान की निश्चितता के प्रति संदेह उत्पन्न हुआ और इसने संदेहवाद को जन्म दिया।

प्रचलित विज्ञान के द्वारा सत्य को जानने के बुद्धिवादी दृष्टिकोण पर बल देने से और लॉक के अज्ञेय द्रव्य के विचारों ने बर्कले को उकसाया। बर्कले नैतिकता व धर्म के कट्टर रक्षक थे। विज्ञान के देकार्तिय ढ़ग में विज्ञान निश्चित ज्ञान प्राप्त कराने में इन्द्रियों की दक्षता का विरोध करता है और इस तरह वैज्ञानिक नियम बुद्धि को सत्य प्राप्ति के एक मात्र साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। बर्कले ने इस विचार के प्रति पूर्णत: असहमति व्यक्त की और तर्क दिया कि वैज्ञानिक स्वयं अनुभविक विधि का प्रयोग करते हैं और फिर भी निरन्तर उसके प्रति असंतोष व्यक्त करते हैं। वह कहते हैं कि प्रत्यक्ष और सत्य के अपने बोध से वह (वैज्ञानिक) इन्द्रिय जगत द्वारा धारित निश्चित प्रत्यक्ष और असत्य की खोज के लिये अग्रसर होते हैं। इस अवस्था में, वास्तव में, वे अप्रत्यक्ष और असत्य के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, और प्रत्यक्ष और सत्य के अस्तित्व की वास्तविकता, जिसके बोध से वे प्रारम्भ करते हैं, को नकारते हैं और इस प्रकार विरोधाभास को जन्म देते है। बर्कले वैज्ञानिकों के बुद्धिवादी दृष्टिकोण का विरोध करते हैं क्योंकि निरिक्षण के बिना भौतिक विज्ञान का अस्तित्व असम्भव है। बर्कले सन्देहवादीयों और नास्तिकों द्वारा धर्म और नैतिकता को पहुंचाई गयी हानी को अमूर्त प्रत्यय और भौतिक पदार्थ संबंधी विश्वासों में असंगति दिखाकर दूर करना चाहते थे। ह्यूम ने बर्कले के द्वारा अमूर्त प्रत्यय के विचार के खण्डन को उस समय के बौद्धिक जगत की सबसे बड़ी और सबसे महत्वपूर्ण खोजों में से एक खोज माना है। स्वयं बर्कले ने अपने अमूर्त प्रत्यय के खण्डन को अभौतिकवाद के समर्थन में एक महत्वपूर्ण घटक के रूप से इसलिये स्वीकार किया क्योंकि यदि हम (अदृश्य वस्तुओं में विश्वास का) व्यापक रूप से परीक्षण करें तो स्पष्ट होता है कि इसके मूल में अमूर्त प्रत्यय का सिद्धांत ही कार्य करता है।

बर्कले दो लक्ष्यों, तत्कालिक लक्ष्य व दूरस्थ लक्ष्य से संचालित थे। तत्कालिक लक्ष्य लॉक के निर्धार्य अथवा सामान्य वस्तुओं, जैसे किसी विशिष्ट लाल रंग, के विपरीत सामान्य लाल रंग, अथवा समकोण त्रिभुज व समबाहु त्रिभुज के विपरीत सामान्य त्रिभुज का खण्डन करना था। उनका दूरस्थ लक्ष्य किसी भी प्रकार के सामान्य प्रत्यय के सिद्धांत का खण्डन करना था। बर्कले मूल रूप से विशेष प्रत्यय को स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। इस विचार के अनुसार, ऐसी वस्तुएं जो हमारे मन में या बाहर रहती हैं विशिष्ट होती हैं। ऐसा करने के पीछे उनका उद्देश्य स्कालिस्टिक तत्वमीमांसा में किसी न किसी ढ़ंग से महत्वपूर्ण रही सामान्य की शाश्वत समस्याओं से अपने दर्शन को बाहर निकालना था। बर्कले ने घोषणा की कि न केवल आकारों, प्रजातियों अथवा सामान्यों का अस्तित्व नहीं होता है बल्कि स्वयं प्रत्यय भी शुद्ध रूप से विशिष्ट होते हैं। बर्कले के अनुसार, लॉक ने भी विशिष्टतावादी सिद्धांत, उदाहरण के लिये, लाल के प्रत्यय को लेकर एक दुविधा में था। परिभाषानुसार लाल का प्रत्यय अपने अंदर अनेक वस्तुओं को अंतर्निहित किये रहता है, अत: यह विशिष्ट हो ही नहीं सकता। इस संबंध में लॉक का प्रत्युत्तर है कि "सामान्य प्रत्ययों के प्रतिकों से निर्मित होने के कारण शब्द (लाल) सामान्य हो जाते हैं।" उन्होंने सभी मानसिक विषयों, प्रत्यय सहित, को एक साथ रखकर प्रत्यय का निर्माण किया और प्रत्यय को मानसिक चित्र के रूप में समझा। अधिक स्पष्ट शब्दों में, मानसिक चित्र स्पष्टत: विशिष्ट है, किन्तु विशेष सामान्य प्रत्यय जैसे कि लाल या त्रिभुज को समाहित करने में सक्षम नहीं है। बर्कले के अनुसार, लॉक की इस संबंध में

व्याख्या यह है कि इस प्रकार के चित्र में अपरिभाष्यता का गुण होता है। 'क्या त्रिभुज के सामान्य प्रत्यय को बनाने में कौशल और कठिन क्रिया की आवश्यकता नहीं होती..... क्योंकि यह प्रत्यय न तो आयत होना चाहिए न समबाहु और न ही चतुर्भुज होना चाहिए वरन् इसे सब कुछ होना चाहिए किन्तु किसी एक को सब कुछ नहीं होना चाहिए। वास्तव में, यह अपूर्ण है जिसका अस्तित्व नहीं हो सकता है। यह एक ऐसा प्रत्यय है जहाँ अनेक विभिन्न और असंगत प्रत्यय एक साथ रखे होते हैं। इसलिए इसमें एक प्रकार की अंतर्निहित अपरिभाष्यता दो ढ़ंगों से चली आती है। एक और त्रिभुज का चित्र विषमबाहु त्रिभुज या समबाहु त्रिभुज से पृथक एक त्रिभुज है और दूसरी ओर यह इन सब विरोधी गुणों के साथ एक त्रिभुज है। इस प्रकार, विशेष विषय-चित्र सभी विशिष्ट आकारों का अपर्वजन करता है और साथ ही साथ यह विशिष्ट आकारों का अध्यारोपित रूप भी है। इस पर बर्कले की आपत्ति यह है कि विशेष आकार से हटकर कोई अनिर्धारित विशेष नहीं होते और न ही विभिन्न विरोधी आकारों वाला कोई सामान्य प्रत्यय होता है। इस प्रकार, लॉक का चित्रवाद को आंतरिक सामान्यता से संयुक्त करने का प्रयास विफल रहता है।

और अधिक स्पष्ट शब्दों में, बर्कले के अनुसार देश अथवा शुद्ध विस्तार जिसमें से न कोई रेखा, न कोई सतह, न कोई ठोसता का प्रत्यक्ष एक असम्भव घटना है और हम ऐसे किसी प्रत्यय का निर्माण नहीं कर सकते। ऐसे त्रिभुज के प्रत्यय का जो न समबाहु, न विषमबाहु न आयत और न ही समान्तर हो फिर भी सब हो और न इनमें से कोई एक हो अबोधगम्य है। त्रिभुज की परिभाषा, 'तीन रेखाओं वाला समतल' सभी विशिष्ट त्रिभुजों की विशिष्टताओं को नकार सभी त्रिभुजों पर लागू होती है किंतु इससे यह बिल्कुल भी आपादित नहीं होता है कि हमारे पास त्रिभुज का एक सामान्य अमूर्त प्रत्यय होता है। समान रूप से किसी रंग के अमूर्त प्रत्यय का निर्माण असम्भव है। संक्षेप में, सामान्य अमूर्त प्रत्यय एक असम्भव घटना है।

अनुभववाद का कडाई से पालन करते हुए बर्कले ने अमूर्त प्रत्यय को पूर्णतः निरस्त कर दिया। वह कहते हैं कि विभिन्न विशेष वस्तुओं के लिये किसी एक सामान्य प्रत्यय का निरूपण करना एक नाम मात्र प्रदान करना है। सामान्य प्रत्यय किसी तथ्य का वर्णन नहीं करता है। वह अपने इस सिद्धांत को नामवाद कहते हैं। नामवाद के अनुसार, अमूर्त प्रत्यय अथवा सामान्य प्रत्यय केवल नाम मात्र है। ऐसे शब्दों का प्रयोग करना जिनके अनुरूप कोई वास्तविक अनुभव न हो केवल शब्दों को यर्थाथ सत् के साथ मिलकर भ्रम उत्पन्न करना है। वह कहते हैं कि केवल प्रत्ययों पर ध्यान लगाने से ही हम भटकाव से बच सकते हैं।

ईश्वर (God)

बर्कले के दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है- (1) भौतिकवाद के स्थान पर आध्यात्मवाद की स्थापना और (2) अनिश्वरवाद के स्थान पर ईश्वरवाद की स्थापना। बर्कले आध्यात्मवाद की स्थापना के लिये अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन करते हुए जड़ द्रव्य का खण्डन करते हैं और तत्पश्चात् ईश्वर के स्वरूप और सत्ता पर विचार करते हैं। ईश्वर की सत्ता के संदर्भ में बर्कले का कथन है- "यदि हम प्रकृति की नियमितता, व्यवस्था और अपार सुदंरता को देखें और यह जानने का प्रयत्न करें कि नित्य, शिव, पूर्ण, सौन्दर्य आदि शब्दों से किन गुणों का परिचय मिलता है तो हमें स्पष्ट ज्ञान होगा कि एक सर्वोपरि आत्मा (ईश्वर) है, जिसके द्वारा सब कुछ संचालित है और जो सबके अस्तित्व का कारण है।"

बर्कले के मत में केवल आत्माओं और उनके प्रत्ययों की ही वास्तविक सत्ता है। भौतिक पदार्थ वास्तविक नहीं है, क्योंकि वे अनुभूत नहीं होते। बर्कले के अनुसार आत्माएं दो तरह ही हैं- ससीम और असीम। ससीम आत्माएं अनेक और सीमित हैं। ईश्वर एक, असीम, सर्वशक्तिमान एवं पूर्णत: सक्रिय आत्मा है। सर्वशक्तिमान होने के कारण ईश्वर कही वास्तव में सभी प्रत्ययों की उत्पादक शक्ति है तथा अनन्त सक्रियता से युक्त होने के कारण वह इन प्रत्ययों का सतत् रूप से प्रत्यक्ष करने वाला भी है। प्रत्यय ईश्वरीय मन में 'आदिरूप' की दशा में रहते हैं। जिसे हम साधारणत: वस्तु समझते हैं वे ईश्वरीय मन के प्रत्यय हैं। यह ईश्वर ही प्रत्यय जगत का निमित्त एवं उपादान कारण दोनों है।

ईश्वर के अस्तित्वसिद्धि के तर्क

1. कारण-कार्य मूलक तर्क (Causal Argument) : इस प्रमाण के अनुसार प्रत्यय सकारण हैं। हम अपने सामान्य अनुभव में प्रत्ययों का अनुभव करते हैं। ये प्रत्यय बिना कारण के उत्पन्न नहीं हो सकते। इन प्रत्ययों के चार संभावित कारण हो सकते हैं- 1. प्रत्यय 2. जड़तत्व, 3. जीवात्मा, 4. ईश्वर।

– प्रत्यय स्वयं निष्क्रिय एवं कार्यरूप हैं। अत: वे हमारे अनुभूत प्रत्ययों के कारण नहीं हो सकते। पुन: यदि प्रत्ययों को ही प्रत्ययों का कारण माना जाए तो फिर अनावस्था दोष की उत्पत्ति हो जायेगी।

– जड़तत्व भी प्रत्ययों का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि बर्कले के अनुसार जड़तत्वों का अस्तित्व ही नहीं है।

– जीवात्मायें भी प्रत्ययों का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि जीवात्मा इन इन्द्रिय संवेदन रूप प्रत्ययों को ग्रहण करती है, इन्हें उत्पन्न नहीं करती। ये प्रत्यय जीवात्मा की इच्छा या संकल्प पर निर्भर नहीं होते।

– विज्ञानों में एक निश्चित क्रम और एकतंत्रता पायी जाती है। ये विज्ञान किसी एक आत्मा में उत्पन्न न होकर, सभी जीवात्माओं में समान रूप से उत्पन्न होते हैं। अत: इन संवेदनाओं या प्रत्ययों का कारण एवं स्रष्टा केवल अनन्त शक्तिमान ईश्वर ही हो सकता है। अत: ईश्वर का अस्तित्व है। यह विश्वास अंधविश्वास नहीं है, यत तर्कसंगत एवं अंतर्बोध (notion) का विश्वास है।

2. प्रयोजनमूलक युक्ति (Teleological Argument) : इस प्रत्यय रूपी जगत का प्रयोजन कारण ईश्वर है। बर्कले के अनुसार इस जगत में एक अनुपम व्यवस्था, क्रम, संतुलन आदि दिखलायी देता है। यह जगत एक व्यवस्थित जगत है। अर्थात् इसमें प्रत्ययों का एक निश्चित क्रम होता है। ये मूलत: हमारे ऊपर निर्भर नहीं है। इस प्रकार की व्यवस्था साधारण बुद्धि का कार्य नहीं हो सकता। इसका आधार कोई असीमित बुद्धि है। यही ईश्वर है। संक्षेप, प्रकृति की सुसंगत और एकरूप रचना एक अनन्त बुद्धि या असीमित आत्मा (ईश्वर) का अस्तित्व सिद्ध करती है।

3. सतत् प्रत्यक्षण प्रमाण (Constant Perception Argument) : जिन प्रत्ययों का अनुभव मुझे एवं अन्य आत्माओं को नहीं हो रहा है, उसका अनुभव ईश्वर को होता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ईश्वर का अस्तित्व है। बर्कले की प्रसिद्ध युक्ति है 'सत्ता दृश्यता है।' अनुभव में प्रत्यय मिलते हैं। जड़ पदार्थों का अनुभव कभी नहीं होता।

4. अनुमान प्रमाण (Hypothesis) : बर्कले प्रकृति के माध्यम से भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। बर्कले के अनुसार यद्यपि ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता, परंतु मैं अपनी इन्द्रियों से ऐसे संकेतों, चिह्नों, कार्यों और व्यापारों को देखता हूं जो एक अदुश्य ईश्वर को संकेतित एवं सिद्ध करते हैं। प्रकृति की वस्तु और नियम ईश्वर की भाषा है। बर्कले प्रकृति को एक दृश्य भाषा मानते हैं। इससे ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

5. साम्यानुमान (Analogy) : बर्कले के अनुसार जिस प्रकार रंग, रूप, आकार आदि इन्द्रिय संवेदन पुन्जों को देखकर आत्मा का अनुमान करते हैं, उसी प्रकार संपूर्ण प्रकृति के दृश्यपुंजों को देखकर ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

बर्कले के अनुसार ईश्वर का ज्ञान निम्नवत् होता है–

– मेरे अंदर अनेक प्रत्यय उत्पन्न होते रहते हैं। इन पर मेरा कोई अधिकार नहीं रहता। भौतिक पदार्थ या कोई अन्य प्रत्यय इनका उत्पादक नहीं हो सकता क्योंकि ये निष्क्रिय है। कोई सक्रिय सत्ता ही इनका वास्तविक उत्पादक हो सकता है। अन्य ससीम आत्माएं भी ये प्रत्यय उत्पन्न नहीं कर सकती। सीमित आत्माओं की रचनाओं में इतनी स्थिरता और व्यापकता नहीं आ सकती। अतः असीम ईश्वर ही सभी प्रत्ययों का उत्पादक है।

– ईश्वरीय मन की सक्रियता और सृजनशीलता में विश्वास तब और दृढ़ हो जाता है जब हम सृष्टि के सौंदर्य, उसकी विशालता और आश्चर्यजनक सामंजस्य को देखते हैं। ईश्वर ही हमारे अंदर व्यवस्थित और नियमित प्रत्ययों को उत्पन्न करता रहता है।

समालोचना :

1. बर्कले ने ईश्वर के अस्तित्व को प्रत्ययों के उत्पादक के रूप में प्रस्तुत किया है। परंतु प्रत्ययों को उन्होंने निष्क्रिय माना है। ऐसे निष्क्रिय प्रत्ययों के उत्पादक के रूप में इसके विपरीत सारगुण वाला सक्रिय ईश्वर को नहीं माना जा सकता।

2. ईश्वरीय प्रत्यय और मानवीय प्रत्यय में प्रकारगत भेद है। बर्कले ने ईश्वरीय प्रत्यय को ही वस्तु कहा है, क्योंकि मानवीय प्रत्ययों के आधार पर वस्तुओं की वस्तुनिष्ठता, स्वामित्व और क्रमबद्धता का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। ईश्वरीय प्रत्यय शाश्वत, कालातीत, तथा शुद्ध आदिरूप में पाए जाते हैं। ससीम मानव उस प्रकार के इन्द्रियातीत प्रत्ययों को नहीं जान सकता। जब भी कोई व्यक्ति ईश्वरीय प्रत्यय को जानेगा तो वह मानवीय प्रत्यय ही होगा, न कि ईश्वरीय। अतः यदि ईश्वरीय प्रत्यय है भी तो मानव उन्हें ईश्वरीय रूप में नहीं जान सकता।

3. ईश्वर जीवात्मा और प्रत्ययों की उत्पत्ति किस प्रकार करता है, इनकी उत्पत्ति में क्या समानता है या विभिन्नता है, ये सब कुछ ईश्वर ही है तो फिर जीवात्माओं और जगत की आवश्यकता क्या है? ऐसे प्रश्नों का उत्तर बर्कले के दर्शन में नहीं मिल पाता।

4. ह्यूम के अनुसार बर्कले जिस आधार पर लॉक के जड़तत्व की अवधारणा का खण्डन किया है, उसी आधार पर वे ईश्वर की धारणा को स्थापित करते हैं। वे जड़त्व का प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण उसका खंडन करते हैं, परंतु दूसरी ओर वे प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी ईश्वर की सत्ता मान लेते हैं। बर्कले ईश्वरीय ज्ञान को बोध (notion) कहते हैं, परंतु ये बोध क्या है और बोध और प्रत्यक्ष में क्या अंतर है, बर्कले इस संबंध में कोई स्पष्टीकरण नहीं देते। ह्यूम के अनुसार जिस प्रकार अनुभवगम्य न होने के कारण जड़त्व के अस्तित्व को नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार, उसी आधार पर आत्मा औरर ईश्वर के अस्तित्व पर भी प्रश्नचिह्न खड़ा किया जा सकता है।

चूंकि अनुभव केवल प्रत्ययों का होता है, अत: केवल प्रत्यय ही वास्तविक है। प्रत्ययों के अलावा किसी भी भौतिक या आध्यात्मिक द्रव्य को स्वीकार करना उचित नहीं है। जिस प्रकार जड़ द्रव्य प्रत्ययों का समूह है, उसी प्रकार मन भी प्रत्ययों का समूह (Bundle of Ideas) मात्र है।

आत्मा की अवधारणा

बर्कले के दर्शन में आत्मा की अवधारणा एक सक्रिय तथा अभौतिक तत्त्व के रूप में की गयी है। यही समस्त ज्ञान का अधिष्ठान है। बर्कले इसे ज्ञाता, मन (Mind), आत्मा (Soul), मनौविज्ञानिक जीवन (Empirical ego), आदि नाम देता है। उसके अनुसार ज्ञान का स्वरूप और क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। संकल्प, कल्पना, स्मरण, चिंतन आदि ज्ञान के ही विविध रूप हैं। ये सब एक ज्ञाता की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार हमारी स्मृतियाँ, कल्पनाएँ, चिंतन, संकल्प आदि निराधार नहीं हो सकता हैं। बर्कले के अनुसार निष्क्रिय जड़तत्त्व को चेतन संवेदनाओं का कारण नहीं माना जा सकता है क्योंकि वह कर्त्तव्य की क्षमता से रहित होता है। प्रत्यय स्वत: अपना कारण नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्यय भी निष्क्रिय होते हैं। एक निष्क्रिय प्रत्यय दूसरे निष्क्रिय प्रत्यय का कारण कैसे हो सकता है? इसका निहितार्थ (Implication), यह है कि इन प्रत्ययों का कारण कोई चेतन, अभौतिक एवं सक्रिय द्रव्य होना चाहिए। यह चेतन एवं सक्रिय द्रव्य आत्मा है। दूसरे शब्दों में, आत्मा सक्रिय एवं अभौतिक द्रव्य है। इसके विपरीत प्रत्यय निष्क्रिय एवं पराश्रित हैं। उनकी सत्ता आध्यात्मिक द्रव्यों पर निर्भर है।

आत्मज्ञान प्रत्ययात्मक नहीं है क्योंकि आत्मा अनुभव का विषय (प्रत्यय) नहीं है, बल्कि वह प्रत्ययों का सक्रिय ज्ञाता है। इसका ज्ञान **अंतर्बोध (Nation)** से होता है। आत्मा ही प्रत्ययों का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। एक प्रत्यय, दूसरे प्रत्यय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है, जैसे– स्पर्श का प्रत्यय, गंध के प्रत्यय का अथवा रंग का प्रत्यय, स्वाद के प्रत्यय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है, इससे सिद्ध होता है कि आत्मा इन सभी प्रत्ययों से भिन्न एक अलग सत्ता है। डेकार्ट और लॉक के समान बर्कले भी आत्मज्ञान को साक्षात् (immediate) और प्रज्ञात्मक (intuitive) रूप से बोधगम्य मानता है। उल्लेखनीय है कि **ह्यूम और विज्ञानवादी बौद्धों** ने आत्मा को प्रत्ययों का पुंज अथवा परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों का संघात माना है। किन्तु बर्कले इससे असहमत है। उसके अनुसार दो प्रत्ययों अथवा अनुभूतियों की तुलना करने के लिए उनसे भिन्न सत्ता की आवश्यकता होती है। यही सत्ता आत्मा है। आत्मा एक नित्य चेतन तत्त्व है। यह चैतन्य ही उसकी पहचान का मुख्य आधार है। चूँकि आत्मा संकल्प से युक्त है, इसलिए वह कर्ता है। उसकी पहचान ज्ञाता होने के साथ-साथ उसके संकल्प एवं सक्रियता से भी है। इस दृष्टि से ज्ञाता होने के साथ-साथ कर्ता होना भी आत्मा का एक प्रमुख लक्षण है। बर्कले के अनुसार यद्यपि आत्मा सीमित है, तथापि वह मृत्यु से रहित है। किन्तु **ईसाई धर्म** से प्रभावित होने के कारण बिशप बर्कले ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानता है। अत: वह ईसाई धर्म के मताग्रहों से बच नहीं पाता है। वह कहता है– 'असीम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं सृष्टिकर्ता परमात्मा (ईश्वर) सीमित आत्मा को नष्ट कर सकता है।

बर्कले ने **अन्य आत्माओं के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है।** इसके लिए वह अनुमान का सहारा लेता है। यदि 'सत्ता दृश्यता है और 'दृश्यता' आत्मा पर आश्रित है, तो प्रश्न यह है कि क्या प्राकृतिक जगत् भी सीमित जीवात्मा पर आश्रित है? दूसरे शब्दों में, यदि मैं और मेरे प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है तो क्या इससे बर्कले आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी

नहीं हो जाता है? इस आक्षेप का निराकरण करने के लिए बर्कले ईश्वर के साथ-साथ अन्य आत्माओं का सहारा लेता है। **वह कहता है कि हमें अपनी आत्मा का अनुभव तो अंतर्बोध से होता है, किन्तु आत्माओं का ज्ञान अनुमान के द्वारा ही हो सकता है।** उसके अनुसार मेरी आत्मा के साथ-साथ अन्य आत्माएँ भी हैं क्योंकि सभी प्रत्ययों को अकेले मैं ही नहीं उत्पन्न कर सकता हूँ। विश्व में प्रतीत होने वाली अनेक गतियों परिवर्तनों और प्रत्यय-समूहों का प्रत्यक्ष करने में मैं यह अनुमान करता हूँ कि मेरे सदृश कुछ अन्य सीमित आत्माएँ भी होनी चाहिए, जो इन प्रत्यय-समूहों में से कुछ को उत्पन्न करते हैं एवं कुछ के प्रत्यक्षकर्ता हैं; क्योंकि इन समस्त प्रत्ययों को न तो केवल मैं उत्पन्न करता हूँ और न केवल मैं उनका प्रत्यक्षकर्ता हूँ।

इसके अतिरिक्त जब मैं समाज में रहता हूँ तो अन्य आत्माओं का ज्ञान होता है। अन्य लागों का रूप, रंग, आचार-विचार इत्यादि का अनुभव एक प्रकार से मेरे अपने मन के प्रत्ययों का ही प्रत्यक्ष है। वस्तुतः अन्य लोग भी मेरे ही समान सीमित (अपूर्ण) अन्य लोगों (आत्माओं) के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं। **अन्य मनस् के अस्तित्व की सिद्धि के लिए बर्कले के द्वारा दी गई यह युक्ति एक प्रकार का साम्यानुमान** (Argument from analogy) है। बर्कले अन्य लोगों के अस्तित्व को उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा के आधार पर भी सिद्ध करने का प्रयास करता है। उनके आचार-विचार, रूप-रंग आदि के साथ-साथ उनसे वार्तालाप करना और उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा आदि भी अन्य आत्माओं के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि बर्कले मुख्य रूप से अनुमान के आधार पर अन्य आत्माओं के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रतिनिधिक सिद्धांत की समीक्षा (Criticism of Representative Theory of Perception)

डेकार्ट और लॉक ने प्रत्यक्ष के प्रातिनिधिक सिद्धांत को स्वीकार किया था। उनके अनुसार ज्ञान-प्रक्रिया में तीन तत्व काम करते हैं- मन, प्रत्यय और पदार्थ। मन ज्ञाता है, प्रत्यय ज्ञान के साक्षात् विषय हैं जिनके माध्यम से ज्ञेय पदार्थों को जाना जाता है। प्रत्यय पदार्थ नहीं है बल्कि वे पदार्थों की अनुकृतियां हैं। प्रत्यय पदार्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रातिनिधिक सिद्धांत के खिलाफ बर्कले की युक्तियां

1. प्रातिनिधिक सिद्धांत के खिलाफ बर्कले की मुख्य आलोचना यह है कि जब हमें वास्तविक वस्तु का कोई अनुभव ही प्राप्त नहीं है तब हम कैसे कह सकते हैं कि अमुक प्रत्यय अमुक वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है। प्रतिनिधिक सिद्धांत तभी सही हो सकता था जब प्रत्यय और पदार्थ दोनों को साक्षात् रूप से एक साथ जानकर उनमें समानता करना संभव होता। परंतु ऐसा असंभव है। लॉक और डेकार्ट ने भी माना है कि हम भौतिक पदार्थ का साक्षात् ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। अतः प्रातिनिधिक सिद्धांत और उस पर आधारित भौतिक पदार्थ की धारणा दोषपूर्ण ठहरती है।

2. बर्कले के अनुसार प्रातिनिधिक सिद्धांत ज्ञात विषय और वास्तविक विषय के बीच ज्ञानमीमांसीय द्वैत पैदा कर देता है। उसका परिणाम संशयवाद होता है क्योंकि हम केवल प्रत्यय को ही जानते हैं, वास्तविक विषय को नहीं। प्रातिनिधिक सिद्धांत में प्रत्ययों की स्थिति बाहरी पदार्थों के आभासी रूप जैसा हो जाता है। बर्कले जैसे प्रत्ययवादी को यह स्वीकार्य नहीं हो सकता।

3. लॉक और डेकॉर्ट के दर्शन में प्राथमिक गुण और गौण गुण के भेद के आधार पर भी मन से स्वतंत्र भौतिक पदार्थ की धारणा का समर्थन मिलता है। उनके अनुसार प्राथमिक गुण वस्तुनिष्ठ रूप से पदार्थों में पाए जाते हैं। परंतु बर्कले के अनुसार प्राथमिक गुण उतना ही सापेक्ष और मनाश्रित है जितना के गौण गुण। अनुभवकर्ता से अलग या स्वतंत्र रूप में किसी भी गुण का ज्ञान नहीं होता।

दृश्यते इति वृतते (Esse est percipii)

बर्कले के प्रत्ययवाद का आधारभूत सिद्धांत है- प्रत्यक्ष और अस्तित्व में तादात्म्य। किसी भी वस्तु का अस्तित्ववान होना, उसका प्रत्यक्ष किया जाना है। बर्कले की प्रसिद्ध उक्ति है- "Esse est percipii" (दृश्यते इति वर्तते)। अनुभवमूलकता सत्ता का सार है। विश्व के सभी पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए किसी ज्ञात पर निर्भर करते हैं।

बर्कले जड़ द्रव्य की अवधारणा का खण्डन कर यह कहते हैं कि वस्तुएं प्रत्यय या प्रत्ययों के संगठन मात्र हैं। प्रत्यय के लिए यह आवश्यक है किसी न किसी अनुभवकर्ता से वह संबंधित हो क्योंकि प्रत्ययों के होने का अर्थ ही है कि वे किसी के अनुभव के विषय हैं। ज्ञाता से पृथक स्वतंत्र रूप में प्रत्ययों की सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। इस संदर्भ में बर्कले यह कहते हैं कि कोई आवाज हुई- इसका आशय ही है कि कोई आवाज सुनी गई। कोई गंध हुई- इसका आशय ही है कि कोई गंध सूंघी गई। इसी प्रकार कोई वस्तु दृश्य है- इसका आशय ही है कि किसी अनुभवकर्त्ता ने उसका अनुभव किया। इसी आधार पर बर्कले यह कहते हैं कि उसी को अस्तित्ववान माना जा सकता है जो अनुभूत या अनुभवगम्य है। ऐसी सत्ता को मानना जिसका अनुभव न हो, असंगत है। बर्कले की दृष्टि से जिस मेज पर मैं लिख रहा हूं, "वह है" क्योंकि मैं उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूं। यदि मैं इस परीक्षा कक्ष से बाहर होता, तब वैसी स्थिति में अन्य आत्माएं उसका प्रत्यक्ष करती और यदि सीमित आत्माएं उसका प्रत्यक्ष नहीं कर रही है तब ईश्वर उसका प्रत्यक्ष अवश्य कर रहा होगा। चूंकि ईश्वर इन प्रत्ययों का कारण है। अत: ये प्रत्यय सभी को समान रूप से प्रदत्त है।

वस्तुओं के विषय में प्रत्यक्ष होने के संदर्भ में बाहर जो कुछ कहा जाता है वह पूर्णत: अबोधगम्य है। अत: प्रत्यक्ष करने वाले मनस् की परिधि से बाहर वस्तुओं को कोई अस्तित्व नहीं है।

द्वैतवाद, निरीश्वरवाद और संशयवाद का खण्डन

बर्कले कहते हैं कि उनका प्रत्ययवाद दर्शन के विभिन्न प्रकार के अस्पष्ट व गूढ़ प्रश्नों को समाप्त कर देता है। मानव ज्ञान को प्रत्ययों और आत्मा के ज्ञान के स्तर पर लाने के साथ-साथ बर्कले मन में उपस्थित विषय (अबोधगम्य विषयों) और मन से बाहर के विषय (वास्तविक विषयों) के मध्य के द्वैतवाद का खण्डन करते हैं। यह द्वैतवाद ही संदेह की जड़ होती है, क्योंकि हम यह कैसे जान सकते हैं कि ज्ञात (प्रत्यक्ष) वस्तुएं अज्ञात (अप्रत्यक्ष) वस्तुओं को कैसे सिद्ध कर सकती हैं। यदि रंग, आकृति, गति, विस्तार आदि मन से स्वतंत्र वस्तुओं को निर्देशित करती हैं, तो केवल प्रतीति का ही प्रत्यक्ष होता है न कि वस्तुओं के वास्तविक गुणों का। इन्द्रियों की यही अविश्वसनीयता संशयवाद को जन्म देती है और यह संदेहवाद ही प्रत्ययवादी सिद्धांत से खंडित होता है।

बर्कले कहते हैं कि द्रव्य का सिद्धांत ही निरीश्वरवाद के प्रसार के लिये उत्तरदायी है। भौतिकतावाद के खण्डन से निरीश्वरवाद का सम्पूर्ण ढांचा धराशायी हो जाता है। वह कहते हैं कि यदि स्व अस्तित्व, निष्क्रिय, अविचारित द्रव्य सभी विषयों का मूल है तब स्वाभाविक रूप से स्वतंत्रता, बौद्धिकता ओर अभिकल्प को ब्रह्माण्ड निर्माण से बाहर रखना पड़ेगा। बर्कले ने यह भी अनुभव किया कि भौतिक पदार्थ को स्थायी सत् मानने के कारण ही मूर्ती पूजा अस्तित्व में आती है। यदि सम्वेदित विषय केवल संवेदनाओं के समूह मात्र हो तो मनुष्य के लिये अपने ही प्रत्ययों की पूजा करना हास्यास्पद होगा। यदि भौतिक पदार्थ के वास्तविक सत् को उजागर कर दिया जाये तो केवल ऐसा भौतिक पदार्थ को पुर्नस्थापित करना असम्भव हो जाता है। इससे बर्कले पूर्णत: सहमत थे कि यदि पदार्थ, निरीश्वरवाद, मूर्तीपूजा और अधार्मिकता की परिकल्पनाओं को ध्वस्त कर दिया जाये तो वे बिना किसी प्रमाण के स्वत: ही नष्ट हो जाएंगे। बर्कले पूर्ण रूप से आश्वस्त थे कि अपने *दृश्यते इति वृतते* के सिद्धांत के द्वारा दार्शनिक भौतिकवाद और धार्मिक संश्यवाद कि स्थिति को उन्होंने कमजोर बना दिया है। लॉक के अनुभववाद पर खड़े होकर बर्कले इस निर्णायक बिन्दू पर पहुंचे कि मानव मन सदैव अनुभवों पर ही कार्य करता है और अमूर्त प्रत्यय किसी यर्थाथ सत्ता को निर्देशित नहीं करते। ह्यूम, जिन्होंने अनुभववाद को शीर्ष पर पहुचाया, बर्कले के बारे में कहते हैं कि बर्कले ने एक महान दार्शनिक के रूप में अपने से पूर्व के विवादास्पद मुद्दों को खण्डित किया और निश्चित किया कि सामान्य प्रत्यय विशेष प्रत्यय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है... मैं इसे सतरहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी के बौद्धिक समुदाय के दार्शनिकों में सबसे महत्वपूर्ण और मूल्यवान उपलब्धि मानता हूँ।'

बर्कले का अध्यात्मवाद तथा प्रत्ययवाद

अध्यात्मवाद के अनुसार आत्मा ही परम सत्ता है। चूँकि बर्कले के अनुसार आत्मा और उसके प्रत्यक्ष ही एकमात्र सत्ताऐं हैं, इसलिए बर्कले के दर्शन को अध्यात्मवाद कहा जा सकता है। परन्तु, इस अध्यात्मवाद की जड़ esse est percipi के सिद्धांत पर आधारित है। इसलिए इसे प्रत्ययवाद (idealism) भी कहा जा सकता है। अब बर्कले का कहना है कि समस्त विश्व प्रत्यय है और इस दृष्टिकोण से इसे प्रत्ययवाद कहा जा सकता है।

यदि सभी कुछ प्रत्यय हो और प्रत्यय से बर्कले का अर्थ प्रत्यक्ष (perception) हो तो यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि सभी वस्तुओं को प्रत्यय मानकर बर्कले ने जगत् को काल्पनिक बना दिया है। परन्तु इस आपत्ति का समाधान करते हुए बर्कले ने बताया है कि सभी प्रत्यक्ष मान लेने पर भी वास्तविकता (reality) और कल्पना (imaginary) का भेद रह जाता है। वास्तविक जगत् वह है, जिसमें स्थायी, व्यवस्थित तथा नियमानुकूल प्रत्यक्ष हों; और कल्पना वह है, जिसमें अनिश्चित, क्षणिक तथा असम्बद्ध प्रत्यक्ष हों। जब कहा जाता है कि सभी वस्तुऐं प्रत्यक्ष हैं, तब इससे इसी बात पर जोर दिया जाता है कि वही वास्तविकता है, जो हमें पूर्णतया अनुभूत हो। यदि हम अनुभूत को वास्तविक मान लें, तो यहीं पर कल्पना को पूरा स्थान नहीं देखने में आयगा। अत:, सभी वस्तुओं को प्रत्यक्ष मानने से वास्तविकता की पूरी सरंक्षा होती है।

लेकिन दूसरी विशेष आपत्ति की जा सकती है कि प्रत्यक्ष मन में रहते हैं और यदि सभी वस्तुऐं प्रत्यक्ष हों तो सभी वस्तुऐं मन की आन्तरिक दशाएँ हो जायेंगी। पर यथार्थ में हमें वस्तुऐं मन के परे और बाहर दीखती हैं, तो क्या वास्तव में वस्तुऐं मन के बाहर नहीं है? इस

आपत्ति का समाधान करते हुए बर्कले बताते हैं कि प्रत्यक्ष मन में अवश्य है, पर ये काल्पनिक न होकर वास्तविक हैं और इस अर्थ में वस्तुऐं मानव-मन से परे, स्वतन्त्र और बाहर है। जब हम वस्तुओं को मन के प्रत्यक्ष बताते हैं तब यहाँ इससे इतना ही बोध होता हे कि कोई भी प्रत्यक्ष मन के चिन्तन का विषय (object) है, न कि यह मन का गुण (attribute) या धर्म है, और न यह कि प्रत्यक्ष और मन में ज्ञेय, ज्ञाता का सम्बन्ध है। अब यह स्पष्ट है कि ज्ञेय, ज्ञाता से परे है और इस तरह वस्तुऐं भी मन से परे, स्वतन्त्र और बाहर है। अब निम्नलिखित रूप से हम वस्तुओं के बाहरीपन (externality) को समझ सकते है।

प्रत्यक्षों का बाह्यीकरयण (Externality)

(1) पहली बात है कि वस्तुऐं मन के इस अर्थ में बाहर या परे है कि ये मन के विषय या ज्ञेय पदार्थ है, जिन्हें मानव ज्ञाता जानने की कोशिश करता है। इस दृष्टिकोण से बर्कले वस्तुओं का आन्तरीकृत (internalised) न करके वास्तव में प्रत्यक्षों का बाह्यीकरण (externalisation) करते हैं। 'I am not for changing things into ideas but rather ideas into things.' (Dialogues I, p.463)

(2) फिर वस्तुऐं इस मानी में बाहर हैं कि वे व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर नहीं रहती है। यदि हम प्रकाश में अपनी आँखों को खोलें तो हम चाहें या न चाहें, जिस वस्तु का जो भी रंग होता वह हमें संवेदित होगा। उसी प्रकार से ताप, ठंड, आवाज इत्यादि हमारी इच्छाओं पर निर्भर न रहने के कारण प्रत्यक्ष स्वतंत्र तथा बाहर कहे जाते है।

(3) फिर वस्तु को इसलिए भी बाहर कहा जाता है कि वह किसी एक व्यक्ति के ही प्रत्यक्ष पर निर्भर नहीं रहती है। हो सकता है कि कोई एक वस्तु किसी एक व्यक्ति विशिष्ट के मन में न हो, पर वह अन्य व्यक्तियों के मन हो सकती है।

(4) पर विशेषतया वस्तुओं को व्यक्तियों के मन के बाहर इसलिए कहा जाता है कि वे ईश्वर के द्वारा उत्पादित की जाती है और प्रत्ययों का उत्पादक ईश्वर सभी सीमित आत्माओं और उनके मन से परे है; और इसलिए सभी वस्तुऐं मानव-मन से परे, स्वतन्त्र और बाहर है।

(5) शायद जिन वस्तुओं को मानव, प्रत्यक्ष के रूप में ग्रहण करता है वे गौण हैं, क्योंकि उनका आद्यरूप (archetypes) ईश्वर के मन में रहता है। अब चूँकि वस्तुओं का आदिरूप मानवों से बाहर और स्वतन्त्र है, इसलिए यथार्थ में वस्तुऐं हमारे मन से बाहर है।

यदि प्रत्यय ही वस्तु है तो क्या हम प्रत्यय ही पीते और खाते हैं? वास्तव में बात यही है, पर कहने की शैली मुहावरेदार होनी चाहिए। इसलिए हमें आम जनता की भाषा में बोलना चाहिए; पर हमारे विचारने की शैली पण्डित की होनी चाहिए। पर यदि प्रत्यक्ष क्षणभंगुर, परिवर्तनशील तथा अस्थायी हो, तो वस्तुऐं भी क्षण्डिक और अस्थायी ठहरेंगी। इस आपत्ति का समाधान करते हुए बर्कले बताते है; कि प्रत्यक्ष वस्तु है पर प्रश्न उठता है कि किसका प्रत्यक्ष? एक ही समय और एक ही व्यक्ति के प्रत्यक्ष को वस्तु नहीं कहा जा सकता है। ऐसा प्रत्यक्ष, जिसके हर समय होने की सम्भावना हो वही वस्तु होगा, अर्थात् जिस प्रत्यक्ष के होने की स्थायी सम्भावना (permanent possiblity) हो, वही वस्तु होगा। फिर हो सकता है कि यदि एक ही व्यक्ति में कोई अमुक प्रत्यक्ष न हो तो यह अन्य व्यक्तियों के मन में हो सकता है। जैसे, इस समय मैं घर से बाहर चला जाऊँ, तो अपने घर की मेज़ मैं देख पाऊँगा। फिर भी यदि यह मेज अन्य व्यक्तियों की प्रतीति में हो सकती है। इसलिए अन्य व्यक्तियों के मन में रहने वाले प्रत्यक्ष को वस्तु कहा जा सकता है और इस प्रकार से प्रत्यक्ष क्षणभंगुर और

इतना अस्थायी नहीं दीख पड़ेगा। परन्तु सीमित आत्माओं की चेतना सभी वस्तुओं को जारी रखने में असमर्थ हो सकती है और इसलिए वास्तव में प्रत्यक्ष, जिसे हम वस्तु समझते हैं वे ईश्वर के स्थायी, शाश्वत तथा सर्वकालीन मन में विराजते हैं और इस दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष स्थायी, शाश्वत और व्यवस्थित रहते हैं और इसी प्रकार से प्रत्यक्ष को हम वस्तु कह सकते है। अन्त में बर्कले के अनुसार प्रत्यक्ष ईश्वर के मन में आदिरूप (archetypes) की दशा में रहते हैं, जिनकी मानव-मन नकल करता है। अतः, बर्कले का संवेदनावाद प्लेटो के प्रत्ययवाद में परिणत हो जाता है।

यदि हम बर्कले की युक्तियों पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष वस्तु है, पर ये ईश्वर के मन के आदिरूपात्मक प्रत्यय हैं। इस तरह ईश्वर की शरण लेने पर ही बर्कले सिद्ध कर पाए हैं कि वस्तु का सार या तत्व उसके प्रत्यक्ष पर निर्भर करता है। पर बर्कले ने मानव-प्रत्यक्ष अथवा सम्वेदनावाद से ही अपने प्रत्ययवाद को प्रारम्भ किया था और अब हम इस निष्कर्ष पर आयें हैं कि मानव-प्रत्यक्ष नहीं, पर ईश्वरीय प्रत्यय ही वस्तुओं का सार या तत्व है। पर क्या मानव और ईश्वरीय प्रत्यय एक समान है? ईश्वर के प्रत्यक्ष सर्जनात्मक (creative) तथा स्थायी हैं, पर मानव-प्रत्यक्ष उनकी गौण प्रतिलिपि या नकल हैं, जो क्षीण, अस्थायी, अक्रमबद्ध तथा क्षणिक हैं। फिर ईश्वर को मानव के समान इन्द्रिय नहीं है, और मानव-प्रत्यक्ष इन्द्रियों पर आधारित रहते है। 'God perceives nothing by sense as we do....God knows or hath ideas but his ideas are not conveyed to him by senses as ours are.' (Dialogues I.459)। ऐसी दशा में यदि मानव-संवेदना को प्रत्यक्ष कहें तो ईश्वरीय ज्ञान को प्रत्यक्ष के नाम से नहीं पुकारा जा सकता है। अतः, ईश्वरीय और मानव-प्रत्यक्ष में जातीय अथवा प्राकारिक अन्तर है। इस अवस्था में यदि ईश्वरीय वस्तु हों तो मानव-प्रत्यक्षों को हम वस्तु नहीं कह सकते हे। बर्कले ने ईश्वरीय प्रत्यक्षों को ही वस्तु कहा है, क्योंकि मानव प्रत्यक्षों के आधार पर वस्तुओं का बाहरपन तथा स्थायित्व नहीं स्पष्ट किया जा सकता है। पर क्या ईश्वरीय प्रत्यक्ष को वस्तु मान लेने से बर्कले के प्रत्ययवाद की रक्षा होती है?

ईश्वरीय प्रत्यक्ष शाश्वत, कालातीत तथा आदिरूप में पाए जाते है, पर प्रश्न उठता है कि मानव इस प्रकार के इन्द्रियातीत (non-sensible) प्रत्यक्षों को अपनी इन्द्रियों से कैसे जान सकते है? जब भी कोई व्यक्ति ईश्वरीय प्रत्यक्षों को जानेगा तो वह मानवीय प्रत्यक्ष होगा, न कि ईश्वरीय; क्योंकि मानव, मानव-तल और मानव-मार्ग का ही अनुसरण कर सकता है। अतः, यदि ईश्वरीय प्रत्यक्ष हों भी लें कि (Esse) या वस्तु-सार उसके ईश्वरीय प्रत्यक्ष पर निर्भर करता है तो यह ऐसा प्रत्यक्ष है जो मानव अनुभूति से परे है, और इसलिए बर्कले का प्रत्ययवाद संशयवाद में परिणत हो जाता है। अतः बर्कले के esse est percipi (दृश्यते इति वर्तते) की आधारशिला अधूरी और संशययुक्त हो जाती है।

क्या बर्कले विषयीनिष्ठ (subjective) प्रत्ययवादी थे?

विषयीनिष्ठ (subjective) और वस्तुनिष्ठ (objective)- दो प्रकार के प्रत्ययवाद माने जाते है। विषयी और विषय, ज्ञानं-प्रसंग में आते है। ज्ञान श्रेय और ज्ञाता के परस्पर संयोग से उत्पन्न होता है। वह ज्ञान जो ज्ञाता या विषयी पर ही आधारित हो, उसे विषयीनिष्ठ ज्ञान कहा जाता है। जैसे, लॉक के अनुसार गौण गुण ज्ञाता के मन पर आधारित रहता है। परन्तु वह ज्ञान जो ज्ञेय या विषय पर ही अवलम्बित हो विषयगत कहा जाता है। यहाँ ज्ञेय या विषय की सत्ता को ज्ञान की सत्ता से परे तथा स्वतन्त्र माना जाता है। लॉक के प्रसंग में हमने देखा है कि प्राथमिक गुण को विषयनिष्ठ कहा गया है।

उस प्रत्ययवाद को विषयीनिष्ठ कहा जायगा, जिसके अनुसार प्रत्यय, ज्ञाता अथवा विषयी (subject, knower or perceiver) पर ही आधारित रहता है। संगतरूप से यदि कोई माने कि प्रत्यक्ष वस्तु है और प्रत्यक्ष विषयीनिष्ठ है, तो अन्य ज्ञाता भी किसी एक ही विषयी के प्रत्यक्ष हो जाते हैं और वह सिद्धांत जिसके अनुसार सभी वस्तुऐं केवल एक व्यक्ति या ज्ञाता के प्रत्यक्ष माना जाता है, अहमात्रवाद (solipsism) कहा जाता है। दर्शन के इतिहास में किसी विचारक ने खुलकर एकात्मसत्तावाद को नहीं अपनाया है और निस्संदेह बर्कले को एकात्मसत्तावादी नहीं कहा जा सकता है। पर क्या उन्हें विषयीनिष्ठ प्रत्ययवादी कहा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर बर्कले के प्रत्यक्ष-सिद्धांत पर निर्भर करता है। यदि वे प्रत्यक्ष को आत्मनिष्ठ या आत्मगत मानते हों तो विषयीनिष्ठ होंगे और यदि वे विषयी से परे प्रत्यक्षों की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं, तो साधारणतया उन्हें वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी कहना चाहिए।

हम लोगों ने पहले ही देखा है कि बर्कले के अनुसार प्रत्यक्ष आत्मनिष्ठ नहीं है। उन्होंने प्रत्यक्षों का बाह्यीकरण किया है, अर्थात् माना है कि व्यक्तियों अथवा ज्ञाताओं से परे है और वे स्थायी, शाश्वत तथा सुदृढ़ नियमों से जकड़े हुए है। फिर वे व्यक्तियों की इच्छाओं पर निर्भर नहीं रहते है। साथ-ही-साथ बर्कले यह भी मानते हैं कि उन्हें छोड़कर अन्य विषयी या ज्ञाता भी है। अन्त में, उनका कहना है कि वास्तव में सभी प्रत्यक्ष ईश्वर के शाश्वत तथा कालातीत मन में है और इसलिए मानवों के लिए सभी प्रत्यक्ष स्वतन्त्र, विषयीनिष्ठ तथा अतिव्यक्तिक (trans-subjective) है। अतः साधारण अर्थ में बर्कले को वस्तुनिष्ठ (objective) प्रत्ययवादी कहना चाहिए। परन्तु साधारण अर्थ से भिन्न विषयीगत (subjective) प्रत्ययवाद का पारिभाषिक या विशेष है और इस विशेष अर्थ में बर्कले को वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी नहीं कहा जा सकता है। हेगेल के प्रत्ययवाद को विषयगत प्रत्ययवाद का नमूना माना जाता है और विषयगत प्रत्ययवाद के तीन मुख्य लक्षण हैं, अर्थात् (1)इसमें ईश्वर और विश्व को अवियोज्य सम्बंध कहा जाता है, (2)वस्तुओं की सत्ता प्रत्यक्ष न होकर सामान्य प्रत्यय या धारणा (concepts or categories) मानी जाती है, और (3)मानव तथा ईश्वरीय विचार में प्राकारिक अन्तर न मानकर केवल परिमाणगत ही अन्तर को स्वीकार किया जाता है और इन तीनों लक्षणों में बर्कलीय प्रत्ययवाद हेगेलीय प्रत्ययवाद से भिन्न होने के कारण विषयगत न कहलाकर विषयीनिष्ठ समझा जाता है। अब हम इन तीनों लक्षणों की व्याख्या करके दिखलायेंगे कि बर्कले का प्रत्ययवाद विषयीनिष्ठ कहलायेगा।

वास्तत में वस्तुनिष्ठता (objectivity) वह है, जिसमें सभी ज्ञाता को एक ही विषय मालूम दे। इसलिए हेगेल के अनुसार सामान्य प्रत्यय अथवा मूल धारणाऐं (categories) ही वस्तु है। देश, काल, कारण-कार्य इत्यादि मूल धारणाऐं है, जो सभी व्यक्तियों में एक रूप में पाई जाती है और इन्हीं मूल धारणाओं से वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान बनता है। इसलिए हेगेल के अनुसार वही वास्तविक है, जो तर्कबुद्धिपरक हो और जो तर्कबुद्धिपरक है, जो वास्तविक भी है। (Real is rational, and the rational is real.) अतः, बर्कले के प्रत्यय मनोवैज्ञानिक संवेदनाऐं हैं, परन्तु हेगेल के प्रत्यय विचार निष्ठ मूल धारणाएँ हैं जिन्हें हम तार्किक सत्ताएँ कह सकते है। अतः, बर्कले के प्रत्ययवाद में सापेक्षता तथा विषयीनिष्ठता आ जाती है विषयीनिष्ठता उसे कहा जाता है जो कुछ ही ज्ञाताओं को सत्य मालूम दे, पर जो सार्वभौमिक रूप से सभी ज्ञाताओं को सत्य मालूम न दे। परन्तु हेगेल के प्रत्यय सभी व्यक्तियों में समान होने के कारण सार्वभौमिक माने जाते हैं इस दृष्टिकोण से भी बर्कले का प्रत्ययवाद विषयीनिष्ठ समझा जाएगा।

फिर बर्कले के अनुसार ईश्वरीय प्रत्यय वस्तुऐं हैं और उसके अनुसार ये मानव-प्रत्ययों से एकदम भिन्न है। परन्तु ऐसा मान लेने से अज्ञेयवाद तथा संशयवाद का स्थान रह जाता है। परन्तु हेगेल के अनुसार ईश्वरीय विचार और मानव-विचार में केवल परिणाम का ही अन्तर है। मानव ईश्वर ही की सीमित अभिव्यक्ति है और इसलिए मानव-विचार भी ईश्वरीय विचार की सीमित अभिव्यक्ति है। यह ठीक है कि ईश्वरीय विचार पूर्ण हैं और साकार अवस्था में पाये जाते है, परन्तु मानव-विचार, ईश्वर की तुलना में अधिक अमूर्त्त तथा अधूरे है। जितना ही अधिक मानव-विचारों में विकास आता जायगा और वे उन्नत तथा युक्तिपूर्ण होते जायेंगे उतने ही अधिक परिणाम में ईश्वरीय विचार के समीप पहुँचते जायेंगे।

अत:, बर्कले के प्रत्ययवाद को साधारणतया वस्तुनिष्ठ कह जा सकता है, परन्तु दर्शन के इतिहास में 'वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद' का विशेष अर्थ है और इस अर्थ में बर्कलीय प्रत्ययवाद को विषयीनिष्ठ मानना अधिक संगत होगा।

क्या बर्कले अंहमात्रवादी (Solipcist) है?

बर्कले के ऊपर अहंमात्रवादी होने का आरोप लगाया जाता है। इसका कारण है कि बर्कले बाह्य जड़ द्रव्य की सत्ता का खंडन करते हैं और प्रत्ययों को मन आश्रित मानते हैं। मन और उसके प्रत्यय की सत्य है। इस प्रकार यहां ज्ञान प्रक्रिया में ज्ञाता की प्रधानता सिद्ध होती है। ऐसी स्थिति में समस्त ज्ञान व्यक्ति केंद्रित हो जाता है। इसी संदर्भ में बर्कले पर यह आक्षेप लगाया गया है। परंतु बर्कले को हम एक सीमित दृष्टिकोण से ही अहं मात्रवादी कह सकते हैं, पूर्ण यप से नहीं। स्वयं बर्कले यह मानते हैं कि प्रत्यय हमारी आत्मा की रचना नहीं है। बर्कले के अनुसार प्रत्ययों का मूल कारण ईश्वर है। स्पष्ट है कि हम बर्कले को पूर्णत: अहंमात्रवादी नहीं कह सकते।

महत्व

– ईश्वर की सत्ता को मानकर बर्कले अहंमात्रवाद एवं आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद से अपने दर्शन को बचाते हैं। ईश्वर ही प्रत्ययों का मूल कारण है, पर्याप्त कारण एवं सतत् प्रत्यक्षकर्ता है। ईश्वर को मानने से प्रत्ययों की सार्वभौमिकता की भी व्याख्या हो जाती है।

– भौतिकवाद का खण्डन कर आध्यात्मवाद के प्रसार में इसका महत्व है।

– ईश्वर को मानने से जगत की नियमितता, व्यवस्था, घटनाओं के तारतम्य इत्यादि की व्याख्या होने लगती है।

– यहां प्राकृतिक नियमों को ईश्वरीय नियम माना गया है। इस रूप में यहां प्राकृतिक नियमों के विपरीत कार्यों एवं प्रणालियों को हतोत्साहित किया गया है।

आलोचना

1. मूर के अनुसार बर्कले ज्ञान और ज्ञान के विषय को एक मानने की मनौवैज्ञानिक भूल करते हैं। वास्तव में ाान और ज्ञान का विषय दो अलग अलग वस्तुएं हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो फिर दो ज्ञानों की भिन्नता का अंतर ही समाप्त हो जाता। उदाहरण के लिये- नीले रंग और पीले रंग में भिन्नता है। इस भिन्नता का कारण ज्ञान नहीं बल्कि ज्ञान का विषय है।

2. मूर बर्कले के "Esse est percipii" का विश्लेषण कर यह स्पष्ट करते हैं कि किसी भी संभाव्य अर्थ में इसको स्थापित नहीं किया जा सकता।

3. आर.बी.पेरी के अनुसार बर्कले का प्रत्ययवाद आत्मकेंद्रित विषमावस्था (Ego-centric predicament) पर आश्रित है। आत्मकेंद्रित विषमावस्था का आशय है कि हमारी आत्मा विषयों का केंद्र होने के लिये बाध्य है। यह विषय अवस्था या असुविधाजनक स्थिति है। क्योंकि हम किसी को भी ऐसी वस्तु का अनुभव नहीं कर सकते जो हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो। बिना मन से संबंधित किये हुए कोई विचार उत्पन्न ही नहीं होता। इसी असुविधाजनक स्थिति के आधार पर प्रत्ययवाद बाह्य वस्तु का खंड करता है। पेरी कहते हैं कि इस विषमावस्था के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि प्रत्येक वस्तु मन पर निर्भर है, मन से स्वतंत्र उसका अस्तित्व नहीं है, गलत है।

4. पेरी के अनुसार यहां प्रत्ययवाद में आदि-विधेय-दोष (Fallacy of initial predication) भी है। किसी वस्तु के साथ हमारा प्रथम परिचय जिस रूप में हो अथवा सबसे पहले जिस गुण से हम वस्तु को संपन्न पाएं, उसी रूप या गुण को यदि वस्तु का सार लक्षण मान लें तो फिर वैसी स्थिति में यह दोष उत्पन्न होता है। प्रत्ययवादी बर्कले अनुभव में आयी हुई वस्तु को देखकर यह मान लेते हैं कि केवल अनुभव में आयी हुई वस्तु का अस्तित्व होता है। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु के प्रारंभिक परिचय से प्राप्त गुणों के द्वारा उस वस्तु को परिभाषित करने लगते हैं। यह सही है कि वस्तु का प्रारंभिक ज्ञान मन या चेतना से संबंधित होने पर होता है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि मन या चेतना से संबंधित होना वस्तु की परिभाषा बन जाए। वस्तु में अन्य महत्वपूर्ण लक्षण भी हो सकते हैं।

सारांश

इस इकाई में हमने बर्कले के दर्शन के मुख्य सिद्धांतो को समझने का प्रयास किया है। बर्कले एक अनुभववादी थे और उनके दर्शन को विषयनिष्ठ आदर्शवाद कहा जाता है। उन्होंने अमूर्त प्रत्ययों व भौतिक वस्तुओं के वास्तविकता के सिद्धांत का खण्डन किया है। उन्होंने प्रसिद्ध सिद्धांत *दृश्यते इति वृतते* का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार, वस्तुएं मानव अनुभूत जगत में बाह्य रूप से विद्यमान नहीं है वरन् मानव की अनुभूति में है।' दूसरे शब्दों में, मानव-मन में उपस्थित प्रत्यय ही वास्तविक सत् है। बर्कले का ईश्वर के अस्तित्व के प्रति दृष्टिकोण इसलिये चर्चा का विषय बना क्योंकि उनका मानना है कि बाह्य जगत का अस्तित्व ईश्वर द्वारा उसे शाश्वत रूप से प्रत्यय करते रहने से है। बर्कले ने इसे द्वैतवाद, निरीश्वरवाद और संशयवाद के खण्डन के द्वारा स्थापित किया।

अभ्यास प्रश्न

1. बर्कले के जीवन और उनके कार्यो पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. बर्कले ने भौतिक पदार्थ के खण्डन हेतु क्या तर्क दिए है?
3. बर्कल अनिश्वरवाद के स्थान पर ईश्वरवाद पर बल देता है। स्पष्ट करे तथा उसके ईश्वर के अस्तित्वसिद्धि के तर्को का वर्णन करें।

4. बर्कले के प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रतिनिधिक सिद्धांत की समीक्षा कीजिए।
5. बर्कले के दृश्यते इति वृतते सिद्धांत आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
6. बर्कले ने आत्मा की सत्ता के संबंध में क्या विचार दिए है?
7. बर्कले की प्रत्ययवाद की अवधारणा को समझाइए।
8. क्या बर्कले अहंममात्रवादी है? समीक्षा करें।
9. बर्कले आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी है या वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी? स्पष्ट करें।
10. आधुनिक दर्शन में बर्कले का महत्व बताएं।
11. बर्कले के दर्शन का मूल्यांकन कीजिए।
12. बर्कले अमूर्त विचारों के खण्डन से क्या प्राप्त करना चाहते थे?

इकाई–10 ह्यूम (Hume)

इकाई की रूपरेखा:

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. ज्ञानमीमांसा
4. कारण सिद्धांत
5. आत्मा ईश्वर और द्रव्य
6. संशयवाद
7. आगमन विचार
8. फेनोमेनोलिज्म
9. आवेग, संकल्प, धर्म और नैतिकता
10. महत्त्व
11. मूल्यांकन
12. देकार्त बनाम ह्यूम
13. ह्यूम बनाम चार्वाक
14. सारांश
15. अभ्यास प्रश्न

उद्देश्य

इस इकाई में हमने डेविड ह्यूम के दर्शन के मुख्य आयामों को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। निसंदेह यह संपूर्ण नहीं है और इसलिए छात्र को इकाई के अंत में प्रस्तावित संदर्भ ग्रंथ सूची की पुस्तकों को पढ़ने का परामर्श दिय जाता है। तथापि, इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त कोई भी छात्र ह्यूम के निम्नलिखित विचारों को समझने में सक्षम हो जायेगा :

- मानव प्रकृति का विज्ञान;
- सम्बन्ध;
- दो आधारभूत मान्यताएं;
- संशयवाद; और
- आवेग, संकल्प, धर्म, राजनीति और नैतिकता की उनकी धारणा।

प्रस्तावना

डेविड ह्यूम 26 अप्रैल 1911 में एडिनबर्ग, स्काटलैण्ड में पैदा हुए थे और एडिनवर्ग विश्वविद्यलय में ग्यारह से पन्द्रह वर्ष की आयु तक रहे और इसी नगर में विधि का अध्ययन

किया। अपनी रूचि के अनुकूल नहीं होने से उन्होंने विस्तृत रूप से प्राचीन और आधुनिक साहित्य को पढ़ा, विज्ञान और भाषा के ज्ञान को बढ़ाया, और मुख्य रूप से अपने आप को दर्शन के प्रति समर्पित कर दिया। वह अपनी पहली दो पुस्तकों ऑफ दे अण्डरस्टेन्डिग और ऑफ द पेसेन को अपने प्रसिद्ध निबंध ए ट्रिटिस ऑफ ह्यूमन नेचर में ऑफ मोरलस के साथ संकलित करके प्रकाशित कराने के उद्देश्य से 1737 में इग्लैंण्ड वापस आये। लेकिन, समीक्षकों ने इसे विरोधाभाषी और अस्पष्ट पाया। परिणाम स्वरूप, ह्यूम ने शीघ्र ही विभिन्न निबन्धों के संकलन के द्वारा पुनः अपने विचारों को प्रस्तुत किया। वस्तुतः उन्होंने अपने पूर्व में अप्रकाशित महत्वपूर्ण विचारों को फिलोसॉफीकल एससेस कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टेन्डिग (1783) के रूप में प्रकाशित किया। ह्यूम के सिद्धांत को विशेष महत्व 1783 में तब मिला जब इमैनुअल कांट ने यह कहा कि कारण और प्रभाव के ह्यूम के स्पष्टीकरण ने उसे हठधर्मिता की नींद से जगाया।

लॉक और बर्कले के समान ह्यूम का अनुभववाद भी मनोवैज्ञानिक मान्यताओं पर आधारित है। मनोवैज्ञानिक अनुभववाद के अनुसार मनुष्य के मन की संरचना ही ऐसी है कि उसे वस्तुओं एवं उनसे संबंधित तथ्यों का ज्ञान अनुभव के द्वारा ही हो सकता है। ह्यूम मन की क्षमताओं और अक्षमताओं का एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यद्यपि लॉक, बर्कले और ह्यूम तीनों का अनुभववाद मनोवैज्ञानिक है, किंतु ह्यूम के अनुभववाद में तार्किक अनुभववाद की ओर भी स्पष्ट संकेत है। यही कारण है कि 20वीं सदी के तार्किक अनुभववादी ह्यूम से प्रभावित ही नहीं है, बल्कि उसे अपना दार्शनिक पूर्वज भी मानते हैं।

ज्ञानमीमांसा/ज्ञान का सिद्धांत (Theory of knowledge)

ह्यूम ब्रिटिश अनुभववादी दार्शनिक हैं। यद्यपि ह्यूम से पूर्व लॉक, और बर्कले ने भी अनुभव को ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र यथार्थ स्त्रोत माना था परंतु वे दृढ़ता के साथ अनुभववाद का पालन नहीं करते। लॉक अनुभववादी होते हुए भी मन रचित जटिल प्रत्यय के रूप में द्रव्य की कल्पना कर लेते हैं। बर्कले लॉक से एक कदम आगे बढ़ते हुए यद्यपि जड़ द्रव्य की सत्ता का तो खण्डन कर देते हैं परंतु प्रत्यक्षित प्रत्ययों के आधार एवं कारण के रूप में आत्मा एवं ईश्वर की सत्ता को अनुभव से परे होने के बावजूद स्वीकार कर लेते हैं। ह्यूम अनुभववाद को उसकी तार्किक पराकाष्ठा पर पहुंचाते हैं। वे अनुभव के पथ पर दृढ़ता से चलते हुए जड़-जगत के साथ-साथ आत्मा और ईश्वर की सत्ता पर भी प्रश्नचिह्न खड़ा कर देते हैं।

ह्यूम यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि अनुभववाद का संबंध किसी प्रकार के तत्ववाद (तत्वमीमांसा) से नहीं है। अनुभववाद शुद्ध ज्ञानमीमांसा है जिससे किसी भौतिक या आध्यात्मिक सत्ता की सिद्धि नहीं होती है।

ज्ञान की उत्पत्ति एवं घटक (Origin and Constituents of Knowledge)

अनुभववादी होने के कारण ह्यूम भी अनुभव को ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र यथार्थ स्त्रोत मानते हैं। इनके अनुसार हमारा सारा ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्षों (Sense perception) के माध्यम से होता है।

ह्यूम के अनुसार इन्द्रियप्रत्यक्ष के दो घटक है- 1. संस्कार (Impression) 2. प्रत्यय (Ideas)

'संस्कार' शब्द पहली बार ह्यूम के दर्शन में प्रयुक्त किया गया है। परंतु इसका अर्थ नवीन नहीं है। लॉक ने संवेदन व स्वसंवेदन को जिस अर्थ में प्रयुक्त किया है, उसी अर्थ में यहां ह्यूम ने 'संस्कार' शब्द का प्रयोग किया है। ये संस्कार ही ज्ञान के मूल निर्णायक तत्व हैं। संस्कारों की प्राप्ति के पश्चात् प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। संस्कार प्रत्ययों की अपेक्षा प्राथमिक एवं पूर्ववर्ती होते हैं। ये प्रत्ययों की अपेक्षा सामान्यतः अधिक तीव्र, अधिक स्पष्ट, अधिक सजीव एवं अधिक प्रबल होते हैं। ये संस्कार एक दूसरे से पृथक-पृथक, मौलिक एवं विशिष्ट होते हैं।

ह्यूम के अनुसार ये संस्कार सरल एवं निरवय हैं तथा किन्हीं भी दो संस्कारों के बीच कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। संस्कारों के अंतर्गत ह्यूम ने सभी प्रकार की अनुभूति (संवेदना, भावना, संवेग आदि) को स्वीकार किया है।

प्रत्यय संस्कारों के प्रतिबिंब या अनुकृतियां हैं। ये संस्कारों की अपेक्षा सामान्यतः कम प्रबल, कम अस्पष्ट एवं कम सजीव होते हैं। यहां प्रत्यय से ह्यूम का तात्पर्य स्मृति, चिंतन, तर्कणा इत्यादि रूपों में संस्कारों की धूमिल प्रतिमाओं से है।

प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं- (1) सरल प्रत्यय (Simple Ideas) (2) जटिल प्रत्यय (Complex Ideas)।

सरल प्रत्ययों के मूल में कोई न कोई संस्कार अवश्य होता है, इसलिए कोई भी प्रत्यय जन्मजात नहीं होता परंतु जटिल प्रत्ययों के निर्माण में लॉक से भिन्न ह्यूम यह मानते हैं कि कुछ संदर्भों में बिना सरल प्रत्ययों के भी जटिल प्रत्ययों का निर्माण हो सकता है। जैसे-सोने का पहाड़।

ह्यूम के अनुसार प्रत्येक संस्कार परस्पर पृथक-पृथक, विशिष्ट, स्वतंत्र एवं अणु रूप होता है। यहां इसके दो संदर्भ है- (i) इसका तात्पर्य यह है कि संस्कारों के मध्य कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता। इनके बीच कोई तार्किक निगमन संभव नहीं है। (ii) चूंकि अनुभव में संस्कार मिलते हैं और संस्कार पृथक पृथक, स्वतंत्र एवं अणु रूप में होते हैं। अतः यहां मनोवैज्ञानिक अणुवाद (Psychological Atomism) की भी स्थापना होती है। प्रत्यक्ष के अणुओं से ही हमारा ज्ञान निर्मित है।

प्रत्ययों का साहचर्य/प्रत्ययों के मध्य संबंध (Relation of Ideas)

ह्यूम के मत में प्रत्ययों के बीच कोई आतंरिक या अनिवार्य संबंध नहीं होकर बाह्य संबंध ही संभव है। ऐसे संबंध को ह्यूम ने साहचर्य संबंध कहा है। मानव-मन तीन नियमों के आधार पर साहचर्य संबंध स्थापित करता है। ये नियम हैं-

1. देश काल संबंधी सामीप्य (निकटता) (Association of Contiguity in Space and Time)

2. समानता या सादृश्य का नियम (Association of Similarity or Resemblence)

3. कारण-कार्य भाव (Association of Causality)

1. देश और काल में सामीप्यता : जब दो प्रत्ययों में देश और काल के दृष्टिकोण से निकटता होती है तो फिर उन दोनों में संबंध की स्थापना कर ली जाती है। दूसरे शब्दों में यदि एक घटना के बाद उसी स्थान पर उसी समय कोई दूसरी घटना घट जाती है तो फिर उसमें देश और काल के दृष्टिकोण से निकटता मानी जाती है।

2. सादृश्यता : दो प्रत्ययों में सादृश्यता तब मानी जाती है जब दोनों में समान हो। दो वस्तुओं में समानता होने पर एक को देखकर देसरे का भी प्रत्यय उत्पन्न हो जाता है। इसमें मूल वस्तु और चित्र में समानता के कारण एक को देखकर दूसरे का विचार (प्रत्यय) मन में आता है। जैसे किसी मित्र के चित्र को देखकर मित्र का स्मरण हो जाना।

3. कारण कार्य संबंध : प्रत्ययों में कारण-कार्य संबंध भी होता है परंतु कारण और कार्य में कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता। कारण-कार्य में पूर्ववर्ती एवं परवर्ती होने का संबंध है। यह संबंध एक सांयोगिक-साहचर्य (Co-incidence) संबंध है। यहां यह उल्लेखनीय है कि ह्यूम कारण कार्य संबंध का खंडन नहीं करते, बल्कि उनके मध्य स्वीकार्य अनिवार्यता की अवधारणा का खण्डन करते हैं।

इन तीनों में से किसी के भी होने पर प्रत्ययों में संबंध स्थापित हो जाता है। ये तीनों तार्किक नियम नहीं है। इनमें न तो अनिवार्यता है और न ही वस्तुनिष्ठता (objectivity)। इनमें केवल आत्मगत (subjective) संबंध है, जो कल्पना-आधारित है। कल्पना-आधारित, कल्पना-निर्मित इन्हीं तीनों नियमों के आधार पर प्रत्यय एवं संस्कारों के मध्य संबंध स्थापित किया जाता है। आनुभाविक ज्ञान की प्राप्ति की जाती है।

ज्ञान के प्रकार (Types of Knowledge)

ह्यूम के अनुसार मानव ज्ञान दो प्रकार का होता है-

1. प्रत्ययों के मध्य संबंध का ज्ञान (knowledge of Relation of Ideas)

2. वस्तु तथ्य का ज्ञान (Knowledge of Matter of Fact)

प्रत्ययों के मध्य संबंध का ज्ञान गणित एवं तर्कशास्त्र में प्राप्त होता है। यह ज्ञान तर्क और चिंतन के द्वारा प्राप्त होता है। हमारी बुद्धि प्रत्ययों के विश्लेषण द्वारा, इनके स्वरूप पर विचार कर ऐसे ज्ञान को प्राप्त करती है। इसे लिए किसी आनुभाविक निरीक्षण एवं प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा ज्ञान निश्चित एवं अनिवार्य होता हैं परंतु ऐसे ज्ञान में तथ्यात्मकता का अभाव होता हैं। गणित एवं तर्कशास्त्र में हमें ऐसा ही ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अनुसार जगत में कोई वास्तविक वस्तुस्थिति नहीं होती।

दूसरे प्रकार का ज्ञान वस्तुजगत का ज्ञान है। ऐसा ज्ञान हमें विज्ञान एवं व्यावहारिक जीवन में मिलता है। वस्तु तथ्य का ज्ञान हमें अनुभव (संस्कार एवं प्रत्यय) से प्राप्त होता है। चूंकि यह ज्ञान इन्द्रिय अनुभव पर आधारित है, अतः ऐसे ज्ञान में नवीनता होती है, परंतु इनमें निश्चितता एवं अनिवार्यता नहीं होती। इसका कारण यह है कि इन्द्रिय-अनुभव से हमें सार्वभौम एवं अनिवार्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इन्द्रियों से हमें केवल विशेष घटनाओं या पदार्थों का ही ज्ञान हो सकता है। वस्तुजगत का हमारा समस्त ज्ञान संभाव्य ही हो सकता है, अनिवार्य नहीं। इनमें अनिवार्यता की खोज केवल मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है।

यदि ज्ञान के इन दोनों प्रकारों को देखा जाए तो न तो बाह्य वस्तु का, न आत्मा का, न ईश्वर का और न ही नैतिक नियमों का अनिवार्य ज्ञान हो सकता है। परिणामस्वरूप ह्यूम संशयवाद की ओर उन्मुख हो जाते हैं।

समालोचना

1. कांट के अनुसार कुछ प्रत्यय सभी मनुष्यों की मानसिक संरचना में विद्यमान रहते हैं। ज्ञान की सार्वभौमता एवं अनिवार्यता इन्हीं के कारण होती है। ये अनुभव पर आधारित नहीं है। अत: सभी प्रत्ययों को अनुभव से उत्पन्न मानना संगत नहीं है।

2. कांट के अनुसार हमारी बुद्धि में कुछ ऐसे प्रत्यय निहित होते हैं जो अनुभव-आधारित नहीं है, अर्थात् उनका न तो हमें संस्कार मिलता है और न ही प्रत्यय। जैसे अनन्त का प्रत्यय आदि।

3. ह्यूम ज्ञान-प्राप्ति की व्याख्या अनुभव के आधार पर करते हैं। कांट का कहना है कि इन्द्रियों से केवल ज्ञान की सामग्री मिलती है जो इन्द्रिय संवेदन रूप होती है। ये पृथक-पृथक एवं अव्यवस्थित होती है। जब तक इन इन्द्रियों संवेदनाओं में परस्पर व्यवस्थापन एवं संबंध स्थापित न हो, तब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह कार्य बुद्धि में निहित बुद्धि विकल्पों (categories) द्वारा होता है। ज्ञान, अनुभव एवं बुद्धि के सम्प्रत्यय का सम्मिलित परिणाम है। ज्ञान की सामग्री अनुभव द्वारा प्राप्त होती है जबकि ज्ञान का आकार बुद्धि द्वारा मिलता है। इस संबंध में कांट का स्पष्ट कथन है कि 'संवेदन बिना सम्प्रत्ययों के अंधे हैं और सम्प्रत्यय बिना संवेदन के शून्य है।' (Concept without percept is empty and percept without concept is blind)

4. समकालीन दार्शनिक क्वाइन के अनुसार समस्त ज्ञान मानव निर्मित ढांचा है। दूसरे शब्दों में, वैज्ञानिक ज्ञान के साथ साथ गणितीय ज्ञान भी अनुभव आधारित ही हैं। अनुभव में थोड़ा परिवर्तन होने पर वैज्ञानिक ज्ञान परिवर्तित हो जाता है, जबकि व्यापक परिवर्तन होने पर गणितीय ज्ञान में भी परिवर्तन होने लगता है। अत: ह्यूम द्वारा ज्ञान के दो प्रकार अर्थात् प्रत्यवर्ती मध्य संबंध का ज्ञान तथा वस्तुतथ्य के ज्ञान में अंतर को मानना दोषपूर्ण है।

5. ह्यूम के अनुसार कोई सरल प्रत्यय तदनुरूप संस्कार के बिना संभव नहीं है। परंतु स्वयं ह्यूम ने अपवाद स्वरूप स्वीकार किया है कि यदि नीले रंग की दस छटाओं में से एक को छोड़कर बाकी सभी छटाओं को दिखाया जाए तो हम उस अनदेखी छटा का भी प्रत्यय बना सकते हैं। तो क्या मन अवसर पड़ने पर ऐसी प्रत्यय की रचना कर सकता है जिसका संस्कार न मिला हो?

6. ह्यूम ने प्रत्ययों को संस्कारों की अनुकृति माना है। इसके लिए उनकी पहली कसौटी है कि संस्कार प्रत्ययों की अपेक्षा अधिक सजीव और सबल होते हैं। पर स्वयं ह्यूम ने बताया है कि ज्वर, पागलपन, भ्रांति आदि में संस्कारों की अपेक्षा प्रत्यय ही अधिक सजीव और स्पष्ट होते हैं।

महत्व

1. ह्यूम के ज्ञान सिद्धांत का प्रभाव तार्किक प्रत्यक्षवादियों पर दिखाई देता है। ह्यूम ने जहां अनुभव के आधार पर तत्वमीमांसीय सत्ताओं का खंडन किया है, वहीं तार्किक प्रत्यक्षवादी तार्किक आधार पर तत्वमीमांसीय सत्ताओं का निरसन करते हैं।

2. ह्यूम ने अपने ज्ञान सिद्धांत में दो प्रकार के ज्ञान में भेद किया। यही विभाजन कालांतर में विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक कथनों के भेद के रूप में स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आया।

कारण-सिद्धांत (Causality)

ह्यूम अनुभववादी हैं। वे कारणता सिद्धांत की एक नवीन और मौलिक विवेचना प्रस्तुत करते हैं। दर्शन व विज्ञान के क्षेत्र में कारण-कार्य संबंध को वस्तु जगत का एक अनिवार्य एवं सार्वभौम संबंध माना जाता है। कारणता सिद्धांत के संबंध में प्राय: यह स्वीकार किया जाता है-

1. कारण एवं कार्य में अनिवार्य एवं सार्वभौम संबंध है।

2. कारण में कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है।

लॉक इसी कारणता सिद्धांत से जड़-जगत की सत्ता को सिद्ध करते हैं। बर्कले आदि अनेक दार्शनिकों ने इसी नियम के आधार पर ईश्वर एवं आत्मा की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। वैज्ञानिकों ने भी भौतिक क्षेत्र में अनेक नियमों की स्थापना कारणता के आधार पर ही की है। वस्तुत: आगमनात्मक अनुमान का आधार भी यही संबंध है।

ह्यूम कारणता संबंधी प्रचलित उपरोक्त दोनों मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। उनके अनुसार कार्य-कारण में कोई अनिवार्य, सार्वभौम, वस्तुगत संबंध नहीं है। यहां यह उल्लेखनीय है कि ह्यूम कारणता का खंडन नहीं करते, बल्कि उसकी नवीन अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। इस संबंध में ह्यूम निम्नलिखित तर्क देते हैं-

1. ह्यूम के अनुसार कारण-कार्य संबंध आनुभविक हैं। अनुभव से हमें संस्कार प्राप्त होते हैं जो एक दूसरे से पृथक-पृथक एवं विशिष्ट होते हैं। पहले में कारण का संस्कार, फिर कार्य का संस्कार प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि कारण व कार्य का संस्कार पृथक-पृथक रूप में मिलता है जो परस्पर स्वतंत्र है। ऐसी स्थिति में दोनों के मध्य अनिवार्य संबंध की स्थापना तर्कत: नहीं की जा सकती।

2. ह्यूम के अनुसार अनुभव व्यक्तिगत होता है एवं घटना विशेषों तक सीमित होता है। ऐसी स्थिति में दो वस्तुओं के देशकाल में निकटता तथा उनकी नियमित क्रमिकता के आधार पर उनके मध्य सार्वभौम संबंध की स्थापना निश्चयात्मक रूप से नहीं की जा सकती।

3. परंपरागत कारणता सिद्धांत यह मानता है कि कारण में कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। ह्यूम इस अवधारणा का खंडन करते हुए कहते हैं कि अनुभव से हमें ऐसी किसी शक्ति का ज्ञान नहीं होता। ह्यूम बिलियर्ड्स के खेल का उदाहरण देते हुए कहते है कि जब एक गेंद दूसरे बॉल से टकराती है तो फिर दूसरी गेंद में गति आ जाती है। यहां हमें दोनों गेंदों के बीच समीपता का अनुभव तो होता है, परंतु हमें ऐसा कभी अनुभव नहीं होता कि कोई शक्ति पहली गेंद से निकलकर दूसरी में जा रही हो।

वस्तुत: ह्यूम कारण व कार्य के मध्य सामीप्य व क्रमबद्धता (पूर्वापर संबंध) को मानते हैं। वे इसे एक आनुभविक संबंध मानते हैं। इस संबंध में ह्यूम का स्पष्ट कथन है- "मैं इस मूर्खतापूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं करता कि कोई कार्य बिना कारण के हो सकता है। यदि कार्य कहा जा रहा है तो फिर उसका कारण भी अवश्य होगा।" यहां ह्यूम का इतना ही कहना है कि सैद्धांतिक दृष्टिकोण से अनिवार्यता को तर्कत: स्थापित नहीं किया जा सकता। जो अनिवार्य व सार्वभौम संबंध हम कारण-कार्य में स्थापित करते हैं, वह हमारी मानसिक आदत का परिणाम है।

जब हम दो घटनाओं को बार बार क्रमिकता में निकटता के साथ देखते हैं तो हमारे मन में एक भावना उत्पन्न हो जाती है और इस भावना के कारण हम यह आशा करने लगते

हैं कि 'A' के घटित होने पर 'B' भी अवश्य होगा। यह भावना, परंपरा एवं आदत के द्वारा विश्वास में परिवर्तित हो जाती है। परिणामस्वरूप हमारे मन में इस अनिवार्यता का बोध होता है कि 'A' के बाद 'B' घटित होगा। आशय है कि अनिवार्यता वास्तव में आंतरिक है, वस्तु में नहीं है। कारणता में सामीप्यता एवं नियमित क्रम तो वस्तुनिष्ठ हैं, परंतु अनिवार्यता आत्मनिष्ठ है, बाह्य वस्तु से सम्बंधित नहीं है, क्योंकि भविष्य में ऐसा हो सकता है कि A हो B न हो।

ह्यूम यहां इस संदर्भ में प्रकृति की समरूपता की अवधारणा (Law of uniformity of nature) का भी खंडन करते हैं। इस अवधारणा का आशय है कि भविष्य अतीत जैसा ही होगा। ह्यूम के अनुसार यह अनुभव पर आधारित नहीं है। उदाहरणस्वरूप-पानी प्यास बुझाता है। जब यह प्रक्रिया बार बार होती है तो हम मानसिक तौर पर यह निर्धारित कर लेते हैं कि पानी पीना प्यास बुझने का कारण है। परंतु पानी पीने एवं प्यास बुझने में अनिवार्य संबंध नहीं है। यह बात सही है कि वास्तविकता में अभी तक इसका विपरीत नहीं हुआ है परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि भविष्य में भी ऐसा ही होगा। इसका विरोधी सोचा जा सकता है और ऐसा सोचने से कोई तार्किक व्याघात उत्पन्न नहीं होता। उल्लेखनीय है कि अनिवार्यता वहीं मानी जाती है जिसका विरोधी सोचने पर व्याघात उत्पन्न हो जाये, परंतु यहां ऐसी स्थिति नहीं है। हम अनुभव के आधार पर केवल यही कह सकते हैं कि 'यह पानी प्यास बुझाती है।' हम यह नहीं कह सकते कि-

1. सभी पानी प्यास बुझाती हैं।

2. भविष्य में पानी प्यास बुझायेगी ही

स्पष्ट है कि कारणता संबंध तार्किक रूप से अनिवार्य संबंध नहीं है। कारण-कार्य में विद्यमान अनिवार्यता तार्किक न होकर मनोवैज्ञानिक है, वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ है। यह हमारी अभ्यासजन्य आदत का परिणाम है। यहां ह्यूम के इस मत में चार्वाकों द्वारा अनुमान खंडन के क्रम में दिये गये तर्कों की झलक दिखाई देती है।

आलोचना

1. यहां ह्यूम यह कहते हैं कि घटनाओं की क्रमिक पुनरावृत्ति से अनिवार्यता का भाव उत्पन्न होता है। ह्यूम इसे मनोवैज्ञानिक स्तर पर मानते हैं। आलोचकों के अनुसार यदि इसे मनोवैज्ञानिक स्तर पर माना जा सकता है तो फिर वस्तुओं के स्तर पर भी इसे मानने में समस्या नहीं होनी चाहिये।

2. कभी कभी एक बार में ही कारणता को मान लिया जाता है। वहां पुनरावृति की आवश्यकता नहीं होती। जैसे द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण।

3. कइ घटनाएं ऐसी हैं जिनमें पुनरावृति होती है, परंतु उनमें कारणात्मक संबंध नहीं माना जा सकता। जैसे दिन-रात का संबंध।

4. ह्यूम साहचर्य के आधार पर कारणता की व्याख्या करते हैं। कांट के अनुसार स्वयं साहचर्य की कारणता पर आधारित है।

5. कांट के अनुसार कारणता सिद्धांत आनुभविक न होकर प्रागनुभविक है। यह बुद्धि का एक विकल्प है। यह नियम अनिवार्य है।

आत्मा (Self)

आत्मा की सत्ता को मानने वाले सामान्यत: आत्मा को एक स्थायी, स्वतंत्र, अभौतिक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। इस आत्मा को ही सामान्यत: समस्त मनोवेगों, इच्छाओं, विचारों एवं भावनाओं आदि का आधार माना जाता है। डेकार्ट ने सरल द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता को माना और इसे सारगुण के रूप में चेतना को स्वीकार किया। लॉक और बर्कले अनुभववादी होते हुए भी आध्यात्मिक द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

कट्टर अनुभववादी ह्यूम आत्मा के अस्तित्व एवं स्वरूप के संबंध में इस परंपरागत अवधारणा का खंडन करते हैं। ह्यूम के अनुसार नित्य आत्मा की अवधारणा अनुभव आधारित नहीं है। अनुभवों के स्वामी या आधार के रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं है।

ह्यूम निम्नलिखित आधारों पर आत्मा के संबंध में प्रचलित परंपरागत अवधारणा का खंडन करते हैं-

1. ह्यूम के अनुसार अनुभव ही ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र यथार्थ स्रोत है। अनुभव से हमें संस्कार प्राप्त होते हैं। ये संस्कार पृथक पृथक क्षणिक, विशिष्ट एवं परस्पर स्वतंत्र होते हैं। ये निरतंर एक दूसरे का अनुवर्तन करते रहते हैं। अत: इनके लिए किसी आश्रय या अधिष्ठान का आवश्यकता नहीं होती।

2. प्रत्येक सरल प्रत्यय किसी संस्कार से ही उत्पन्न होता है। अब यदि आत्मा के प्रत्यय का हमें ज्ञान होता है तो फिर उसकी भी उत्पत्ति किसी एक संस्कार से माननी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में आत्मा भी एक विशिष्ट परिवर्तनशील संस्कार मात्र होगी। परंतु आत्मा को एक विशिष्ट संस्कार न मानकर इसे अनुभवों का आश्रय या स्थायी माना जाता है। यहां व्याघात की स्थिति है। यहां एक तरफ यह कहा जा रहा है कि आत्मा एक परिवर्तनशील संस्कार है, तो दूसरी ओर उसे समस्त संस्कारों एवं प्रत्ययों का अधिष्ठान माना जा रहा है। इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

3. ह्यूम के अनुसार अनुभव के आधार पर केवल यही प्रतीत होता है आत्मा सतत् परिवर्तनशील प्रत्ययों का संघात है। इसमें किसी भी पदार्थ की एकात्मकता या नित्यता नहीं है।

ह्यूम इसे स्पष्ट करने के लिए आत्मा की तुलना थियेटर से करते हैं। जिस प्रकार थियेटर में विभिन्न प्रत्यक्ष नियमित रूप से एक दूसरे के बाद आते रहते हैं, जिनमें हम भ्रमवश एकता की स्थापना कर लेते हैं, यद्यपि कि उन प्रत्यक्षों को अपना पृथक पृथक अस्तित्व होता है। इसी प्रकार आत्मा भी परिवर्तनशील प्रत्ययों का संघात मात्र है, जिसमें हम भ्रमवश एकता की कल्पना कर लेते हैं। ह्यूम का यह विचार 'अस्वामित्व सिद्धांत' (No Ownership Theory) कहलाता है। ह्यूम के अनुसार वास्तव में प्रत्ययों के प्रवाह के अतिरिक्त किसी नित्य आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। ह्यूम के शब्दों में 'मैं आत्मा की तुलना एक ऐसे साम्राज्य से करता हूं जिसके सभी सदस्य शासक एवं शासित है।' इसके अंतर्गत सभी प्रत्यक्ष एक स्तरीय है।

4. ह्यूम के अनुसार अनुभव से हमें किसी नित्य एवं शाश्वत आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसका न तो संस्कार मिलता है और न ही प्रत्यय। इस संबंध में ह्यूम स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'जहां तक मेरा संबंध है, मैं जब कभी अपने भीतर गहराई में प्रवेश करता हूं तो मैं सदैव उष्ण या शीत, प्रकाश या छाया, प्रेम अथवा घृणा, सुख या दु:ख आदि किसी विशेष

प्रत्यक्ष का ही अनुभव करता हूं। मैं किभी भी प्रत्यक्ष के बिना आत्मा को किसी भी समय पकड़ नहीं सकता और न ही मैं प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी वस्तु को देख पाता हूं।' स्पष्ट है कि आतमा का ज्ञान अनुभव आधारित नहीं है। यहां ह्यूम के इस आत्मा संबंधी विचार में बौद्धों के अनात्मवाद की प्रतिछाया दिखाई देती हैं बौद्ध भी नित्य, शाश्वत, अपरिवर्तनशील आत्मा की सत्ता का खंडन करते हैं। इनके अनुसार आत्मा पंचस्कंधों का संघात है जिनमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। पाश्चात्य दर्शन में विलियम जेम्स ने भी आत्मा को 'चेतना के प्रवाह' के रूप में वर्णित किया है।

यहां ह्यूम के आत्मा संबंधी विचारों को देखने पर स्वभावत: यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि यदि आत्मा, परिवर्तनशील प्रत्ययों का संघात मात्र है, और ये सभी प्रत्यय एक-दूसरे से भिन्न है; तो फिर वैयक्तिक अनन्यता (Personal Identity) की व्याख्या कैसी की जाए?

हम एक वस्तु या मनुष्य को अलग अलग समय कई बार देखते हैं, और उसमें व्यापक परिवर्तन आ जाने के बाद भी हम यहीं कहते हैं कि यह वहीं वस्तु या मनुष्य हैं। वैयक्तिक अनन्यता की समस्या का संबंध इसी से है। संक्षेप में वैयक्तिक अनन्यता की समस्या किसी व्यक्ति को उसी व्यक्ति के रूप में पुन: पहचान की समस्या है। वैयक्तिक अनन्यता का शाब्दिक अर्थ है- अनुभव कर्ता के रूप में 'मैं' का निरंतर अस्तित्व बने रहना।

ह्यूम वैयक्तिक अनन्यता की व्याख्या स्मृति या सादृश्यता के आधार पर करते हैं। वास्तव में सारे प्रत्यक्ष एक दूसरे से पृथक होते हैं, वे एक दूसरे का अनुवर्तन करते हैं। परंतु स्मृति के फलस्वरूप हम कुछ प्रत्यक्षों में सादृश्यता का अनुभव करते हैं और उन्हें अलग अलग न मानकर उनके निरंतर अस्तित्व की कल्पना कर लेते हैं। हमारी यही कल्पना वस्तुओं एवं मनुष्यों की वैयक्तिक अनन्यता का मूल आधार है। स्पष्ट है कि ह्यूम के अनुसार वैयक्तिक अनन्यता सत् या वास्तविक न होकर स्मृति पर आधारित हमारी कल्पना मात्र है।

ह्यूम के अनुसार स्मृति के अतिरिक्त वस्तुओं एवं व्यक्तियों में बहुत धीमी गति से होने वाला परिवर्तन भी वैयक्तिक अनन्यता की कल्पना में सहायक है। हम ऐसे परिवर्तनों पर ध्यान नहीं दे पाते। परिणामस्वरूप कालान्तर में उनमें व्यापक परिवर्तन आ जाने के बाद भी हम यहीं कहते हैं कि यह वही मनुष्य या वस्तु है।

इस प्रकार ह्यूम के मत में एकात्मकता या सारूप्यता वस्तुगत नहीं है। वह हमारी कल्पना द्वारा आरोपित है। ऐसी कल्पना वस्तुत: एक भूल है।

आलोचना

1. कांट के अनुसार ह्यूम सादृश्यता के आधार पर वैयक्तिक अनन्यता (Personal identity) की व्याख्या करते हैं, परंतु यहां प्रश्न है कि इस सादृश्यता का अनुभव आखिर किसे होता है? एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय से सादृश्यता या समानता का अनुभव नहीं कर सकता। इसका तात्पर्य है कि आंतरिक अनुभव में कोई ऐसा तत्व अवश्य है जिसे परिवर्तन का ज्ञान होता है और उसे ही सादृश्यता का भी अनुभव होता है। यही तत्व आत्मा है।

2. विचार, विचारक के बिना नहीं हो सकता। ऐसे विचार या अनुभव नहीं होते जो स्वछंद हवा में विचरण कर रहे हों।

3. जॉन हॉस्पर्स के अनुसार, 'मुझे अनुभव का मात्र एक अनुभव के रूप में अनुभव नहीं होता, बल्कि मेरे अनुभव के रूप में अनुभव होता है' इससे सिद्ध होता है कि मैं अर्थात् आत्मा का अस्तित्व है।

4. यदि स्थायी आत्मा के अस्तित्व को नहीं माना जाए तो फिर स्मृति, प्रत्यभिज्ञा (Recognition) और ज्ञान की समुचित व्याख्या नहीं हो पाती। ज्ञान निरंतर विकसित होता रहता है। यदि कोई स्थायी आत्मा नहीं हो तो फिर ज्ञान में निरंतर होने वाले विकास की सम्यक् विवेचना नहीं की जा सकती।

5. यदि स्थायी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाए तो फिर व्यक्तित्व की पहचान का संकट उपस्थित हो जाता है। यह कैसे कहा जा सकता है कि यह व्यकित वही है जो वह बचपन या युवा अवस्था में था, अब वह वृद्धावस्था में है।

6. स्मृति अकेले नहीं रह सकती। स्मृति का स्मरणकर्ता अवश्य होना चाहिए, अर्थात् किसी स्थायी आत्मा का होना आवश्यक है।

7. स्थायी आत्मा को नहीं मानने पर अनुभवों में अंतर की व्याख्या नहीं हो पायेगी।

8. ह्यूम का आत्मा का खंडन विरोधाभासों से युक्त है। ह्यूम का कथन है कि '..... मैं आत्मा को कभी पकड़ नहीं सकता।' यहां 'मैं' का तात्पर्य उसी आत्म तत्व से है, जिसका ह्यूम खंडन करते हैं, ह्यूम जहां आत्मा को खोज रहे हैं, वहां आत्मा नहीं है, बल्कि जो खोज रहा है, वही आत्मा है।

9. वस्तुतः यदि सारे प्रत्यक्ष एक दूसरे से स्वतंत्र है, अवयवहीन है, तो फिर वे आखिर किस प्रकार आपस में संबंधित होते हैं? दूसरे शब्दों में यहां यह प्रश्न उठता है कि ऐसा कौन सा मूल तत्व या सिद्धांत है कि जो हमारे इन अलग अलग प्रत्यक्षों को परस्पर सम्बद्ध एवं संगठित करता है।

ह्यूम ने अपनी पुस्तक "A Treatise on Human Nature" के परिशिष्ट में स्वयं यह प्रश्न उठाया है और वे यहां यह कहते हैं कि इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं किया जा सकता। इस संबंध में उनका यह स्पष्ट कथन है कि –'मुझे ज्ञात है कि मेरा यह सिद्धांत दोषपूर्ण है.....।' आधुनिक तार्किक भाववादियों ने मन अथवा आत्मा की जो अनुभववादी व्याख्या की है उसमें भी यही कठिनाई विद्यमान है।

ईश्वर का निराकरण

ह्यूम की अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत बौद्धिक सृष्टिमीमांसा और बौद्धिक मनोविज्ञान के साथ-साथ बौद्धिक धर्मशास्त्र (Rational Theology) की स्थापना असंभव है। ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए पाश्चात्य दार्शनिकों ने अनेक तर्क दिये हैं। ह्यूम के अनुभव के आधार पर ईश्वर को जाना नहीं जा सकता है। यद्यपि अनेक लोग ईश्वर में श्रद्धा रखते हैं, तथापि तथाकथित ईश्वर की सत्ता अनुभव का विषय नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभूतियों के आधार पर ईश्वर के स्वरूप, गुण, शक्ति तथा प्रयोजन के विषय में कुछ नहीं प्रदर्शित किया जा सकता है। वस्तुतः मानव-बुद्धि ईश्वर से संबंधित समस्याओं का उत्तर देने में असमर्थ है।

ह्यूम ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए दी जाने वाली परंपरागत युक्तियों का खण्डन किया है। इस दृष्टि से वह **काण्ट** का पूर्वगामी है। **सत्तामूलक तर्क का खण्डन करते** हुए ह्यूम कहता है कि किसी वस्तु के अस्तित्व को उस वस्तु के प्रत्यय के द्वारा नहीं सिद्ध किया जा सकता है। प्रत्ययों के विश्लेषण से केवल प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों का ही ज्ञान हो सकता है। ह्यूम की ज्ञानमीमांसा में इसे (प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों का ज्ञान)

आकारिक ज्ञान की कोटि में ही रखा जा सकता है। इसका वास्तविक तथ्यों से कोई संबंध नहीं हो सकता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों पर आधारित अनुमान (आकारिक ज्ञान) किसी वस्तु की यथार्थ सत्ता को सिद्ध नहीं कर सकता है। अत: किसी वस्तु के प्रत्यय के आधार पर उसके यथार्थ अस्तित्व को नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

ह्यूम के अनुसार **कारणतामूलक अथवा सृष्टिमूलक युक्ति** के आधार पर भी ईश्वर के अस्तित्व को नहीं सिद्ध किया जा सकता है। सृष्टि के प्रारंभिक कारण के रूप में ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। हम ईश्वर पर पूर्णता और असीमित होने का विशेषण आरोपित कर देते हैं, किन्तु विश्व को कार्य मान लेने पर भी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि इस विश्व रूपी कार्य का कारण ईश्वर ही होगा। ह्यूम के अनुसार, चूँकि हमें ईश्वर के गुणों एवं चमत्कारों का अनुभव नहीं हो सकता है, इसलिए अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता है। वस्तुत: संस्कारों से परे ईश्वर के प्रत्यय को वास्तविक नहीं कहा जा सकता है।

विश्व की भौतिक व्यवस्था, सौन्दर्य और सामंजस्यपूर्ण प्राकृतिक व्यापारों के आधार पर भी ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। इसे दर्शन के क्षेत्र में **प्रयोजन मूलक तर्क** कहा जाता है। इस तर्क का खण्डन करते हुए ह्यूम कहता है। कि जब तक दो चीजों में समानता न हो, तब तक हम अनुमान की वैधता को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर सकते हैं। संपूर्ण विश्व की व्यवस्था का सादृश्य किसी महल, जहाज एवं यंत्र (Machine) से करना एक **दूषित साम्यानुमान** है। किसी मकान को देखकर यह कहा जा सकता है कि उसका कोई निर्माता है, किन्तु संपूर्ण विश्व के निर्माता का अनुमान भवन-निर्माता की समानता के आधार पर कैसे लगाया जा सकता है? वस्तुत: एक भवन और संपूर्ण विश्व में पर्याप्त अंतर है। अत: ह्यूम ने इस असमानता के आधार पर **साम्यानुमानिक युक्ति** को अस्वीकार कर दिया। वास्तव में, मानवारोपित गुणों के आधार पर ईश्वरीय गुणों का अनुमान करना मनुष्य की कल्पना मात्र है। यहाँ तक कि यह विश्व भी अपूर्ण है। यदि विश्व को पूर्ण भी माना जाय तो इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि विश्व (कार्य) की समस्त विशेषताएँ उसके कारण (ईश्वर) में अनिवार्यत: निहित हैं। ह्यूम के अनुसार यदि विश्व की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था के आधार पर ईश्वर का अनुमान किया जाय तो यह एक सीमित और अपूर्ण सत्ता का ही अनुमान हो सकता है। अत: ह्यूम के अनुसार किसी सीमित कार्य की रचना के लिए एक असीमित कारण को मानने का कोई औचित्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त **साम्यानुमान** का निराकरण करते हुए ह्यूम कहता है कि विश्व की रचना और एक भवन की रचना में सादृश्य को माना भी जाय तो हम एक ऐसी विसंगति में उलझ जाते हैं जिसका कोई भी समाधान नहीं मिल सकता है। किसी भवन की रचना के लिए अनेक कारीगरों और मजदूरों (अर्थात् अनेक मनुष्यों) की आवश्यकता होती है। प्रश्न उठता है कि क्या इस विश्व की रचना के लिए भी अनेक ईश्वरों (Gods) की आवश्यकता का अनुमान नहीं किया जा सकता है? वस्तुत: इस साम्यानुमान के आधार पर अनेक ईश्वरों को जगत् की व्यवस्था का नियामक और रचनाकार माना जा सकता है। स्पष्ट है कि अनेक ईश्वरों की मान्यता तर्कत: दोषपूर्ण है। ह्यूम ने नैतिक तर्क के आधार पर ईश्वर की सत्ता को मानने से इनकार किया है। हम ऐसी सत्ता का अनुमान नहीं लगा सकते हैं जिसमें मनुष्य के सदृश्य नैतिक गुण हों। विश्व में सुख की अपेक्षा अधिक दु:ख एवं संताप का होना यह सिद्ध करता है कि या तो ईश्वर करुणामय (Merciful) नहीं है अथवा वह सर्वशक्तिमान

नहीं है। विश्व में व्याप्त अशुभ ईश्वर की दयाशीलता और सर्वशक्तिमत्ता का निषेध करने के लिए पर्याप्त है। अत: ईश्वर को सिद्ध करने के लिए दिए गए तर्क और उसमें अनेक सद्गुणों का अरोपण मनुष्य के मन की कल्पना मात्र है। हमारा अनुभव सीमित, अपूर्ण और संदिग्ध होता है। अत: अनुभव के आधार पर ईश्वर के बारे में कोई निश्चित एवं निर्णायक निष्कर्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वस्तुत: ईश्वर में आस्था, सत्य के प्रति निष्ठा, सृष्टि की रचना को प्रोयजनपूर्ण मानना इत्यादि मनुष्य के सुख की आकांक्षा, भविष्यकालिक दु:ख के भय, मृत्यु की विभीषिका का भय एवं भूख, प्यास, अन्न-जल आदि आवश्यकताओं पर आश्रित हैं। धार्मिक मान्यताओं को मनुष्य अपने अनुभव एवं बुद्धि के आधार पर सिद्ध नहीं कर सकता है। अत: अनुभववाद हमें संशयवाद की ओर ले जाता है।

द्रव्य का निराकरण

ह्यूम के पूर्ववर्ती दार्शनिक लॉक ने संवेदनों के स्त्रोत के रूप जड़ द्रव्य की सत्ता को स्वीकार किया। जड़ द्रव्य के साथ-साथ उसने आत्मा और ईश्वर के अस्तित्व का भी प्रतिपादन किया। लॉक के दर्शन में जड़ द्रव्य अनुमान का विषय है, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है। इसके विपरीत बर्कले ने अनुभववाद को स्वीकार करते हुए जड़ द्रव्य की सत्ता का निराकरण कर दिया। उसके अनुसार हमारा अनुभव संवेद्य गुणों तक ही सीमित है। वह संवेद्य प्रत्ययों के आश्रय ज्ञाता आत्मा और ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करता है। इस संदर्भ में बर्कले का 'सत्ता दृश्यता है' सिद्धांत ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। लॉक और बर्कले के विपरीत ह्यूम किसी भी तत्त्व की सत्ता को नहीं स्वीकार करता है। वह जड़ द्रव्य के साथ-साथ आत्मा और ईश्वर की सत्ता का भी खंडन करता है। **ह्यूम के अनुसार हम बाह्य जड़ द्रव्य की सत्ता को संवेदनों के कारण के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते हैं। कारण-कार्य संबंध की अनिवार्यता को न तो तर्कबुद्धि के आधार पर और न इन्द्रियानुभव के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है।** मन में प्रत्यक्षों के अतिरिक्त अन्य कोई चीज प्रतीत नहीं हो सकती है। **यदि हम जड़ द्रव्य से मूलगुणों एवं उपगुणों को हटा दें तो वह एक अज्ञात और अवर्णनीय 'कुछ नहीं' अथवा असत्** (Nothing) रह जाता है। इस अज्ञात जड़द्रव्य का कोई अर्थ नहीं रह जाता है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है। कारणात्मक अनुमान के द्वारा हम संवेदनाओं से बाह्य जड़ द्रव्य का अनुमान नहीं कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं जिसके आधार पर संवेदनाओं की उत्पत्ति अज्ञात जड़ द्रव्य अथवा चेतन आत्मा एवं परमात्मा के द्वारा मानी जा सके। हमारी प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ सामान्यत: आती हैं और आती हैं, किन्तु इन अनुभूतियों से परे किसी अतीन्द्रिय तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता है। ह्यूम के अनुसार हम अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण ही इन्द्रियों पर विश्वास करते हैं। बिना किसी सम्यक् चिंतन अथवा ज्ञान के ही हम बाह्य जगत् के अस्तित्व में विश्वास करने लगते हैं। हम अपने संस्कार एवं प्रत्यय के द्वारा किसी प्रकार के द्रव्य का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार रूप, स्वाद, स्पर्श, गंध आदि के संवेदनों के द्वारा द्रव्य का कोई ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं। यदि द्रव्य की प्रतीति आँखों से होती तो उसका कोई रूप होता। यदि उसकी प्रतीति जिह्वा से होती तो उसका कोई स्वाद होता, इत्यादि। किन्तु कोई भी व्यक्ति द्रव्य को न तो रूपवान, न स्वाद से युक्त और न शब्द से युक्त मानता है। इसी प्रकार स्वसंवेदनों एवं उनके संस्कारों से भी द्रव्य का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि स्वसंवेदन संस्कार एक भावना (मनोवेग) है। इस प्रकार ह्यूम का दावा है कि द्रव्य का ज्ञान आंतरिक अनुभूतियों, संवेगों और भावनाओं से नहीं हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य का प्रत्यय काल्पनिक है।

ह्यूम के अनुसार प्रत्येक वस्तु विभिन्न गुणों का संघात मात्र है। रूप, रस, स्पर्श, गंध और गुणों का अनुभव करने पर हम इन सब गुणों के समूह को ही द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य को विभिन्न गुणों का आश्रय मान लिया जाता है। किन्तु संवेद्य गुणों के अतिरिक्त किसी गुणी की सत्ता को मानने का कोई तार्किक आधार नहीं है। अतः द्रव्य की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। तर्कबुद्धि के आधार पर द्रव्य संबंधी विश्वासों का परित्याग करना ही समीचीन प्रतीत होता है। वास्तव में, हमारे मन में एक सहज प्राकृतिक विश्वास है जो द्रव्य में विश्वास करने की प्रेरणा प्रदान करता है। किन्तु तार्किक दृष्टि से मानव-मन संशयग्रस्त हो जाता है, अर्थात् तर्कबुद्धि के आधार पर बाह्य जगत् में विश्वास युक्तिपूर्ण नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति इस जगत् में विश्वास करने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण हम बाह्य जगत् में विश्वास करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

संशयवाद/संदेहवाद (Scepticism)

ब्रिटिश अनुभववादी ह्यूम, लॉक एवं बर्कले की परंपरा के अनुभववादी दार्शनिक है। इनके दर्शन में लॉक एवं बर्कले द्वारा प्रतिपादित अनुभववाद संशयवाद की ओर उन्मुख हो जाता है। लॉक अनुभववाद के पथ पर चलते हुए वस्तुवाद की स्थापना करते हैं। बर्कले प्रत्ययवाद का प्रतिपादन करते हैं, वहीं ह्यूम अनुभव के पथ पर दृढ़ता से बढ़ते हुए संशयवाद में पहुंच जाते हैं।

संशयवाद ऐसा ज्ञान-मीमांसीय सिद्धांत है जिसके अनुसार अनुभव से निश्चित एवं असंदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। हमारा समस्त आनुभविक ज्ञान संभाव्य ज्ञान है, संदेहात्मक ज्ञान है। संशयवाद निश्चित एवं असंदिग्ध निर्णय की संभावना से इंकार करता है। ह्यूम के अनुसार अनुभव से हमें केवल संभाव्य ज्ञान प्राप्त होता है, निश्चित एवं अंसदिग्ध ज्ञान नहीं। उल्लेखनीय है कि ह्यूम के पूर्व डेकार्ट ने भी संशय को एक संदर्भ में स्वीकार किया था परंतु डेकार्ट का संशय उनके दर्शन का आरंभ है, अंत नहीं है। निश्चित एवं असंदिग्ध ज्ञान प्राप्ति का साधन है, साध्य नहीं है। डेकार्ट के रूप में संशय की स्थिति उभरती है। ह्यूम के अनुभववाद की चरम परिणति संशयवाद में होती है। इस संशयवाद के अनुसार हमारा समस्त आनुभविक ज्ञान संभाव्य ज्ञान है। संदेहात्मक ज्ञान है। इस रूप में ह्यूम का संशवाद डेकॉर्ट की संशय विधि से भिन्न है।

ह्यूम अनुभववादी है। वे इन्द्रिय संस्कारों एवं विज्ञानों (प्रत्यय) के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता को नहीं मानते। ह्यूम के अनुसार संस्कार एवं प्रत्ययों से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। संस्कार एक दूसरे से पृथक पृथक होते हैं। इनमें कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। अब यदि इनमें अनिवार्य संबंध न हो तो फिर निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति की व्याख्या नहीं होगी। पुनः ज्ञान वस्तुओं के बीच कारण कार्य की संबद्धता के द्वारा प्राप्त होता है। पर न तो वस्तु का ज्ञान संभव है। और न ही कारण कार्य के मध्य अनिवार्य संबंध। ऐसी स्थिति में ज्ञान की संभावना क्षीण होने लगती है।

कारण कार्य की अनिवार्यता के खंडन से वैज्ञानिक ज्ञान, जागतिक ज्ञान, प्रत्ययात्मक ज्ञान आदि की भी अनिवार्यता एवं सार्वभौमता खंडित हो जाती है। ह्यूम कहते हैं कि हमारा समस्त ज्ञान संभाव्य एवं सापेक्ष होता है, न कि निश्चित एवं निरपेक्ष। ह्यूम की इस अवधारणा के आधार पर ही उन्हें संशयवादी कहा जाता है।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि लॉक का अनुभववाद कैसे ह्यूम के दर्शन में संशयवाद में परिवर्तित हो गया है। इसका विशेष कारण यह है कि लॉक के द्वारा प्रतिपादित अनुभववाद की नींव तो अनुभववादी है, परंतु आदर्श बुद्धिवादी है। लॉक के अनुसार ज्ञान को अनिवार्य, असंदिग्ध एवं सार्वभौम होना चाहिए, परंतु ह्यूम ने यह स्पष्ट कर दिया कि अनुभव पर आधारित ज्ञान अनिवार्य, असंदिग्ध एवं सार्वभौम नहीं हो सकता, परिणामस्वरूप संदेहवाद की स्थापना होती है। पुनः लॉक के दर्शन में ज्ञात वस्तु व वास्तविक वस्तु में द्वैत स्थापित किया गया जिसकी चरम परिणति ह्यूम के संशयवाद में होती है।

यहाँ यह प्रश्न प्रबलता के साथ उभरता है कि क्या यह आवश्यक है कि वही ज्ञान ज्ञान माना जाये जो अनिवार्य व सार्वभौम हो?

समसामयिक अनुभववाद की दो धाराएं हैं-

1. तार्किक प्रत्यक्षवाद (Logical Positivism) और

2. प्रैग्मेटिज्म (Pragmatism)

ये दोनों धाराएं यह मानती हैं कि तथ्यात्मक ज्ञान का अनिवार्य एवं सार्वभौम होना ज्ञान का लक्षण नहीं है। इनके अनुसार हम किसी भी वास्तविक ज्ञान को ज्ञान तभी कह सकते हैं, जब उसके सत्य होने की संभावना विशेष रूप से हो। अतः इन दोनों मतों के अनुसार यदि हम यह मान लें कि संभाव्य ज्ञान भी ज्ञान है तो फिर अनुभववाद को संदेहवाद में परिणित होने की आवश्यकता नहीं होगी।

अतः यह आवश्यक नहीं है कि अनुभववाद की चरम परिणति संदेहवाद में ही हो। यदि संभाव्य ज्ञान भी ज्ञान है तो फिर अनुभव द्वारा संदेहवाद की नहीं, बल्कि ज्ञान की स्थापना होगी। परंतु यदि अनिवार्य, असंदिग्ध एवं सार्वभौम ज्ञान को ज्ञान का लक्षण माना जाए तो फिर अनुभववाद संदेहवाद में परिणित होगा।

क्या ह्यूम वास्तव में संशयवादी हैं?

ह्यूम ने यद्यपि जड़, जगत, आत्मा, ईश्वर, कारण-सिद्धांत की अनिवार्यता आदि पर संदेह किया है, परंतु फिर भी उन्हें पूर्ण संदेहवादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कम से कम उन्होंने अपनी विधि एवं निष्कर्ष पर संदेह नहीं किया है। वास्तव में पूर्ण संशयवाद संभव नहीं है। 'सब कुछ संदेहमय है' ऐसा कहने वाला भी कम से कम अपने इस कथन को संदेह से परे मानता है।

ह्यूम अपनी आरंभिक रचना 'ट्रीटाइज' (Treatise) मे स्पष्ट रूप से संदेहवादी नजर आते हैं, परंतु अपनी दूसरी रचना "An Enquiry Concerning Human Understanding" में वे मानते हैं कि कम से कम तर्कशास्त्र एवं गणित में संशय का कोई स्थान नहीं है। यहां वे अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान को स्वीकार करते हैं। इस ज्ञान का संबंध तथ्यात्मक ज्ञान से न होकर प्रत्ययों के मध्य संबंध के ज्ञान (Knowledge of Relation of Ideas) से है।

वस्तुतः ह्यूम दार्शनिक एवं सैद्धांतिक दृष्टिकोण से संशयवाद के समर्थक हैं, परंतु व्यावहारिक दृष्टिकोण से उनका यह मानना है कि इसका पालन न तो संभव है और न ही वांछनीय। वस्तुतः ह्यूम दैनिक जीवन के विचारों के प्रति संशयवादी नहीं थे। वे दार्शनिक हठवादिताओं एवं पंथों के प्रति संशयवादी हैं। ह्यूम का यह सयसंशवाद उग्रसंशयवाद न होकर 'विनम्र संशयवाद' (Mitigated Scepticism) हैं, वे इसे 'शास्त्रीय संशयवाद' (Academic

Scepticism) कहते हैं। अपने संशयवाद के माध्यम से ह्यूम दर्शन के क्षेत्र में पूर्वाग्रहों एवं अंध- विश्वासों को हटाना चाहते हैं। उनका यह संशयवाद मनुष्य की कल्पना शक्ति की अनियंत्रित उड़ान को वास्तविकता के धरातल पर लाने का प्रयास है।

इस संदर्भ में ह्यूम का स्पष्ट कथन है कि 'दार्शनिक बनो, तथा दार्शनिक बनने के साथ साथ एक आदमी भी बनो।' अर्थात् दार्शनिक चिंतन में इतना लीन न हो जाओ कि अपनी सहज प्रवृत्तियों को नकारने लगो।

ह्यूम के अनुसार यह संशय आवश्यक एवं उपयोगी दोनों है। संशयवाद आवश्यक इसीलिए है क्योंकि यह उन सिद्धांतों एवं विद्वानों के अहंकार को समाप्त करने में समर्थ है जो बुद्धि द्वारा सब कुछ जान लेने का दावा करते हैं। ऐसे व्यकितयों के लिए संशयवाद की कुछ मात्रा का होना आवश्यक है, क्योंकि संशयवाद ही यह बतलाता है कि ज्ञान के साथ सदैव अज्ञान लगा रहता है। कोई ज्ञान पूर्णत: संदेहमुक्त नहीं होता।

संशयवादवाद उपयोगी भी है क्योंकि यह हमें रूढ़िवाद एवं अंधविश्वास से बचाता है। यह संशयवाद हमारे ज्ञान की सीमा का निर्धारण करता है। अत: ह्यूम के अनुसार संशयवाद कुछ मात्रा में लाभदायक है।

ह्यूम ज्ञान के क्षेत्र के अतिरिक्त नैतिकता और धर्म के क्षेत्र में भी संशयवाद के अनुरूप आचरण को आवश्यक मानते हैं। इनके अनुसार नैतिकता और धर्म तर्क अथवा बुद्धि पर आध ारित न होकर क्रमश: भावना तथा आस्था पर ही आधारित होते हैं। अत: इनके विषय में हम कोई वस्तुगत एवं निश्चित मानदंड प्रस्तुत नहीं कर सकते। अपने सीमित अनुभव एवं ज्ञान के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व तथा उसके गुणों एवं शक्तियों के संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। आगे चलकर कांट ने भी यह माना कि आत्मा की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व आदि अनुभव एवं तर्क पर आधारित न होकर आस्था पर आधारित है।

इस प्रकार ह्यूम के विचार में ज्ञान की भांति नैतिकता और धर्म के संबंध में भी संशयवाद को स्वीकार करना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है।

आगमन के संबंध में ह्यूम के विचार (Hume's view on Induction)

आगमन में भविष्य के संदर्भ में अनुमान किया जाता है। इसमें विशेष घटनाओं के बार बार प्रत्यक्षीकरण के आधार पर उनमें सार्वभौम संबंध की स्थापना की जाती है। दूसरे शब्दों में, आगमन में विशेष से सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं। आगमन में निष्कर्ष सदैव आधार वाक्यों से अधिक व्यापक होता है।

ह्यूम के अनुसार आगमन के निष्कर्ष में अनिवार्यता एवं सार्वभौमता नहीं होती। आगमन के निष्कर्ष हमें केवल संभाव्य ज्ञान प्रदान करते हैं, जिनपर तर्कत: संदेह किया जा सकता है। ह्यूम निम्नलिखित आधारों पर आगमन के निष्कर्ष की निश्चयात्मक का खंडन करते हैं।

1. अनुभव में हमें संस्कार प्राप्त होते हैं। ये संस्कार पृथक पृथक, मौलिक एवं विशिष्ट होते हैं। इनमें परिवर्तन होता है। ये निरंतर एक दूसरे का अनुवर्तन करते रहते हैं। इनमें कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता। ह्यूम इसी आधार पर आगमन से प्राप्त निष्कर्ष की निश्चितता का खंडन करते हैं। अनके अनुसार जब हम दो घटनाओं को बार बार एक दूसरे के बाद क्रमिक रूप से आते हुए देखते हैं तो फिर यह हमारी मानसिक आदत पड़ जाती है कि एक को देखते

हैं कि हम दूसरे आ अनुमान करने लगते हैं तथा इन घटनाओं के मध्य अनिवार्य एवं सार्वभौम संबंध की व्याख्या करने लगते हैं। हम आत्मनिष्ठ रूप से इनके मध्य संबंध की स्थापना कर लेते हैं। वास्तव में आगमन से प्राप्त निष्कर्ष मानसिक आदत का परिणाम है। इस पर हम तर्कत: संदेह कर सकते हैं और ऐसा करने पर कोई व्याघात उत्पन्न नहीं होता।

2. अनुभव व्यक्तिगत एवं घटना विशेषों का होता है। इसके आधार पर सार्वभौम संबंध की स्थापना निश्चयात्मक रूप से नहीं की जा सकती। अगर हम कुछ घटनाओं के आधार पर सार्वभौम निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेंगे तो फिर वहां अवैध सामान्यीकरण का दोष (Fallacy of illicit generalization) उत्पन्न होगा।

3. ह्यूम यहां इस संदर्भ में प्रकृति की समरूपता के नियम (Law of uniformity of nature) का भी खंडन करते हैं। यह नियम यह मानता है कि भविष्य अतीत जैसा ही होगा। ह्यूम के अनुसार यह नियम स्वयं एक प्रकार का अनुमान है। इसके आधार पर आगमन को सिद्ध करने पर 'चक्रक दोष' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

आगमन अनुभव पर आधारित होता है। चूंकि ह्यूम आगमन से प्राप्त निष्कर्ष की अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता का खंडन करते है, परिणामस्वरूप उनका दर्शन संशयवाद की ओर उन्मुख हो जाता है।

ह्यूम का फेनोमेनोलिज्म (Phenomenalism) या दृश्य प्रपंचवाद

फेनोमेनोलिज्म का संबंध प्रधानत: अनुभववादी ज्ञानमीमांसा से है। इसके अनुसार ज्ञान केवल प्रतीतियों (Phenomena) तक सीमित रहता है। हमें इसके पीछे की किसी सत्ता का ज्ञान नहीं होता। दृढ़ अनुभववादी ह्यूम के दर्शन में यह स्थिति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इनके अनुसार हमारा समस्त ज्ञान संस्कार एवं प्रत्यय तक ही सीमित रहता है। इन संस्कारों एवं प्रत्यय के कारण का निश्चित रूप से उत्तर नहीं दिया जा सकता। उल्लेखनीय है कि लॉक के दर्शन में ज्ञात प्राथमिक गुणों के आधार के रूप में जड़ द्रव्य की सत्ता को स्वीकार कर लिया था, वहीं बर्कले प्रत्यक्षित प्रत्ययों के कारण एवं आधार के रूप में आत्मा एवं ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। ह्यूम इस संदर्भ में किसी निश्चित कारण की अवधारणा को स्वीकार नहीं करते। ह्यूम के अनुसार कारणता-सिद्धांत एक मनोवैज्ञानिक विश्वास है, इसमें न तो वस्तुनिष्ठता है और न ही अनिवार्यता। इसी कारण ह्यूम का फेनोमेनोलिज्म तत्वमीमांसा की वैधता पर प्रश्नचिह्न उत्पन्न कर देता है। यहां जड़-द्रव्य के साथ साथ आत्म-द्रव्य का भी निषेध किया गया है।

फेनोमेनोलिज्म का व्यवस्थित रूप कांट के दर्शन में दिखाई देता है। ह्यूम के संशयवाद से दर्शन एवं विज्ञान को बचाने के लिये कांट ने संवृत्ति (Phenomena) एवं परमार्थ (noumena) का भेद स्वीकार किया। इनके अनुसार देश और काल के माध्यम से फेनोमेना का ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरी ओर न्यूमेना अज्ञात एवं अज्ञेय है। यहां कांट फेनोमेना के स्तर पर निश्चयात्मक ज्ञान की संभावनाओं को मानकर ह्यूम के संशयवाद से विज्ञान एवं व्यावहारिक ज्ञान की रक्षा करते हैं। कांट न्यूमेना को देश-काल से परे और वस्तु का अपना वास्तविक स्वरूप मानते हैं। परंतु वे इसे अज्ञात और अज्ञेय मानकर अंतत: पारमार्थिक अज्ञेयवाद (Transcendental Agnosticism) की ओर उन्मुख हो जाते हैं।

आवेग

ह्यूम ने भावावेश शब्द का प्रयोग सभी भावनाओं और प्रभावों को समाहित करने के लिए किया है। ह्यूम ने भावावेशों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भावावेशों में विभाजित किया है।

प्रत्यक्ष भावावेश

प्रत्यक्ष भावावेश वे हैं जो प्रसन्नता या पीड़ा से तुरंत उत्पन्न होते हैं। ह्यूम ने इच्छा, द्वेष, शोक, हर्ष, आशा, भय, नैराश्य और सुरक्षा आदि को इस श्रेणी में रखा है। उदाहरण के लिए, गठिया की पीड़ा प्रत्यक्ष भावावेश उत्पन्न करती है। ह्यूम ने ऐसे भावावेशों के बारे में भी बताया है जो प्राकृतिक आवेगों या प्रवृत्तियों से उत्पन्न होते हैं। इनका आकलन करना सम्भव नहीं है। इसके अन्तर्गत शत्रुओं के लिए दण्ड की इच्छा और मित्रों के लिए प्रसन्नता, भूख, लिप्सा और कुछ अन्य शारीरिक इच्छाएं आती हैं।

अप्रत्यक्ष भावावेश

अप्रत्यक्ष भावावेश साधारणतया प्रसन्नता और पीड़ा के अनुभव से उत्पन्न नहीं होते बल्कि जिसे ह्यूम संस्कार और प्रत्यय का दोहरा सम्बन्ध कहते हैं, से उत्पन्न होते हैं। सबसे मूल अप्रत्यक्ष भावावेश गर्व, विनम्रता, प्रेम और घृणा हैं लेकिन वे महत्वाकांक्षा, दम्भ, ईर्ष्या, दया और दुर्भावना को भी समाहित करते हैं। साधारणतया भावावेश के विषय प्रेम और घृणा को गर्व और विनम्रता से पृथक करते हैं। जैसे मैं अपने शरीरा और मन या कोई अन्य वस्तु को लेकर गर्व का अनुभव करता हूँ, क्योंकि यह कुछ प्रसन्न करने वाले गुणों जैसे मेरा रूप, मेरी बुद्धिमत्ता मेरा बड़ा घर, मेरे द्वारा बनाया गया सुंदर रंगीन चित्र, मेरे सुन्दर कार्यालय आदि को धारण करता है। मैं उन्हीं कारणों से किसी को प्रेम या सम्मान देता हूँ अन्यथा, ये भावावेश समान दोहरे सम्बन्ध की संरचना प्रकट करते हैं। गर्व और विनम्रता का विषय आत्मा है।

संकल्प

ह्यूम संकल्प (इच्छा) को प्रसन्नता और पीड़ा का त्वरित प्रभाव बताते हैं। वह इसकी हमारे सचेत होकर शरीर को गति प्रदान करने या मन में नया संस्कार ग्रहण करने से उत्पन्न आन्तरिक संस्कारों की चेतना या अनुभूति के रूप में व्याख्या करते हैं। ह्यूम के अनुसार, संकल्प-शक्ति अनुभव है, मानसिक या शारीरिक क्रिया के परिणाम स्वरूप अनुभूत उत्तेजनाएं हैं। वे पूर्णरूपेण अनुभूतियां (अनुचिन्तन के संस्कार) है जो अन्य से पृथकता के सिद्धांत से पृथक हैं, पूर्ण रूप से पृथक रहने योग्य हैं। इस रूप में, वे पूर्णतः अपरिभाष्य है : जैसे सुगंध। ह्यूम के अनुसार, भावावेश, संकल्प के लिए प्रेरित करने का विरोध, अवरोध या किसी प्रकार से इसे कम नहीं कर सकती है। यह केवल कुछ नये भावावेश उत्पन्न करके अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा कर सकती है, जैसे तब जब यह व्यक्ति को सूचित करती है कि इच्छा का विषय अप्राप्य है, या फिर एक दूसरे ढ़ग से क्रिया करने से ही प्राप्य है, जिसके उपरान्त व्यक्ति वर्तमान भावावेश के अनुकूल या प्रतिकूल क्रिया करता है। इसलिए भावावेश ही इच्छा को प्रेरित करता है, बुद्धि भावावेश की दास है या उसे भावावेश का दास होना चाहिए।

स्वतंत्र संकल्प का खण्डन

ह्यूम के अनुसार, स्वतंत्र संकल्प वह होता है जो बिना सोचे-समझे और अनियमित रूप से कार्य करे और किसी अन्य की इच्छा और विश्वास से स्वतंत्र हो। इस प्रकार, उसके अनुसार, यह सौभाग्य है कि अनुभव यह बताता है कि कोई स्वतंत्र संकल्प नहीं है, बल्कि सभी भावावेशों के अधीन रह कर कार्य करते हैं। फिर चाहे वे भावावेश शान्तिपूर्ण हो या उग्र, लाभ या हानि कारक, बुद्धि के अनुकूल हो या प्रतिकूल। संकल्प कारण रूप में, जहाँ तक शरीर और मन इच्छा से नियंत्रित होते हैं, स्वतंत्र है। यदि यह शरीर और मन इच्छा के अनुरूप प्रतिक्रिया न दे या किन्हीं बाह्य कारणों से संचालित हो तो व्यक्ति स्वतंत्र नहीं कहला सकते। इसके विपरीत, संकल्प तभी मुक्त है जब यह किसी कारण, जिसमें किसी के अपने भावावेश और विश्वास भी सम्मिलित है, से संचालित न हो और ये अनिश्चित ढ़ंग से कार्य करता हो। दूसरे प्रकार की स्वतंत्रता की इच्छा कोई नहीं करेगा और अनुभव सिद्ध है कि ऐसा है भी नहीं।

स्वतंत्रता की समस्या

ह्यूम स्वीकार करते हैं कि स्वतंत्रता की समस्या कुछ सीमा तक एक भाषागत समस्या है। इस अर्थ में कि स्वतंत्रता को यदि अनिवार्यता से पृथक करके परिभाषित किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप, यदि स्वतंत्रता को स्वच्छन्दता के रूप में समझा जाये तो स्वतंत्रता है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि मानव की नैतिक कर्ता के रूप में बहुत सारी क्रियाएं बिना किसी बाह्य बाध्यता के प्रारंभ होती हैं। ह्यूम कहते हैं कि यदि इस प्रकार की मुक्त क्रियाएं केवल संयोग मात्र हैं और किसी कार्यकर्ता से संचालित नहीं हैं, तब ईश्वर अथवा मानव के लिए किसी मानव को उसके बुरे और निमर्म कृत्यों के लिए दोषी ठहराना और इस आधार पर उसके नैतिक कृत्यों की आलोचना करना अन्यायपूर्ण होगा। स्वतंत्रता को स्वच्छन्दता में परिवर्तित करके ह्यूम ने दो तार्किक कथनों की सत्यता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। पहला तार्किक कथन यह है कि बुद्धि अकेले कभी भी संकल्प की क्रिया का प्रयोजन नहीं होती है, और दूसरा यह है कि बुद्धि कभी भी भावावेश के इच्छानुरूप होने में विरोध नहीं कर सकती है। यह स्पष्ट है कि जब कोई वस्तु प्रसन्नता या पीड़ा उत्पन्न करती है तो हम उसके प्रति आकर्षण या द्वेष की भावना का अनुभव करते हैं और उसे प्राप्त करने के लिये लालायित होते हैं। किन्तु जो आवेग क्रिया को संचालित करता है वह बुद्धि द्वारा निर्देशित होता है; वह इससे उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार ह्यूम निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि बुद्धि का अपना कोई त्वरित प्रभाव नहीं है तो यह किसी ऐसे सिद्धांत, जैसे कि भावावेश; जो प्रभावोत्पादकता रखता है, का प्रतिरोध भी नहीं कर सकती। इस दृष्टिकोण को दृढ़ करने के लिये कि बुद्धि भावनाओं की दासी है ह्यूम बताते हैं कि अकेली बुद्धि व्यवहार को प्रभावित नहीं कर सकती बल्कि यह भावनाएं या अनुराग हैं जो क्रियाओं के आधार स्तंभ हैं।

धर्म

ह्यूम ने किशोर अवस्था में पढाये गये धर्म के काल्विनवादी सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया। पारंपरिक काल्विनवाद को अस्वीकार करने से धर्म उसके लिए एक बाह्य घटना बन गयी और वह एक अधार्मिक मनुष्य हो गये। इसके अतिरिक्त, वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि धर्म का प्रभाव लाभकारी नहीं है और धर्म ने नैतिकता को विकृत कर दिया है क्योंकि यह व्यक्तियों को सद्गुण के प्रति प्रेम से संचालित होने की अपेक्षा किन्हीं अन्य उद्देश्यों से

संचालित होने के लिये प्रेरित करता है। ह्यूम के अनुसार, धर्म विपत्ति का भय, लाभ और हानि की प्रत्याशा जैसे आवेगों से उत्पन्न होता है और ये आवेग सदैव किसी अदृश्य और बौद्धिक शाक्ति की ओर संचालित होते हैं। समय के साथ-साथ मनुष्य ने धर्म को बौद्धिक बनाने और इसमें विश्वास के पक्ष में तर्क देने का प्रयास किया। ह्यूम ने ईश्वर के अस्तित्व के लिए तत्वमीमांसीय तर्कों की वैधता को अस्वीकार कर दिया। अर्थात् उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व के लिए तत्वमीमांसिय तर्कों की प्रस्तुति को अस्वीकार कर दिया। उनके डॉयलाग्स से स्पष्ट है कि वे ऐसे किसी भी प्रकार के तर्कों को पसन्द नहीं करते थे जो सिद्धांतिक रूप से मानव की कृत्रिम रचना और जगत की संरचना की सादृश्यता के तर्क पर आधारित थे। वस्तुत: ह्यूम ने एक तटस्थ निरीक्षक के रूप में यह मानते हुए कि धर्म दैवीय प्रकाशन पर आधारित है, जबकि दैवीय प्रकाशन में व्यक्तिगत रूप से उनका निश्चित रूप से कोई विश्वास नहीं था, ईश्वरवाद की बौद्धिक विश्वसनियता का परीक्षण किया। उनकी जाँच का परिणाम यह हुआ कि धार्मिक परिकल्पना एक ऐसे विषय के रूप में सिमट कर रह गयी जिसे जानना या उसे कोई नाम देना कठिन है। अत: धर्म की विषयवस्तु अनेकार्थ है।

ह्यूम लॉक इस विचार से सहमत थे कि एक अपरमित बुद्धिमान, कुशाग्र और शुभ ईश्वर के विचार की उत्पत्ति मानव मन की चिंतन प्रक्रिया से, मानवीय अच्छाइयों और बौद्धिकता को असीमित स्तर तक बढ़ाने से होती है। तथापि उसने यह भी कहा कि एक प्रत्यय के रूप में इस परिभाषा को समझने का प्रयास करना अरूचिकर और कठिन है। इस प्रकार ह्यूम ने उसी तरह से समाप्त किया जैसे अधिकांश धर्मपरायण एकेश्वरवादी दैवीय प्रकृति को न समझने योग्य पर बल देकर करते हैं।

धार्मिक विश्वास

यह स्थापित करने के उपरान्त कि किसी के पास ईश्वर का स्पष्ट प्रत्यय नहीं है जिसके आधार पर धार्मिक विमर्शों अथवा धर्म के तार्किक आधार को स्थापित किया जा सके, ह्यूम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रत्येक व्यक्ति उन्हीं कारणों, जो उन्हें अनुभव निरपेक्ष विश्वासों (अदार्शनिक सम्भाव्यताओं) के निर्माण के लिये प्रेरित करते हैं, के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व में प्रकाशन संबंधी प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। इसका निहितार्थ यह है कि धार्मिक विश्वास चाहे कितना भी व्यापक हो, यह स्वयं मानव प्रकृति द्वारा लागू नहीं होता है और यही कारण है कि यह कारणता, सतत पृथक अस्तित्व और आत्मा में विश्वास जितना बाध्य करने वाला विचार नहीं है। ह्यूम इसका खण्डन नहीं करते कि धार्मिक विश्वास कभी भी व्यक्ति या समाज के लिए उपयोगी या स्वीकार्य नहीं हो सकते हैं,, लेकिन वह यह विचार रखते प्रतीत होते हैं कि अंधविश्वास या अति उत्साह द्वारा विकृत धार्मिक विश्वास न उपयोगी होते हैं और न हीं स्वीकार्य।

नैतिकता

नैतिक विमर्श के संदर्भ में नैतिकता के वस्तुपरक महत्व को लेकर ह्यूम के लिये यह प्रश्न मुख्य था कि क्या किसी का शुभ और अशुभ का अनुभव भावावेशों और इच्छाओं तक ही सीमित हैं, अथवा विशिष्ट नैतिक प्रत्ययों का कोई पृथक स्त्रोत है। नैतिक प्रत्यय पूर्ण रूप से कल्पना से स्वतंत्र अनुचिंतन के संस्कारों से उत्पन्न होते हैं। नैतिक प्रत्ययों के अनुचिंतन

के संस्कार के स्त्रोत स्वयं किसी ऐसे अनुभवों में अंतर्निहित विशेष सत्ता से प्राप्त नहीं होते हैं। बल्कि उनके कारणात्मकता की विशिष्ट परिस्थितियाँ से और किसी के जीवन में उनके विशेष स्थान, जहाँ से वे प्राप्त किये जाते हैं, से प्राप्त होते हैं।

सद्‌गुण और अवगुण

ह्यूम सद्‌गुण को उन सभी मानसिक क्रिया या गुण के रूप में परिभाषित करते हैं जो कर्ता में अनुमोदन के सुखद भाव उत्पन्न करते हैं, और इसके विपरीत भाव उत्पन्न करने वाली क्रिया को वह अवगुण कहते हैं। ह्यूम ने चार प्रकार के (अविशिष्ट) सद्‌गुणों के बारे में बताया है:

(अ) मानसिक गुण जो इन्हें धारण करने वाले को तुरंत स्वीकार्य होते हैं; जैसे कौशल, मानसिक महानता, प्रसन्नता, बुरे समय में भी चित्त की स्थिरता, और साहस।

(ब) ऐसे गुण जिसे अन्य स्वीकार करते है, जैसे कुशलता, शिष्टाचार, बुद्धिमानी, और अच्छे आचरण।

(स) ऐसे गुण जो धारक के लिये उपयोगी हो; जैसे बुद्धिमानी, कर्मठता, कौशल, धैर्य, और अध्यवसाय।

(द) ऐसे गुण जो अन्य के लिए उपयोगी हों; जैसे कृतज्ञता, स्वामिभक्ति, विश्वसनीयता, और दानशीलता।

न्याय

न्याय स्वरूचि और उपयोग के आशय पर आधारित है। तथापि, अन्याय हमें पीड़ित व्यक्ति की तरह व्यक्तिगत रूप से प्रभावित नहीं करता किन्तु यह हमें अप्रसन्न अवश्य करता है। हम अन्य लागों की व्याकुलता को सहानुभूति से देखते हैं और जो मानव क्रियाएं व्याकुलता उत्पन्न करती हैं हम उनका अनुमोदन नहीं करते हैं, और उन्हें अवगुण कहते हैं तथा जो संतुष्टि उत्पन्न करती हैं वह सद्‌गुण कहलाते हैं। हम न्याय को नैतिक सद्‌गुण और अन्याय को नैतिक अवगुण मानते हैं। इस प्रकार न्याय की स्थापना का मूल मंतव्य स्व-रूचि है: लेकिन लोक रूचि से सहानुभूति होना नैतिक अनुमोदन का विषय है और सद्‌गुण कहलाता है। ह्यूम न्याय को एक 'कृत्रिम' सद्‌गुण मानते हैं क्योंकि यह मनुष्य की उत्पत्ति है जिसकी खोज मानव स्वार्थ और लोभ, जो मानव की इच्छा प्राप्ति के लिए प्रकृति द्वारा अल्प मात्रा में अभिपूरित किया गया है, के साथ की गयी है। इसलिए, ह्यूम यह स्वीकार नहीं करते कि न्याय के नियम शाश्वत हैं, जो मनुष्य की स्थिति और लोक-उपयोगिता से स्वतंत्र हैं। मनुष्य ने न्याय के नियमों को अपने स्वयं के और लोक रूचि के अनुसार स्थापित किया है। लेकिन ये अभिरूचि प्रत्ययों के अनिवार्य और शाश्वत तर्क से प्राप्त नहीं हैं बल्कि हमारे अनुभवों के संस्कारों से प्राप्त हैं।

ह्यूम के दर्शन का महत्व

1. ह्यूम का अनुभववाद लॉक एवं बर्कले के दर्शन में विद्यमान ज्ञानमीमांसा एवं तत्वमीमांसा के अंतर्विरोधों को दूर करने का प्रयास करता है।

2. ह्यूम ने अपने संशयवाद के माध्यम से दर्शन के क्षेत्र से अंधविश्वासों एवं पूर्वाग्रहों को दूर करने का प्रयास किया है। इससे चिंतन और दृष्टिकोण में निष्पक्षता आती है।

3. ह्यूम के संशयवाद का गहरा प्रभव काण्ट पर पड़ा है। काण्ट का कथन है कि- 'ह्यूम के संशयवाद ने उन्हें रूढ़िवादी निद्रा से जगाया।'

4. मूर, रसेल विटगेन्स्टीन, कार्नेप, एयर आदि विश्लेषणवादियों ने अपने दार्शनिक सिद्धांतों को प्रतिपादन के क्रम में किसी न किसी रूप में ह्यूम के दर्शन की सहायता ली है।

5. ह्यूम का संशयवाद परंपरागत अनुभववाद में विद्यमान विसंगतियों को उजागर करता है।

6. अपने विनम्र संशयवाद के आधार पर ह्यूम ने मानव की सीमा को निर्धारित करने का प्रयास किया है। इसका अतिक्रमण करने पर भ्रांति, हठवादिता एवं अंधविश्वास की उत्पत्ति होती है।

7. ह्यूम के संशयवाद का प्रभाव तार्किक भाववादियों (प्रत्यक्षवादियों) पर पड़ा है।

8. एयर ने ह्यूम के समान ही समस्त प्रतिज्ञप्तियों को दो कोटियों में विभाजित किया है।

(i) आनुभविक (वस्तु तथ्य का ज्ञान)

(ii) विश्लेषणात्मक (प्रत्ययों के मध्य संबंध का ज्ञान)

ह्यूम के दर्शन का मूल्यांकन

रसल के अनुसार ह्यूम के दर्शन का खण्डन करना दार्शनिकों का प्रिय विषय रहा है। उसका संशयवाद लॉक के अनुभववाद का तार्किक निष्कर्ष है। यदि अनुभववादी ज्ञानमीमांसा को स्वीकार कर लिया जाय तो ह्यूम के द्वारा स्थापित निष्कर्षों को मानना होगा। वस्तुतः ह्यूम अपनी परंपरा के दार्शनिकों (लॉक और बर्कले) की तुलना में अधिक युक्तिसंगत अनुभववादी है। वह अपने पूर्ववर्ती अनुभववादियों की अपेक्षा अधिक प्रखर और सक्षम तर्कशास्त्री है। उसके तीक्ष्ण तर्कों के प्रहारों से जड़ द्रव्य, आत्मा एवं ईश्वर आदि सभी प्रकार के भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्व ध्वस्त हो जाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उसे संशयवादी कहा गया है। उसने भी स्वयं को संशयवादी कहा है क्योंकि अनुभव से प्राप्त संस्कारों के द्वारा किसी अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। ईश्वर, आत्मा, जड़-जगत्, कारणता आदि के ज्ञान की निश्चितता को तर्कतः सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इन सबके मूल में यह मान्यता है कि समस्त ज्ञान का स्त्रोत अनुभव है।

इन्द्रियानुभव को समस्त ज्ञान का स्त्रोत मानना अनुभववादी ज्ञानमीमांसा की गंभीर भूल है। इसके फलस्वरूप ह्यूम का दर्शन संशयवादी हो जाता है। ह्यूम की भूल यह है कि उसने ज्ञान के स्वरूप का सम्यक् विवेचन, तार्किक विश्लेषण और मूल्यांकन नहीं किया। वह ज्ञान की संरचना में बुद्धि की भूमिका का समुचित मूल्यांकन न कर सका। केवल अनुभव के आधार पर कोई निश्चायक और व्यवस्थित दर्शन की स्थापना नहीं की जा सकती है। यदि ज्ञान को केवल इन्द्रियानुभव तक सीमित कर दिया जाय तो ऐसी संवेदनाएँ तो पशुओं को भी प्राप्त हो सकती हैं। यहाँ तक कि अनेक पशु-पक्षियों की संवेदन-शक्ति तो मनुष्यों से भी अधिक होती है। जैसे– कुत्तों की घ्राणशक्ति और गिद्धों की चक्षुशक्ति मनुष्यों से भी अधिक होती है, किन्तु उन्हें ज्ञानी नहीं कहा जा सकता है। अतः अनुभववाद एक एकांगी सिद्धांत बनकर रह जाता है। बुद्धि और उसके अनुभव-निरपेक्ष आकारों (बुद्धि-विकल्पों) के अभाव में कोई भी संवेदन अथवा संस्कार ग्राह्य नहीं हो सकता है। बुद्धि-विकल्पों के द्वारा ग्राह्य होने पर ही प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ ज्ञान के स्वरूप को ग्रहण कर सकती हैं। इन्द्रियानुभव के द्वारा केवल विशेषों की ही प्रतीति हो सकती है। बौद्धिक कोटियों के अभाव में बाह्य जगत् की विषयता का बोध नहीं हो सकता है।

ह्यूम के द्वारा कारण-कार्य संबंध का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दोषपूर्ण है। कारण-कार्य नियम की सार्वभौमिकता, अनिवार्यता और निश्चितता की सिद्धि इन्द्रियानुभव के द्वारा नहीं की जा सकती है। वस्तुतः कारण-कार्य संबंध नहीं कहा जा सकता है। कारण-कार्य नियम आनुभविक अथवा प्रत्ययों का मनोवैज्ञानिक संबंध नहीं, बल्कि मानव-बुद्धि का एक प्रागनुभविक आकार है। विशुद्ध संवेदन बुद्धि के प्रागनुभविक आकारों के अभाव में ज्ञान के स्तर को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। केवल विशिष्ट संवेदनों को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। अस्त-व्यस्त एवं बिखरे हुए संवेदनों को ज्ञान के रूप में परिणत करने के लिए उनको व्यवस्थित एवं सामंजस्यपूर्ण बनाने की आवश्यकता है। विभिन्न अस्त-व्यस्त अनुभूतियों को एकता के सूत्र में अनुस्यूत करने के लिए बुद्धि-विकल्पों की आवश्यकता है। ह्यूम ने ज्ञान के इन अनुभव-निरपेक्ष आकारों की उपेक्षा करके समस्त ज्ञान को अनुभवजन्य मान लिया। इसके फलस्वरूप अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत ज्ञान के अनुभव-निरपेक्ष स्वरूप की स्थापना नहीं की जा सकी। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान की उत्पत्ति को बुद्धि के अनुभव-निरपेक्ष आकारों में न खोजना ह्यूम के दर्शन का एक निर्बल पक्ष है। यही कारण है कि उसके पृथक्-पृथक् एवं आणविक (atomic) संस्कारों एवं प्रत्ययों का पारस्परिक साहचर्य केवल आपातिक एवं संभाव्य ज्ञान ही दे सकता है।

ह्यूम ने जिस रूप में आगमन की समस्या को प्रस्तुत किया है, उसका कोई भी तार्किक समाधान संभव नहीं प्रतीत होता है। किन्तु आगमनात्मक प्रमाणीकरण के लिए निगमनात्मक युक्ति के समान निर्णायक वैधता की माँग करना आगमन के स्वरूप की गलत समझ पर आधारित है। वास्तव में, यह आगमन का स्वभाव है कि उसकी वैधता निगमन के समान नहीं हो सकती है। ह्यूम की यह एक भूल है कि वह आगमनात्मक अनुभव के क्षेत्र में निगमन जैसी पूर्ण निश्चितता और वैधता की आशा करता है। अतः उसका निराश होना स्वाभाविक है।

ह्यूम के दर्शन का एक अन्य गंभीर दोष आत्मा को संस्कारों एवं प्रत्ययों के संघात के रूप में विषय के स्तर पर ला देना है। किन्तु, आत्मा को विषय के रूप में जानने का प्रयास सफल नहीं हो सकता है। वह आत्मा को अन्य वस्तुओं के समान एक वस्तु (विषय) बना देता है, किन्तु आत्मा एक विषयी या ज्ञाता है। वह समस्त ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा है। ह्यूम के द्वारा मान्य तथाकथित संस्कारों एवं प्रत्ययों का पुंज अपना ज्ञाता स्वयं नहीं हो सकता है। प्रत्ययों का यह समूह भी ज्ञान का एक विषय है। उसका ज्ञान तभी हो सकता है, जब कोई ज्ञाता हो। किन्तु यह ज्ञाता ज्ञेय नहीं हो सकता है। अतः उसे ज्ञेय के स्तर पर लाने का प्रयास दोषपूर्ण है। आत्मा ही वह स्थिर एवं एकताबद्ध तत्त्व हो सकता है, जो भूत, वर्तमान और भविष्य काल की अनुभूतियों, संस्कारों एवं प्रत्ययों को एकता के सूत्र में पिरो (बाँध) देता है। इसी के कारण स्मृति-ज्ञान एवं वैयक्तिक अनन्यता संभव है। इस ज्ञान स्वरूप आत्मा का ज्ञान इन्द्रियानुभव के आधार पर एक विषय के रूप में नहीं हो सकता है। वास्तव में, आत्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है, क्योंकि वह समस्त ज्ञान की आधारशिला है।

जिस अनुभववाद का विकास ह्यूम के दर्शन में होता है, उसके तीन परिणाम हैं– (1) अंहमात्रवाद (Solipsism)-अहंमात्रवाद को मानकर ह्यूम संस्कारों एवं प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का निराकरण कर देता है, किन्तु किसी आश्रय के बिना ये संस्कार और प्रत्यय

कैसे संभव है? अनुभव के द्वारा ऐसा संस्कार या प्रत्यय नहीं प्राप्त हो सकता है, जो स्वयं अपना आश्रय हो। (2) **मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद** (Psychological Atomism)–ह्यूम के प्रत्यय परमाणुओं की तरह असम्बद्ध हैं। वे बाद में साहचर्य नियम से परस्पर संबंधित होते हैं। किन्तु जब आत्मा की ही सत्ता नहीं है, तो उन्हें कौन संबंधित करेगा। ह्यूम का मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद आधुनिक मनोवैज्ञानिक मान्यताओं से भी मेल नहीं रखता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संवेदन या उनसे प्राप्त प्रत्यय परस्पर असम्बद्ध नहीं, बल्कि परस्पर संबंधित होते हैं। (3) संदेहवाद (Scepticism)–ह्यूम का संदेहवाद व्यावहारिक और तार्किक दोनों दृष्टियों से असंगत प्रतीत होता है। व्यावहारिक जीवन के व्यवस्थित संचालन के लिए विश्वास आवश्यक होता है, किन्तु संदेहवाद इसे नष्ट कर देता है। संशय विश्वास का विरोधी होता है। यदि हमें इसका निश्चित ज्ञान नहीं है कि भविष्य में वस्तुओं का स्वभाव वर्तमान के अनुकूल होगा तो दैनिक जीवन नहीं चल सकता है। तार्किक दृष्टि से संदेहवाद आत्मघाती होता है। बाह्य जगत् के विषय में ह्यूम संशयवादी है क्योंकि वह तथ्यात्मक ज्ञान को सार्वभौम एवं अनिवार्य नहीं मानता है। **ह्यूम के संदेह का आश्रय लेकर यह कहा जा सकता है कि ह्यूमी संदेहवाद की सत्यता भी सार्वभौमिक एवं अनिवार्य नहीं हो सकती है, क्योंकि संदेहवाद भी बाह्य जगत् के विषय में एक आनुभविक दृष्टिकोण है।** अतः संदेहवाद की सत्यता भी संदिग्ध हो जाती है। यदि अनुभववाद को आधारवाक्य माना जाय तो ये तीनों सिद्धांत उसके संयुक्त निष्कर्ष होंगे। स्पष्ट है कि अनुभववादी ज्ञानमीमांसा का तार्किक निष्कर्ष अग्राह्य है। इससे सिद्ध होता है कि स्वयं अनुभववाद भी दोषपूर्ण है। किन्तु ह्यूम उग्र संशयवादी नहीं है, क्योंकि वह प्रत्येक ज्ञान को असंभव नहीं मानता है।

वह गणित और तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञाप्तियों को सार्वभौम एवं अनिवार्य सत्य मानता है। वह केवल आनुभविक ज्ञान के विषय में संदेहवादी है। उसके अनुसार कोई भी आनुभविक प्रतिज्ञप्ति अनिवार्य और सार्वभौम सत्य नहीं हो सकती है। आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ आपातिक एवं संभाव्य सत्य की कोटि में आती हैं। वह व्यवहार का संचालन सहज प्रवृत्तियों पर आश्रित बना देता है, किन्तु यह मत एकांगी है। कुछ परिस्थतियों में मनुष्य का व्यवहार बुद्धि के द्व ारा भी संचालित होता है।

यद्यपि ह्यूम के दर्शन पर अनेक आक्षेप किए गए हैं, तथापि परवर्ती दार्शनिकों पर उसके दर्शन का एक अमिट प्रभाव पड़ा है। ह्यूमी अनुभववाद के प्रभाव से **थामस रीड** के नेतृत्व में स्काटिश दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने ह्यूम के संशयवाद का उत्तर देने का प्रयास किया। ह्यूम के द्वारा जड़-जगत्, आत्मा एवं ईश्वर की सत्ता का निराकरण करने के बाद केवल मौलिक संस्कारों की ही सत्ता अवशेष रह जाती है। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं एवं आत्मा की सत्ता का निराकरण हो जाने के बाद **संवृत्तिवाद** (Phenomenalism) का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। यद्यपि ह्यूम के बाद अनेक परवर्ती आलोचकों और दार्शनिकों ने उसके संशय को आत्मघाती कहा, तथापि न तो उसके दर्शन का महत्त्व कम हुआ और न ही कोई विचारक उसकी उपेक्षा कर सका। उसके द्वारा उठाई गई दार्शनिक समस्याएँ उसके समय से लेकर आज तक दर्शन-जगत् में बहस, विवाद, परिचर्चा एवं चिन्तन के विषय रही हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ह्यूम न केवल यूरोप का अपितु विश्व का एक महान दार्शनिक है।

देकार्त बनाम ह्यूम

	डेकार्ट		ह्यूम
1.	बुद्धिवादी दार्शनिक।	1.	अनुभववादी दार्शनिक।
2.	निश्चित एवं असंदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति हेतु संदेह विधि का सहारा।	2.	ह्यूम के अनुसार ही ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र यथार्थ स्त्रोत है और अनुभव के आधार पर निश्चित एवं असंदिग्ध की प्राप्ति नहीं की जा सकती।
3.	डेकार्ट के दर्शन में संदेह साधन है, उनके दर्शन का आरंभ है।	3.	ह्यूम के दर्शन में संदेह की स्थिति अंतिम स्तर पर उभर कर सामने आती है।
4.	डेकार्ट की संदेह विधि केवल विधि है, निष्कर्ष नहीं।	4.	संदेह निष्कर्ष के स्तर पर उभर कर सामने आता है।
5.	डेकार्ट के दर्शन का आरंभ संदेह से होता है, जिसकी परिणति निश्चित एवं अंसदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति में होता है।	5.	ह्यूम के दर्शन का आरंभ अनुभव से होता है जिसकी चरम परिणति संशय में पड़ती है।
6.	डेकार्ट का संदेह तार्किक है।	6.	यहां मनोवैज्ञानिक स्थिति उभरती है।
7.	संदेह विधि के आधार पर तत्वमीमांसीय सत्ता का प्रतिपादन करते हैं। (आत्मा का अस्तित्व निरूपण)	7.	अपनी ज्ञानमींमासीय पद्धति के आधार पर तत्वमीमांसा का विरोध करते हैं। (भारतीय दर्शन में चार्वाक ने यह कार्य किया है)

ह्यूम बनाम चार्वाक

समानता के बिंदु

1. पाश्चात्य दर्शन में ह्यूम ने अपनी अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के आधार पर आत्मा, ईश्वर आदि आध्यात्मिक सत्ताओं का खंडन किया है वहीं भारतीय दर्शन में चार्वाक ने अपनी प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा के आधार पर अलौकिक सत्ताओं का निषेध किया है।

2. दोनों दर्शनों में यह माना गया है कि आगमन से निश्चित एवं असंदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। आगमन केवल संभाव्य ज्ञान प्रदान करता है।

3. जिस प्रकार चार्वाक दर्शन ने भारतीय दर्शन को रूढ़िवादी एवं अंधविश्वासी होने से बचाया उसी प्रकार ह्यूम ने भी पाश्चात्य दर्शन के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। कांट का स्पष्ट कथन है कि 'ह्यूम के संशयवाद ने मुझे रूढ़िवादी निद्रा से जगाया।'

विषमता के बिंदु :

1. चार्वाक दर्शन में चार प्रकार के भौतिक जड़ द्रव्यों (पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल) की सत्ता स्वीकार्य है वहीं ह्यूम के दर्शन में आध्यात्मिक द्रव्य के साथ साथ भौतिक द्रव्य की सत्ता पर भी प्रश्न चिह्न उत्पन्न किया गया है।

सारांश

18वीं शताब्दी से प्रौद्योगिकी परिवर्तित हो गई है और आधुनिक अनुभववादी ह्यूम की मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र को मिलाने की प्रवृत्ति से दूर रहने का प्रयास करते हैं। लेकिन

आधुनिक अनुभववादियों का ह्यूम के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ऋणि होने में कोई संदेह नहीं है। उनकी अंर्तदृष्टि, जो विभिन्न विज्ञानों के केन्द्र में मनुष्य की आधारभूतता को प्रदर्शित करती है, के विकास का उस जगत में भरपूर स्वागत हुआ जिसमें उन्नति को अव्यक्तिगत रूप में समझा जाता है। तथापि, उनके संस्कार और प्रत्यय के अंतर को केवल मात्रा के स्तर पर घटाकर दिखाया जाना अनेक प्रश्न खड़े करता है। हम इसका खण्डन नहीं की सकते कि ह्यूम के कारणता के सिद्धांत को खण्डित करने के प्रयास ने बाद के विचारकों में गंभीर चिंतन को जाग्रत किया है। थोड़े में कहें तो, ह्यूम के गम्भीर योगदान को देखते हुए, वह अनुभववाद का पिता कहा जाने योग्य है।

प्रमुख शब्द

अनुभूति : अनुभूति उन सभी वस्तुओं को कहते हैं जो किसी के समक्ष त्वरित रूप में चेतना द्वारा उपस्थित होती हैं, जैसे कि संवेदना, अनुचिंतन या विचार।

संस्कार : यह अनुभव का त्वरित सूचना समूह है, जैसे संवेदना।

प्रत्यय : यह चिंतन प्रक्रिया में उत्पन्न संस्कारों का प्रतिरूप या धुँधला चित्र है।

संबंध : शब्द 'संबंध' उन गुण या गुणों को सूचित करता है जिनके द्वारा दो प्रत्यय कल्पना में एक दूसरे से जुड़े रहते हैं।

आवेग/भावावेश : ह्यूम ने शब्द भावावेग का प्रयोग भावनाओं के अनियंत्रित प्रस्फूटन से पृथक सभी भावनाओं और प्रभावों को समाहित करने के लिए किया है।

संकल्प : यह ज्ञात ढ़ंग से अपने शरीर में गति उत्पन्न करना हैं या हमारे मन को नयी अनुभूति प्रदान करने के कारण रूप में संकल्प वह एक आन्तरिक संस्कार है जिसका हम अनुभव करते हैं और जिसके प्रति हम सचेत रहते हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. ह्यूम की ज्ञान मीमांसा का विस्तारपूर्वक वर्णन करे।
2. कारणता सिद्धांत ह्यूम के ज्ञान सिद्धांत का केन्द्र बिन्दू है। स्पष्ट करें।
3. ह्यूम के दर्शन में प्रत्ययों के मध्य संबंधो को दर्शाइए।
4. क्या ह्यूम आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
5. क्या ह्यूम ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
6. संशयवाद क्या है? ह्यूम के संशयवाद की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए देकार्त के संशयवाद और ह्यूम के संशयवाद की तुलना कीजिए।
7. क्या ह्यूम वास्तव में संशयवादी है? स्पष्ट करे।
8. ह्यूम के केनेमेनोलिज्म या दृश्य प्रंपचवाद की अवधारणा को स्पष्ट करे।
9. ह्यूम के धर्म और नैतिकता के विचार को स्पष्ट करे।
10. आधुनिक समाज के निर्माण में ह्यूम का दर्शन कैसे लाभकारी सिद्ध हो सकता है?
11. ह्यूम के दर्शन का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई–11 कांट (Kant)

इकाई की रूपरेखा:

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. आलोचनात्मक दर्शन/समन्वयवाद/समीक्षावाद
4. ज्ञान की प्रकृति और विभाग
5. देश-काल और बुद्धि विकल्प
6. व्यवहार और परमार्थ
7. कोपरनिकस क्रांति
8. ईश्वर और विश्व
9. अनुदेशों की अवधारणा
10. नैतिकता
11. मूल्यांकन
12. सारांश
13. प्रमुख शब्द
14. अभ्यास प्रश्न

उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के समय छात्रों को निम्नलिखित पर विशेष ध्यान देना होगा:

- बुद्धिवाद और अनुभववाद की अविरत दार्शनिक विवेचना पर
- ज्ञान के परिप्रेक्ष्य पर; जो अनुभववाद के अनुसार इंद्रियों से प्राप्त होता है और बुद्धिवाद के अनुसार बुद्धि या बोध से प्रापत होता है।

प्रस्तावना

इमैन्यूअल कांट ने समीक्षात्मक प्रत्ययवाद या अत्यानुभविक प्रत्ययवाद के नाम से जानी जाने वाली अपनी दार्शनिक स्थापनाओं द्वारा बुद्धिवादी और अनुभववादी दृष्टिकोणों के द्वन्द्व से उपजी समस्याओं को व्यवहारिक सत्ता के ह्रास के बिना मौलिक रूप से एक प्रागनुभविक व्यवस्था प्रतिपादित करते हुए हल करने का प्रयास किया। उनके दृष्टिकोण के अनुसार, जिस सत्ता को मानव जानता है, वह मूलत: ऐसी सत्ता है, जिसे मानव ने स्वयं संघटित या निर्मित किया है। संक्षेप में, प्रागनुभविक प्रारूपों के समुच्चय और व्यावहारिक आँकड़ों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व-सभी विज्ञान और सभी प्रकार के ज्ञान-निर्मित हैं। व्यवहारिक क्षेत्र के लिए भी यही सत्य है कि स्वायत्त व्यक्ति अपनी इच्छा के सम्यक अभ्यास द्वारा नैतिक संसार की रचना

करता है। इस प्रकार कांट का दृष्टिकोण सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक ज्ञान के प्रति वैयक्तिक सत्ता पर केन्द्रित है।

कांट का प्रागनुभविक ज्ञान, जो अनिवार्य एवं सर्वव्यापी है, पर विशेष बल उन्हें ज्ञान के निर्माण में इन्द्रिय-ज्ञान के योगदान से विमुख नहीं करता। वह मानते हैं कि हमारे सारे ज्ञान इन्द्रियों और साथ ही साथ प्रत्ययों में निहित हैं। इसी प्रकार वह संभावित अनुभव की सीमा से परे के विषयों के किसी भी प्रकार के सैद्धांतिक ज्ञान का पूर्णत: निषेध करते हैं। इस प्रकार *प्रोलगोमेना* में कांट कहते हैं कि 'अत्यानुभविक' (transcendental) शब्द सभी अनुभूतियों के परे आने वाले विषयों को द्योतित नहीं करता है, अपितु उन विषयों का संकेत करता है, जो निश्चित रूप से अनुभूति के पूर्व (प्रागनुभविक रूप से) आते हैं और जो सम्भावित अनुभवों का संज्ञान कराने की ओर उन्मुख होते हैं (*प्रोलेगोमेना,* ऐपेन्डिक्स, ए.के., 4:373)। वह इन्हीं अर्थों में अपने दर्शन को अत्यानुभविक कहते हैं।

अत:, ज्ञान की प्रकृति का अन्वेषण मूलत: विषयी के संज्ञानात्मक संघटन का अन्वेषण है और विषय की प्रकृति से सम्बंधित न होकर केवल उससे संबंधित है जो ज्ञान के विषय को संभव बनाता है। फलत:, वह अपने दर्शन को "तर्कबुद्धि उसके स्त्रोतों और सीमाओं के परीक्षण मात्र का विज्ञान" के रूप में परिभाषित करते हैं (*सी.पी.आर.,* ए. 11/बी. 25)। बेक के अनुसार नकारात्मक रूप से समझने पर यह "परिकल्पनात्मक तत्वमीमांसा के द्वंद्वात्मक भ्रम को रोकने या व्यक्त करने" में आलोचना (critique) की नियन्त्रणकारी भूमिका को प्रकाशित करता है, जबकि सकारात्मक रूप से समझने पर (कांट का दर्शन) बुद्धिवाद और अनुभववाद की चुनौतियों के सम्मुख तर्कबुद्धि के लिए "विज्ञान के सटीक मार्ग" का निर्धारण करता है। इस प्रकार, कांट के लिए *क्रिटिक* निर्णय का अंतिम साधन है।

सम्पूर्ण क्रिटिक में व्याप्त एकीकृत विचार यह स्वघोषित प्रश्न है कि 'किस प्रकार प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक ज्ञान संभव है?' कांट मानते हैं कि प्रागनुभव संश्लिष्ट ज्ञान शुद्ध गणित और भौतिकी दोनों में संभव है, और ज्ञान की इन शाखाओं की सफलता के बारे में उनका दृढ़ विश्वास उन्हें इन प्रतिपाद्यों की ज्ञान और नैतिकता के क्षेत्र में गवेषणा हेतु प्रेरित करता है। इस प्रकार वे कटटर और अनुभववादी दर्शनों के आधार पर जो आलोचनात्मक प्रश्न खड़ा करते हैं वह उनके क्रीटीक में इस रूप में स्पष्ट होता है कि क्या और किस सीमा तक हम प्रागनुभविक सिद्धांतों को तर्क, समझ और निर्णय में प्राप्त कर सकते हैं। जैसा कि स्वयं *क्रिटीक* का कथन है, प्रागनुभविक ज्ञान की स्पष्ट अत्यानुभविक प्रकृति निश्चित कर दी गई है और इसकी मूर्तता को कांट इस प्रकार सुरक्षित करते हैं; "हम प्रागनुभविक प्रत्ययों को अन्य सभी प्रत्ययों के समान ही, केवल अनुभव के द्वारा जान पाते हैं... (और) कि इस प्रागनुभविक ज्ञान को अनुभव के विषयों में प्रयुक्त करना चाहिए..." (पैटन, 1:563-64)। वह कहते हैं कि यह ज्ञान विषय की स्वतंत्र प्रकृति के कारण संभव नहीं है बल्कि यह बौद्धिक क्षमताओं की प्रकृति के कारण संभव है। कांट के अनुसार, यह कदम अत्यानुभविक ज्ञान की शुद्धता और वैधता को सुनिश्चित करता है। यह ज्ञान उन्हें "अमूर्त नियमों के अतिरिक्त किसी और अन्य संदर्भ के" और "बिना किसी विशिष्ट अनुभविक विषय के संदर्भ के शुद्ध परिकल्पनात्मक तर्क की सुदृढ़ प्रणाली विकसित करने हेतु प्रेरित करता है (वैन द पिटे, 1024)।"

आलोचनात्मक दर्शन/समन्वयवाद/समीक्षावाद (Critical Philosophy)

काण्ट आरंभ में बुद्धिवादी थे। उन पर लाइबनित्ज एवं वुल्फ (Wolff) का प्रभाव था। वुल्फ के अनुसार सम्प्रत्ययों के विश्लेषण से ही सभी प्रकार के ज्ञान संभव हैं। बुद्धि में जन्मजात प्रत्यय (Innate Ideas) हैं और उनका विश्लेषण करके बुद्धि सारे ज्ञान-विज्ञान का निर्माण कर सकती है। इसके लिये इन्द्रिय अनुभव की कोई आवश्यकता नहीं है। काण्ट इस स्थिति को रूढ़िवाद (Dogmatism) कहते हैं। बुद्धिवाद का अंत रूढ़िवाद में ही होता है। तब काण्ट बुद्धिवाद को छोड़कर अनुभववाद की तरफ उन्मुख हुए। परंतु उन्होंने देखा कि अनुभववादी केवल इन्द्रिय संवेदना के आधार पर ज्ञान की व्याख्या करते हैं। इसकी परिणति संशयवाद (Scepticism) में होती है। तब उन्होंने अनुभववाद को भी छोड़ दिया। कांट के अनुसार ये दोनों सिद्धांत एकांगी (one sided) हैं। बुद्धिवाद ज्ञान की नवीनता की व्याख्या नहीं कर पाता, वहीं अनुभव से प्राप्त ज्ञान सार्वभौम एवं अनिवार्य नहीं होता। इसके बाद काण्ट ने इन दोनों विचारधाराओं की समीक्षा की तथा एक नये दर्शन को विकसित किया जिसे वे स्वयं आलोचनात्मक दर्शन (Critical Philosophy) कहते हैं।

काण्ट अपनी पुस्तक Critique of Pure Reason में स्वयं अपने दर्शन को आलोचनात्मक दर्शन (Critical Philosophy) कहते हैं। यहां आलोचना का आशय किसी दार्शनिक, दार्शनिक पुस्तक या विचार का खंडन, निराकरण या निषेध करना नहीं है। यहां आलोचना का वास्तविक आशय है- 'ज्ञान के वास्तविक स्वरूप, ज्ञान के अनिवार्य तत्व, उसकी संभावना, संरचना, प्रमाणिकता आदि का विवेचन, परीक्षण एवं समीक्षा करना।'

काण्ट का दर्शन दो कारणों से समीक्षावादी दर्शन कहलाता है-

1. काण्ट के पूर्ववर्ती सिद्धांतों बुद्धिवाद एवं अनुभववाद में ज्ञान के स्रोत, ज्ञान की सीमा, ज्ञान के स्वरूप, मनुष्य के ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता इत्यादि का ठीक प्रकार से परीक्षण किये बिना ही सीधे-सीधे ज्ञान संबंधी सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है। यहां काण्ट ज्ञान संबंधी अपने मत को प्रकट करने से पूर्व इन सारी बातों की समीक्षा करते हैं और इनकी समीक्षा कर अपना ज्ञान संबंधी सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं।

2. काण्ट को इस कारण भी समीक्षावादी कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने सीधे सीधे अपना ज्ञान सिद्धांत प्रस्तुत करने की बजाए पहले पूर्ववर्ती मतों-बुद्धिवाद एवं अनुभववाद की समीक्षा करते हैं।

काण्ट का यह समीक्षावाद समन्वयवाद का रूप ले लेता है। काण्ट के दर्शन में समन्वय की यह स्थिति निम्नलिखित रूपों में दिखाई देती है-

1. **ज्ञान का स्त्रोत :** अनुभववाद के अनुसार ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र यथार्थ स्त्रोत अनुभव है। जन्म के समय मन कोरे कागज (tabula rasa) के समान होता है। ज्ञान संवेदन और स्वसंवेदन या संस्कार और प्रत्यय के रूप में प्राप्त होता है जबकि बुद्धिवादियों के अनुसार यथार्थ ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र स्त्रोत बुद्धि (जन्मजात प्रत्यय) है। काण्ट के अनुसार ये दोनों मत महत्वपूर्ण हैं परंतु दोनों रूढ़िवादी, अंधविश्वासी, एकांगी एवं अंशतः सत्य हैं। ज्ञान न केवल इन्द्रियों से और न केवल बुद्धि से प्राप्त हो सकता है। इन्द्रियों से केवल ज्ञान की सामग्री मिलती है जो इन्द्रिय संवेदन रूप होती है। ये पृथक पृथक एवं अव्यवस्थित होती हैं। जब तक इन इन्द्रिय संवेदनाओं में परस्पर व्यवस्थापन एवं संबंध स्थापित न हो तब तक ज्ञान की प्राप्ति

नहीं हो सकती। यह कार्यबुद्धि में निहित बुद्धि विकल्पों (categories) के द्वारा होता है। ज्ञान अनुभव एवं बुद्धि के सम्प्रत्यय का सम्मिलित परिणाम है। ज्ञान की सामग्री अनुभव द्वारा प्राप्त होती है, जबकि ज्ञान का आकार बुद्धि द्वारा मिलता है। इस संबंध में काण्ट का स्पष्ट कथन है कि 'संवेदन बिना सम्प्रत्ययों के अंधे हैं और सम्प्रत्यय बिना संवेदन के शून्य (या खोखले) हैं।' (Concepts without percepts are empty and percepts without concepts are blind)। ज्ञान संवेदनाओं से प्रारंभ होता है और बुद्धि में जाकर समाप्त होता है।

2. **ज्ञान का लक्षण :** बुद्धिवादी अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान पर बल देते हैं क्योंकि इनका आदर्श गणितीय ज्ञान है। जबकि अनुभववाद में नवीनता, वास्तविकता की स्थिति दिखाई देती है, क्योंकि इनका आदर्श प्राकृतिक विज्ञान है। वहीं काण्ट ज्ञान के लक्षण के रूप में अनिवार्यता एवं सार्वभौमता के साथ साथ नवीनता को भी स्वीकार करते हैं। वे ज्ञान को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि ज्ञान संश्लेषणात्मक, प्रागनुभविक निर्णयों की समष्टि है। ऐसा ज्ञान गणित और भौतिकी में संभव है।

3. **पद्धति :** अनुभववादी ज्ञान प्राप्ति के संदर्भ में आगमन पद्धति पर जोर देते हैं जबकि बुद्धिवादी निगमन पद्धति पर। काण्ट ज्ञान की पद्धति को आगमनात्मक एवं निगमनात्मक दोनों मानते हैं।

4. **सक्रियता एवं निष्क्रियता :** अनुभववादी संवेदना प्राप्ति के समय मन को निष्क्रिय मानते हैं। लॉक का कथन है कि मन निष्क्रिय रूप से संवेदनाओं को ग्रहण करता है। दूसरी ओर बुद्धिवादी ज्ञान प्राप्ति में बुद्धि को सदैव सक्रिय मानते हैं। काण्ट के अनुसार ज्ञान प्राप्ति में मन केवल इस अर्थ में निष्क्रिय माना जा सकता है कि ज्ञान संबंधी सामग्री या विषय मन अपने भीतर से उत्पन्न नहीं करता, विषयवस्तु बाहर से आती है, परंतु समझशक्ति (understanding) एवं प्रज्ञा के आधार पर वह सक्रिय होकर ज्ञान का निर्माण करती है, उसे समष्टिगत रूप प्रदान करती है।

5. **क्षमता :** अनुभववादियों के अनुसार बुद्धि में अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता नहीं है जबकि बुद्धिवादियों के अनुसार बुद्धि में ज्ञान प्राप्त करने की असीम क्षमता है। अनुभववादियों ने ज्ञान को इन्द्रिय अनुभव तक सीमित कर दिया। परिणामस्वरूप अनुभववाद की चरम परिणति संदेहवाद में होती है जबकि बुद्धि में ज्ञान प्राप्ति की असीम क्षमता मानने के कारण बुद्धिवाद की परिणति रूढ़िवाद में होती है। काण्ट के अनुसार केवल संवेद्य वस्तुओं (sensible object) का ही ज्ञान प्राप्त होता है। जिसकी संवेदना नहीं मिलती, उसका ज्ञान संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में देश और काल से परे वस्तु का अपना वास्तविक स्वरूप अज्ञात एवं अज्ञेय है।

6. **तत्वमीमांसा :** बुद्धिवाद में स्वप्नदर्शी या काल्पनिक तत्वमीमांसा की स्थिति दिखाई देती है, क्योंकि यहां बुद्धि में ज्ञान प्राप्त करने की असीम क्षमता मानी गई है। वह कुछ भी सोच सकती है। दूसरी ओर अनुभववादी ह्यूम तत्वमीमांसीय सत्ताओं का खंडन करते हैं, क्योंकि वे अनुभवगम्य नहीं है। इनसे भिन्न कांट का कहना है कि अतीन्द्रिय तत्वमीमांसा (ईश्वर, आत्मा आदि) ज्ञान का विषय नहीं है, अतः उसे तर्क के आधार पर सिद्ध या असिद्ध नहीं किया जा सकता। वह आस्था का विषय है।

आलोचना :

1. हीगल के अनुसार परमसत् को अज्ञेय कहना आत्मविरोधाभासी है। इनके अनुसार ऐसा कहना असंगत है कि परम सत्ता है, परंतु वह अज्ञेय है। जो है, उसे अज्ञेय नहीं कहा जा

सकता। कांट कम से कम इतना तो जानते हैं कि वह 'है' और वह संवेदनाओं का उत्पादक कारक है। अत: परमतत्व को अज्ञेय कहना भी एक प्रकार से उसे जानना है।

2. समकालीन आमूल अनुभववादी दार्शनिक क्वाइन के अनुसार कोई भी ज्ञान संशोधन की सीमा से परे नहीं है। अत: गणित और विज्ञान में अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान नहीं माना जा सकता।

संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक निर्णयों में अंतर
(Distinction between Synthetic and Analytic Judgement)

1. कांट के अनुसार विश्लेषणात्मक निर्णय वह है जिसमें उसका विधेय उद्देश्य ही में पहले से ही गुप्त रूप से निहित रहता है, जैसे 'वस्तु में विस्तार है', 'सभी कुंवारे अविवाहित है।'

विश्लेषणात्मक निर्णयों के विपरीत संशलेषणात्मक निर्णय वे होते हैं, जिनमें विधेय पहले से ही उद्देश्य पद में निहित नहीं रहता है। जैसे गुलाब लाल है। यहां गुलाब कहने मात्र से उसके लाल रंग का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि गुलाब कई रंगों का हो सकता है। यहां इस वाक्य की सत्यता अनुभव पर आधारित है।

2. विश्लेषणात्मक निर्णय में अनिवार्यता पाई जाती है। परंतु इससे यथार्थ एवं नवीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। दूसरी ओर, यथार्थता एवं नवीनता संशलेषणात्मक निर्णयों की विशेषता है।

3. सभी विश्लेषणात्मक निर्णय प्रागनुभविक निर्णय होते हैं।

प्रागनुभविक और उत्तरानुभविक निर्णयों में अंतर
(Distinction between Aprioi and Aposteriori Judgements)

1. प्रागनुभविक निर्णय सभी प्रकार के अनुभव से परे होते हैं। इनकी सत्यता अनुभव की अपेक्षा नहीं रखती, अर्थात ऐसे निर्णयों की प्रामाणिकता अनुभव पर निर्भर नहीं होती।

उत्तरानुभविक निर्णय अनुभवाश्रित होते हैं। इनकी सत्यता-असत्यता अनुभव सापेक्ष होती है।

2. प्रागनुभविक निर्णय अनिवार्य एवं सार्वभौम होते हैं। इनकी सत्यता सभी देश और काल में अपवादरहित रूप से लागू होती है। उत्तरानुभविक निर्णय अनुभवाश्रित होने के कारण सार्वभौम नहीं हो सकते।

उत्तरानुभविक निर्णय अनुभवाश्रित होने के कारण संभाव्य ही होते हैं, अनिवार्य नहीं। इनका निषेध सोचने पर कोई व्याघात पैदा नहीं होता।

यहां प्रागनुभविक का आशय अनुभव से पहले अर्थात् जन्मजात ज्ञान से नहीं है। काण्ट के अनुसार अनुभव के पहले कोई ज्ञान नहीं होता। हमारा सारा ज्ञान अनुभव से ही आरंभ होता है। काण्ट का स्पष्ट कथन हैं कि- 'यद्यपि हमारा समस्त ज्ञान अनुभव से प्रारंभ होता परंतु इसका आशय यह नहीं है कि संपूर्ण ज्ञान अनुभव से उत्पन्न होता है। प्रागनुभविक ज्ञान का भी आरंभ अनुभव से होता है, जैसे हमें प्रारंभ में गणित की संख्याओं का ज्ञान सीखना पड़ता है परंतु एक बार संख्याओं का ज्ञान हो जाने के बाद फिर उसे प्रामाणिक करने के लिए अनुभव की आवश्यकता नहीं होती। स्पष्ट है कि यहां उत्पत्ति के आधार पर आनुभविक एवं प्रागनुभविक अंतर नहीं किया है, बल्कि प्रामाणिकता के आधार पर किया गया है। आनुभविक ज्ञान की प्रामाणिकता जहां अनुभव पर आधारित होती है। वहीं प्रागनुभविक ज्ञान की प्रामाणिकता अनुभव पर निर्भर नहीं होती। स्पष्ट है कि प्रागनुभविक ज्ञान निरपेक्ष प्रागनुभविक नहीं है।

कांट के अनुसार सभी आनुभविक निर्णय संश्लेषणात्मक होते हैं परंतु सभी संश्लेषणात्मक निर्णय आनुभविक नहीं होते हैं।

पुनः सभी विश्लेषणात्मक निर्णय प्रागनुभविक होते हैं परंतु सभी प्रागनुभविक निर्णय विश्लेषणात्मक निर्णय नहीं होते।

उल्लेखनीय है कि काण्ट ने कुछ संश्लेषणात्मक निर्णयों को प्रागुभविक माना है।

कांट के इस मत को हम एक वेन डाईग्राम के माध्यम से देख सकते हैं

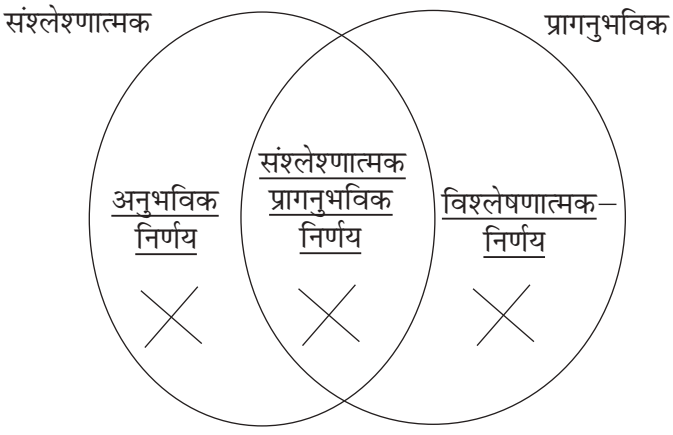

काण्ट के अनुसार ज्ञान की परिभाषा एवं उसकी संभावना *(Definition of Knowledge and its possibility)*

↓

संश्लेषणात्मक प्रागनुभाविक निर्णयों की संभाव्यता *(Possibility of Synthetic apriori Judgement)*

काण्ट के Critique of pure Reason का मुख्य उद्देश्य संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों की संभावना की व्याख्या करना है। काण्ट ज्ञान की कसौटी के रूप में अनिवार्यता एवं सार्वभौमता के साथ साथ नवीनता को भी स्वीकार करते हैं। काण्ट ज्ञान के संबंध में अपनी पूर्ववर्ती विचारधारा बुद्धिवाद एवं अनुभववाद का खंडन करते हैं। बुद्धिवादी ज्ञान में अनिवार्यता एवं सार्वभौमिता को स्वीकार करते हैं परंतु वहां नवीनता की व्याख्या नहीं हो पाती क्योंकि इसमें जन्मजात प्रत्ययों को स्वीकार किया जाता है। (प्रागनुभाविक विश्लेषणात्मक)। दूसरी ओर अनुभववादी ज्ञान में नवीनता को स्वीकार करते हैं परंतु अनुभव आधारित ज्ञान में अनिवार्यता एवं सार्वभौमता नहीं होती परिणामस्वरूप अनुभव आधारित ज्ञान संभाव्य हो जाता है। आनुभविक संश्लेषणात्मक काण्ट इन दोनों मतों को समन्वित करते हुए कहते हें कि ज्ञान संश्लेषणात्मक प्रागनुभाविक निर्णयों की समष्टि या व्यवस्था है (Knowledge is a system of synthetic a priori judgement) । यहां ज्ञान को संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कहने का तात्पर्य है कि–

1. विधेय, उद्देश्य में सम्मिलित नहीं है। (संश्लेषणात्मक Synthetic)
2. साथ ही इसकी प्रमाणिकता अनुभव पर आधारित नहीं है (प्रागनुभविक a priori)

काण्ट के अनुसार संश्लेषणात्मक प्रागनुभाविक निर्णय गणित एवं भौतिक विज्ञान में संभव है। काण्ट के अनुसार सभी संश्लेषणात्मक निर्णय प्रागनुभविक तो नहीं है परंतु कई ऐसे निर्णय है जो संश्लेषणात्मक होने के साथ साथ प्रागनुभाविक भी है।

गणित में संश्लेषणात्मक प्रागनुभाविक निर्णय की संभावना

काण्ट गणित में Synthetic a Priori Judgement को दिखाने के लिए एक उदाहरण देते हैं- 7 + 5 = 12 । यहां 7+5 उद्देश्य है जबकि 12 विधेय है। यहां कांट के अनुसार विधेय उद्देश्य में सम्मिलित नहीं है बल्कि उसके संबंध में एक नवीन जानकारी देता है। 7+5 केवल दो अंकों के योग को बताता है। इन दोनों से या योगफल निकलेगा इसे वह नहीं बताता। यहां '12', "7+5" का योग नहीं है बल्कि योगफल है। यहां 12 का सम्प्रत्यय 7+5 में निहित नहीं है क्योंकि 12 के सम्प्रत्यय को अन्य जोड़ या गुणनफल के माध्यम से भी प्राप्त किया जा सकता है। जैसे 6+6 = 12, 4×3 = 12 इत्यादि। स्पष्ट है कि यह निर्णय संश्लेषणात्मक है। साथ ही यह निर्णय प्रागनुभाविक भी है क्योंकि इसकी प्रमाणिकता अनुभव पर आधारित नहीं है। अत: इस ज्ञान में नवीनता के साथ साथ अनिवार्यता एवं सार्वभौमता भी है। यहां कांट यह कहते हैं कि छोटे अंकों को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि विधेय उद्देश्य में समाहित है परंतु बड़े अंकों को देखने पर नवीनता की स्थिति उभरकर सामने आ जाती है।

कांट के अनुसार गणित देश और काल पर आधारित होता है। ज्यामितीय देश पर आध ारित होती है, जबकि अंकगणित काल पर। कांट ने देश के तीन आयाम माने हैं- लंबाई, चौड़ाई एवं गहराई। रेखागणित की सभी आकृतियां इन्हीं आयामों में निर्मित है। पुन: काण्ट काल का एक आयाम मानते हैं, यह है पूर्व अपर संबंध। चूंकि अंकगणित की सभी संख्याएं पूर्व अपर संबंध से बनी है, इसीलिए काल को समय पर आधारित माना जाता है। अब यदि देश और काल को प्रागनुभविक न मानकर आनुभविक माना जाए, तो फिर इस पर आधारित ज्यामिती एवं अंकगणित की अनिवार्यत: एवं सार्वभौमता की व्याख्या नहीं हो पायेगी। चूंकि गणित में हमें अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति होती है, अत: हमें यह मानना पड़ेगा कि देश और काल आनुभविक न होकर प्रागनुभविक है।

भौतिकी में संशलेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों की संभावना

काण्ट के अनुसार भौतिकी में Synthetic a priori Judgement संभव है। Physics में ऐसे निर्णयों की संभावना का कारण बुद्धि विकल्प (Categories) हैं। काण्ट ने बुद्धि विकल्पों की प्राकृतिक जगत के ज्ञान की 'तार्किक प्रागपेक्षा' (पूर्व अपेक्षा) कहा है। काण्ट ने इसे उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है। जैसे सभी कार्य या घटनाएं कारण-कार्य नियम से संचालित होती हैं। चूंकि घटनाओं में कारण-कार्य निहित नहीं हैं, अत: इसे संश्लेषणात्मक कहा जाएगा। साथ ही इसकी सत्यता सर्वव्यापक एवं अनिवार्य भी है। अत: यह निर्णय प्रागनुभाविक भी है। उल्लेखनीय है कि काण्ट ने समझ-शक्ति (understanding) के अंतर्गत 12 बुद्धि विकल्पों को स्वीकार किया था जिसमें कारणता सिद्धांत भी एक है। इसी सिद्धांत के आधार पर वे भौतिक जगत की घटनाओं की व्याख्या करते है। स्पष्ट है कि कारणता सिद्धांत आनुभविक नहीं है जैसा कि ह्यूम मानते है। यह प्रागनुभाविक है। इस प्रकार काण्ट गणित और भौतिकी में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभावना को स्वीकार करते हैं।

काण्ट के अनुसार तत्वमीमांसा के क्षेत्र में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय संभव नहीं है। तत्वमीमांसीय परामर्श न तो देश काल से संबंधित है और न ही बुद्धि विकल्पों से। बुद्धि विकल्पों की पहुंच में केवल व्यावहारिक जगत आता है। अत: तत्वमीमांसा में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय (Synthetic a priori Judgement) संभव नहीं है। ईश्वर, आत्मा आदि आस्था के विषय हैं, शुद्ध बुद्धि के नहीं। वस्तुत: जगत के मूल तत्व, ईश्वर और आत्मा, बुद्धि

के नहीं बल्कि प्रज्ञा (Reason) के प्रत्यय हैं। प्रज्ञा संवेदनों के अभाव में काल्पनिक प्रत्ययों पर बुद्धि की कोटियों का प्रयोग करके अतीन्द्रिय भ्रम (Transcendental illusion) को पैदा करती है। इसीलिए इन्हें ज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार काण्ट के अनुसार ज्ञान में अनिवार्यता एवं सार्वभौमता के साथ साथ नवीनता को भी स्वीकार करते हैं। इन तीनों विशेषताओं से युक्त ज्ञान की अभिव्यक्ति संश्लेषनात्मक प्रागनुभविक निर्णयों के माध्यम से होती हैं। ऐसे निर्णय गणित और भौतिकी में मिलते हैं, परंतु अतीन्द्रिय तत्वमीमांसा में ऐसे निर्णयों की संभावना नहीं है।

आलोचना

1. A.J. Ayer के अनुसार संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय की अवधारणा असंभव है क्योंकि कोई निर्णय संश्लेषणात्मक होने के साथ साथ प्रागनुभाविक भी हो, इसे माना नहीं जा सकता। इनके अनुसार जो भी संश्लेषणात्मक कथन हैं, वे सभी अनुभाविक हैं और जो भी आनुभविक हैं, वे सभी संश्लेषणात्मक मानने के साथ प्रागनुभविक मानने का अर्थ होगा– संश्लेषणात्मक निर्णय को विश्लेषणात्मक मानना, परंतु यह स्थिति विरोधाभासी है।

2. एयर के अनुसार काण्ट संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक के क्रम में अलग अलग मानदंडों का प्रयोग करते हैं। काण्ट गणित के कथनों को संश्लेषणात्मक कहते समय मनोवैज्ञानिक मानदंड का प्रयोग करते हैं जबकि प्रागनुभाविकता के निर्धारण के क्रम में तार्किक मानदंड का सहारा लेते हैं। यहां एयर का कहना है कि यदि गणित के इस उदाहरण पर तार्किक मानदंड लगाया जाए तो यह स्पष्ट रूप से उभरकर आता है कि वास्तव में यह विश्लेषणात्मक कथन है। इसमें विधेय उद्देश्य के संबंध में कोई नवीन जानकारी नहीं देता। दोनों में तादात्म संबंध है। इसे हम निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं–

उदाहरण $7 + 5 = 12$

$1+1+1+1+1+1+1 \; + \; 1+1+1+1+1 = 1+1+1+1+1+1+1+ \; 1+1+1+1+1$

3. एयर के अनुसार विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों की उद्देश्य विधेय संबंध पर आधारित व्याख्या गलत है। इनके अनुसार विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति में अनिवार्यता इसलिए होती है क्योंकि ऐसे वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों के आधार पर ही उसकी सत्यता का निर्धारण हो जाता है। इसके लिए किसी अनुभव की आवश्यकता नहीं होती। इस सबंध में यहां 'अनिवार्य प्रतिज्ञप्तियों के भाषायी सिद्धांत' को स्वीकार किया गया है।

4. क्वाइन के अनुसार संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक निर्णयों में कोई गुणात्मक भेद नहीं है। अनिवार्य कथनों को जानने के लिए भी अनुभव का सहारा लेना पड़ता है। हमारा संपूर्ण ज्ञान प्रत्यक्षतः या परोक्षतः अनुभव पर ही आधारित है।

महत्व

काण्ट द्वारा प्रस्तुत संश्लेषणात्मक प्रागनुभाविक निर्णय की संभावना की अवधारणा वर्तमान में मान्य नहीं है, फिर भी इसका महत्व है। इसके माध्यम से उन्होंने अपनी पूर्ववर्ती एकांगी मतों की कमियों को उजागर किया तथा ज्ञान को व्यापक रूप में परिभाषित किया। इसके माध्यम से उन्होंने संशयवाद से भौतिक विज्ञान की रक्षा करने का भी प्रयास किया।

ज्ञान की प्रकृति और विभाग

मानव के जानने की शक्ति की प्रकृति को पहचानना और परीक्षण करना कांट के अनुभवातीत दर्शन का आधार है; ऐसा करके ही हम (पूर्णतः वस्तुपरक) ज्ञान की सीमा को निर्धारित कर सकने में स्वयं को समर्थ बना पायेंगे। बौद्धिक क्षमताओं के अनुप्रयोग का सीमांकन उनके तत्वमीमांसाक सिद्धांत का मुख्य विषय है और उसके अनुसार वे कहते हैं कि मानव बुद्धि में बौद्धिक सहज-प्रत्यक्ष की शक्ति की कमी है। यह सीमा कांट को इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि वस्तुओं का ज्ञान तभी संभव है जब वह ऐसी क्षमता द्वारा दिया गया हो जो स्वयं बुद्धि से पृथक हो। संवेदनात्मकता को यथोचित भूमिका प्रदान करते हुए वे मानव मन के तीन अंतरसंबंधित विभागों का उल्लेख करते हैं। वे हैं : (1) संवेदनात्मकता (sensibility); यह हमारे प्रत्यक्षों को संवेदना के मानवीय आकारों जैसे देश और काल के अनुरूप ढालती है, (2) बोधात्मकता (Understanding); यह हमारे निजी वस्तुगत निर्णयों का चिंतन की कोटियों के अनुरूप ढालती है, (3) बुद्धि (Reason); यह जो मूल प्रत्ययों और बोधात्मक के नियमों के प्रयोग का नियमन करते हुए और इस प्रकार संगत अनुभवों को संगठित करते हुए हमारे वस्तुगत निर्णयों की सामूहिक सम्पूर्णता को निश्चित संरचनात्मक आवश्यकताओं के अनुरूप ढालती है। आरंभ में, संवेदनात्मकता सहज ग्रहणशीलता से और बोधात्मकता से सुसज्जित होती है। इसे प्रदत्तता (givenhess) और प्रदत्त की चेतना के रूप में अभिव्यक्ति किया जा सकता है। "प्रदत्तत के होने का पक्ष और प्रदत्त को स्वयं के संज्ञान में लाने का पक्ष" (कैसिरर, 53) । कांट कहते हैं कि प्रकृति की सम्पूर्ण प्रणाली और व्यवस्था मन के कारण हैं और उन्हें दो प्रकार के प्रत्ययों में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम, देश और काल; संवेदनात्मकता में उत्पन्न होते हैं और द्वितीय, कोटियाँ बोधात्मकता में उत्पन्न होती हैं। सम्पूर्ण *क्रिटिक* में कांट इस बात पर जोर देते हैं कि ये प्रत्यय अनुभव से निसृत नहीं होते, किन्तु अनुभव को अनुभव के रूप में ढालने के लिये बुद्धि उनकी पूर्व कल्पना करती है, वस्तुएं देशिक और कालिक होनी चाहिए और उन्हें कोटियों को धारण करना चाहिए। इससे कांट ने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रत्यय प्रकृतिक रूप से शुद्ध होते हैं एवं उत्पत्ति के दृष्टिकोण से प्रागनुभविक होते हैं।

संवेदनात्मकता और बोधात्मकता के मामले में हम प्रत्ययों का एक-दूसरे की क्रियात्मकता और वैधता को संतुलित करने के रूप में प्रयोग करते हैं: अनुभव कोटियों को स्थापित करता है और कोटियाँ पलटकर अनुभव को संभव बनाती हैं। यद्यपि बुद्धि के विषय में ये बोधात्मकता के परिणामों पर कार्य करती है, ये विषयों को निर्मित नहीं करती वरन केवल सैद्धांतिक ऐक्य को लेकर आती हैं। 'इन्द्रिय-संवेदन-शास्त्र' और 'बुद्धि-विकल्प-परीक्षा' के अनुसार यह एक अस्वीकार्य प्रक्रिया है। कोटियों के अनुप्रयोग करे तो बुद्धि को इन प्रत्ययों में कुछ भी वस्तुनिष्ठ पाना दुष्कर है। फलतः, बुचडाहल कहते है कि बुद्धि की स्वायत्तता "मूल्य देकर प्राप्त होती है" (बुचडाहल, 171)। बुद्धि को होना यह बताता है कि प्रकृति बुद्धि की अपनी स्वयं की निर्धारित प्रक्रिया के द्वारा नियंत्रित होती है, जो स्वयं बुद्धि के मानदण्डों से नियंत्रित होती है। इस कथन कि बुद्धि केवल उन्हीं को देखती है जिसे वह उत्पन्न करती है को अन्य, परन्तु उत्तराअनुभविक, परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है, जहां कहा जा सकता है कि सम्भवत, हम धीरे-धीरे अपनी बुद्धि को मान्यताओं और परिकल्पनाओं के द्वारा प्रकृति की अस्पष्ट किन्तु निरन्तर प्रकटित हो रही अंतर्निहित संरचना के अनुसार संरक्षित करते हैं।

क्रिटिक का मुख्य बिन्दु समाकल्पन का ऐक्य (unity of apperception) स्वयं में एकता नहीं है, परंतु यह एकता प्रस्तुतीयों का संश्लेषण करती है और इस प्रकार अनुभवों में एकता स्थापित में, कांट के अनुसार, प्रागनुभविक होता है। वे दर्शाते हैं कि संवेदित सहज-प्रत्यक्ष का विषय स्वयं में स्वभावत: वैयक्तिक होता है, और किसी संयोजन का निर्माण स्वयं संवेदनात्मकता से नहीं होता बल्कि यह बुद्धि की क्रियात्मकता से निर्मित होता है। अत्यानुभविक तर्क (transcendenlal Logic) में वे इस प्रक्रिया को संश्लेषण कहते हैं। संश्लेषण वैध ज्ञान को प्रागनुभविक बनाने हेतु अति महत्वपूर्ण हैं। कांट ने इस सहज संश्लेषण की प्रतिक्रिया को हमारे अनुभव की सभी प्रारम्भिक प्रस्तुतीयों को एक साथ ग्रहण करने अथवा पकड़ने अथवा अक्षरश: समझने के रूप में परिभाषित किया है।

कांट की युक्ति, "प्रत्यय विषय के बिना शून्य है, बिना प्रत्ययों के सहज-प्रत्यक्ष अंधा है" (*सी.पी.आर.,* ए. 57/875), बताती है कि प्रत्यय और संवेदन शक्ति एक दूसरे के बिना संगत अनुभव या ज्ञान नहीं प्रदान कर सकते। संश्लेषण केन्द्रीय एवं आधारभूत प्रक्रिया है जो अनुभूति, जिसमें प्रतीति साथ में जुड़ी होती है, से आरंभ होकर जानने एवं अनुभव करने की क्रिया में सक्रिय होती है। कांट मुख्यतया दो प्रकार के संश्लेषण की बात करते हैं : अनुभविक संश्लेषण और अत्यानुभविक संश्लेषण। अत्यानुभविक संश्लेषण का निष्पादन विशुद्ध अनेक स्तरीय सहज-प्रत्यक्ष की उर्वर कल्पना, जहां कल्पना की क्रिया बोधात्मकता के रूप में समझी जाती है, के द्वारा सम्पादित होता है। वहीं अनुभविक संश्लेषण कोटियों के अनुप्रयोग के माध्यम से विषयनिष्ट प्रतिभासिक जगत के रूप में और फिर बाद में प्रतिभासिक जगत के ज्ञान के रूप में फलित होता है। ज्ञान के विभिन्न घटकों का उर्ध्व संश्लेषण, व्यवस्थात्मक एकता, और घनिष्टता अंतिम और निरपेक्ष बौद्धिक शक्ति (बुद्धि) की व्यवस्थित संक्रियता में नई ऊँचाईयों पर पहुँचती है। अत्यानुभविक प्रत्ययों से सुसज्जित और व्यवस्थित ज्ञान की प्राप्ति की जिज्ञासा से बुद्धि मानव के लिए संभावित निरपेक्ष स्तर के ज्ञान की ओर बढ़ती है। बुद्धि के प्रकार्य और प्रकृति को स्पष्ट करने का यह सकारात्मक दृष्टिकोण द्वंदात्मकता के बुद्धि कारित अत्यानुभविक भ्रम के विश्लेषण द्वारा आच्छादित हो जाता है।

बोधात्मकता में पूर्ण ऐक्य न होने कारण शुद्ध के प्रत्यय की अनिवार्यता का मार्ग प्रशस्त हो जाता है जो "मनमाने ढंग से न होकर स्वयं बुद्धि की अपनी प्रकृति द्वारा ही जनित होता है" (सी.पी.आर., ए. 327/बी. 384)। शुद्ध बुद्धि अपने शुद्ध प्रत्यय से क्रिया करती है जो अन्य शब्दों में "अत्यानुभविक प्रत्यय" के नाम से जानी जाती है। इन्हें 'हमारी बुद्धि की प्रकृति' से निसृत किया जाता है। ये प्रत्यय केवल अनुचिंतनीय न होकर अनुमति होते हैं। बोधात्मकता के प्रत्यय अनेक प्रतीतियों के अनुचिंतन से बनते हैं। अनुचिंतन सम्प्रत्ययीकरण का आरंभ करते हैं। वे शुद्ध या प्रागनुभविक होते हैं। क्योंकि जहाँ तक ये प्रतीतियाँ अनिवार्य रूप से सम्भव आनुभविक चेतना से संबंधित होते हैं। क्योंकि जहाँ तक ये प्रतीतियाँ अनिवार्य रूप से सम्भव आनुभविक चेतना से संबंधित होते हैं वे प्रतीतियों के अवचिन्तन के ऐक्य से अधिक कुछ नहीं होते। बुद्धि, दूसरी ओर, शुद्ध प्रत्ययों या प्रत्ययों द्वारा केवल प्रदत्त वस्तु पर ही चिंतन नहीं करती वरन् किसी भी उस विषय से परे जाती है जो समन्वियत अथवा अनुमिती क्रिया द्वारा प्रदत्त किया जा सकता है। यह इन प्रत्ययों की मौलिक प्रकृति को स्पष्ट करती है। इन प्रत्ययों की उत्पत्ति पृथकता में होती है और अनुभूत वस्तु से इनके संबंध में अपरोक्षता (सहजस-प्रत्यक्ष से मध्यास्थता में कमी के कारण) रहती है। बुद्धि के प्रत्यय का, कांट के अनुसार, "वास्तव में किसी भी ऐसे विषय से कोई संबंध नहीं होता जिसे उनके साथ-साथ प्रस्तुत किया जा सके"

(*सी.पी.आर.,* ए. 336/बी. 393) तथा जिसके द्वारा कांट उनकी अत्यानुभविक प्रकृति को सामने लाते हैं और जिन्हें 'अत्यानुभविक प्रत्यय' कहते हैं (*सी.पी.आर.,* ए. 321/बी. 378)। बुद्धि के अत्यानुभविक प्रत्यय नियामक प्रकृति के हैं क्योंकि वे अपनी कोटियों के द्वारा अप्राप्त निरपेक्ष और व्यवस्थित एकता की ओर अग्रसर बोधात्मकता की संक्रियाओं को निर्देशित और नियंत्रित करते हैं। कांट की व्यवस्था में सन्निहित नियामक सिद्धांत के तीन लक्षण इस प्रकार हैं- (1) संघटनात्मक शक्ति की कमी (2) उनका केवल पद्धति परक प्रकार्य होता है, और (3) वे अत्यानुभविक प्रकृति के होते हैं। कांट बुद्धि के नियामक कार्य को अत्यानुभविक रूप से वैध मानते हैं, क्योंकि वह बुद्धि की ग्रहण करने वाली और आत्मस्फूर्त क्षमताओं दोनों को सम्पूर्णता के प्रत्ययों औरद निरपेक्ष एकता की धारणा के द्वारा परिपूर्णता की ओर ले जाता है।

क्रिटिक में विकसित चिन्तन की यह प्रणाली अत्यानुभविक दर्शन के नाम से जानी जाती है और यह अनुभव की अनिवार्य दशाओं की प्रणाली से संबंधित है। कांट के लिए वे दशायें ऐसा ज्ञान संघटित करती हैं जो तार्किक रूप से अनुभव के पूर्व है या 'सभी अनुभवों के पूर्व हैं' अर्थात् प्रागनुभविक है। यह अत्यानुभविक लक्षण उनके इस प्रश्न 'विषय क्या है?' से 'अनुभव की सहायता के बिना हम विषय के बारे में क्या जानते हैं?' से 'अनुभव की सहायता के बिना हम विषय के बारे में क्या जानते हैं?' की ओर जाने में दिखाई पड़ता है। अथवा दूसरे शब्दों में, सत्य के स्वरूप निर्धारण करने के स्थान पर *क्रिटिक* का उद्देश्य सत् के ज्ञान की सम्भावनाओं को खोज निकालना है। अत्यानुभविक चिंतन के आरंभ करने में कांट का पहला लक्ष्य ज्ञान के श्रोत निर्धारण और उनके वैध अनुप्रयोग द्वारा 'प्राक्अनुभव के प्रत्यय की खोज' करना है। इन श्रोतों, प्रागनुभविक संप्रत्यय, के संबंध में यह कहा जा सकता है कि उनका अत्यानुभविक प्रयोग उस सीमा तक संभव है जहां तक वे ज्ञान की खोज में नियायक सिद्धांत की तरह प्रयोग किये जाते हैं, जब कि उनका प्रतिनिधिक निरपेक्ष सत की खोज में संघटनात्मक अनुप्रयोग अत्यानुभविक है और इस प्रकार द्वंदात्मक प्रकृति का है।

जब विषयी के अत्यानुभविक प्रत्यय से, जिसमें कुछ भी बहुफलकीय नहीं होता, विषयी की परम ऐकता की अनुभूति की जाती है, तो यह अत्यानुभविक भ्रम को जन्म देता है। औपचारिक तर्कशास्त्र में आकारिक त्रुटिपूर्ण न्यायवाक्य, जिसके द्वारा तर्क कर्ता स्वयं को भ्रम में डालता है, को निन्हित करने हेतु तर्काभास (paralogism) का प्रयोग किया जाता है। इसके आधार पर, कांट के अनुसार, अनुभवातीत न्यायवाक्य वह है जिसका एक अनुभवातीत आध ार है, जो हमें आकारिक रूप से अवैध निष्कर्ष निकालने के लिये बाध्य करता है। यह एक अपरिहार्य भ्रम है या आत्मप्रवंचन है जो मानवबुद्धि की प्रकृति से ही प्रेरित है। *पैरालोजिज्म* तब उत्पन्न होता है जब आत्मा का नियामक प्रत्यय स्वआपूर्त संघटित सत्ता के रूप में अवैध ढंग से प्रयुक्त किया जाता हैं। प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान में इसका अप्रत्यक्ष परंतु प्राथमिक कारण आत्मा की अमरता सिद्ध करना है, जिसमें 'मैं' (स्वः), जो केवल अन्तः प्रज्ञात्मक ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है, के ऊपर कोटियों को गलत ढंग से प्रयुक्त किया जाता है। तर्काभास का अनुभवतीत विश्लेषण बताता है कि प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान के मौलिक लक्ष्य को आत्मा के विशुद्ध सम्प्रत्यय, पूर्ण तथा आध्यात्मिक होने के कारण, की तरह प्राप्त नहीं किया जा सकता। यहां जिस पर कोटियां आरोपित की जाती हैं वह (स्वः) रिक्त होता है और इस प्रकार व्यवस्थित कोटियों के अनुप्रयोग के परे होता है। यह बुद्धि के सैद्धांतिक अनुप्रयोग के उन क्षेत्रों में नियमन की माँग करता है, जो हमारी बौद्धिक क्षमताओं की पहुँच से परे हैं।

विप्रतिषेध दो विरूद्ध वाक्यों का युग्म है, जिसमें प्रत्येक को औपचारिक रूप से वैध, किंतु अनुभवांतीत रूप से असंगत, तर्कों द्वारा सम्पुष्ट किया जा सकता है संवेदना और बौध ात्मकता की संक्रियाओं में पूर्ण संश्लिष्ट एकता की कमी बुद्धि को सभी प्रकार की पूर्णताओं की माँग हेतु प्रेरित करती है। बोधात्मकता के प्रकरण में प्रतिभासित श्रेणियों से परे जाना असंभव है क्योंकि यह स्वयं के प्रारूप और संवेदना के आंकड़ों से आंतरिक रूप से बंधी होती है। फलस्वरूप, पूर्ण एकता की खोज में बुद्धि संभव अनुभवों के परे की परिकल्पना करती है और कोटियों की सीमाओं से परे जाकर निरपेक्ष को प्राप्त करने का प्रयास करती है। बुद्धि का यह दृष्टिकोण, जिसे ईश्वर के दृष्टिकोण के समान माना जा सकता है, प्रतिभासिक विश्व के संबंध में इस प्रकार कार्य करता है कि प्रत्येक स्थिति हेतु दशाओं की पूरी शृंखला अनौपाधिक से संचालित होती है। इसे *क्रिटिक* का विश्वमूलक प्रत्यय कहते हैं, जिसमें अनौपाधिक से संचालित होती है। इसे *क्रिटिक* का विश्वमूलक प्रत्यय कहते हैं, जिसमें प्रतिभासिक विश्व की परम एकता को निर्मित करने के लक्ष्य से बुद्धि प्रदत्त प्रतिभासिक विश्व की सम्पूर्णता को परिकल्पित और स्वीकृत करती है। ऐसा द्वंद्व दस तथ्य से उत्पन्न होता है कि बुद्धि ऐसी एकता खोजती है जो बोध के परे होती है किन्तु बोध की दशाओं के अनुरूप होने का आशय प्रकट करती हैं। इस प्रकार प्रक्रिया में बुद्धि अपने बोध के परे के प्रत्ययों अर्थात कोटियों की वैध सीमा से परे के प्रत्ययों को प्रयुक्त करने का प्रयास करती है, जो पलट कर बुद्धि के विप्रतिषेध को जन्म देती है। वे विप्रतिषेध बुद्धि के आंतरिक द्वंद्व को अभिव्यक्ति करते हैं, जिसके संप्रत्यय कोटियों के गलत प्रसार के कारण उत्पन्न होते हैं। कांट चार कोटियों, जिनके अनुप्रयोग से विश्वमूलक प्रत्यय और उनके साथ, विप्रतिषेध उत्पन्न होते हैं, का वर्णन करते हैं। वे कोटियां हैं; परिमाण, सत, कारणता और अनिवार्यता।

कांट अपने *क्रिटिक* में इसे हल करने का प्रयास करते हैं-बोधात्मकता पर बुद्धि का वैध शासन करके, प्रतीती और स्वलक्षण (things-in-it self) के पृथकक्करण में अनुभवातीत परिप्रेक्ष्य के द्वारा प्रदान करके। सभी चार विप्रतिषेधों के द्वारा कांट शुद्ध बुद्धि में बुद्धिवाद और अनुभववाद के द्वंद्व को अंतिम रूप से संश्लिष्ट करने में अनुभवातीत दर्शन की भूमिका को स्पष्ट करना चाहते हैं। वास्तव में, 'इन्द्रिय-संवेदन-शास्त्र' और 'बुद्धि-विकल्प परीक्षा' के सिद्धांत का वस्तु के स्वरूप (स्वलक्षण) और प्रतीती में अंतर के द्वारा द्वंद्वात्मक में अतिरेक हो जाता है यद्यपि विप्रतिषेधों का विचार इसी कारण संभव होता है। यह समीक्षात्मक दर्शन में बुद्धि के प्रत्ययों का महत्व भी इंगित करता है और व्यावहारिक बुद्धि की प्राथमिकता का मार्ग भी प्रशस्त करता है। यद्यपि विप्रतिषेध सैद्धांतिक बुद्धि की कल्पनात्मक उड़ान और बोध के साथ तथा स्वयं के साथ इस के द्वंद्व का परिणाम है। इनका अनुभवातीत दर्शन में समापन पारस्परिक आलोचना की निरंतरता सुनिश्चित करता है, जिसे हमारे विश्व-ज्ञान की वृद्धि में निरंतर योग देते रहना चाहिए।

देश और काल की अवधारणा (Space and Time)

कांट अपनी पुस्तक Critique of Pure Reason में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति को शुद्ध बुद्धि (pure Reason) कहते हैं। इस शुद्ध बुद्धि के तीन भाग है-

1. संवेदन शक्ति (Sensibility) 2. समझ शक्ति या बुद्धि (Understanding), 3. प्रज्ञा शक्ति (Reason)।

Sensibility बाह्य जगत से संवेदनाओं को ग्रहण कर ज्ञान की सामग्री जमा करती है। Understanding में स्थित बारह बुद्धि विकल्पों में इन्हें ढालकर ज्ञान का निर्माण किया जाता है जबकि प्रज्ञाशक्ति (Reason) को तीन प्रत्ययों से जोड़कर इन्हें समष्टिगत रूप प्रदान किया जाता है।

Sensibility के अंतर्गत दो प्रागनुभाविक आकार होते हैं। ये हैं- देश और काल (Space and Time)। इसके माथ्यम से इंद्रिय अनुभव से प्राप्त सामग्री बुद्धि विकल्पों तक पहुंचती है। देश और काल संवेदना एवं बुद्धि विकल्प के मध्य के दो द्वार है। ये अनुभव निरपेक्ष हैं। हम अनुभव के माध्यम से देश और काल का ज्ञान प्राप्त नहीं करते बल्कि देश और काल के माध्यम से अनुभव किया जाता है।

काण्ट के अनुसार देश और काल मानसिक चश्मे के समान हैं। जिस प्रकार नीला चश्मा पहनने पर सब कुछ नीला दिखाई देता है उसी प्रकार देश और कालरूपी मानसिक चश्मे के द्वारा हम बाह्य जगत को देखते हैं तो हम प्रत्येक वस्तु को सदैव देश और काल में ही पाते हैं। इस प्रकार हमारा सारा ज्ञान देश काल परिछिन्न होता है। इस देश और काल का ज्ञान अनुभव से नहीं होता बल्कि देश और काल सभी संवेदनाओं के अनिवार्य आधार हैं। इस संदर्भ में कांट का कथन है कि देश और काल दृश्य जगत की वास्तविकता नहीं है बल्कि वे इनके माध्यम से हम बाह्य जगत की वस्तुओं को देश और काल में देखते हैं। (Space and Time are not Realities of the Phenomenal word but modes under which we see things apart).

कांट यहां देश और काल के संबंध में प्रचलित अन्य मान्यताओं का खंडन भी करते हैं-

1. न्यूटन के अनुसार देश और काल वस्तुनिष्ठ पदार्थ हैं। इनकी वास्तविक एवं स्वतंत्र सत्ता है। भारतीय दर्शन में वैशेषिक दर्शन में भी इसके समरूप स्थिति दिखाई देती है।

2. लाइबनित्ज के अनुसार देश और काल गुण या संबंध है। लाइबनित्ज के अनुसार देश और काल व्यावहारिक दृष्टिकोण से अयथार्थ (Empirical unreal) है। लाइबनित्ज देश और काल को वस्तुओं को व्यवस्थित करने वाला संबंध मात्र स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार मोनडों की ही वासतविक एवं स्वतंत्र सत्ता है। देश और काल की अवधारण मोनडों पर ही आधारित है।

कांट के अनुसार देश और काल को न तो वस्तुनिष्ठ पदार्थ माना जा सकता है और न ही इसे वस्तुओं के गुण या संबंध के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

कांट देश और काल के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए दो पक्षों की विवेचना करते हैं-

1. देश और काल प्रागनुभाविक हैं। (Space and Time are apriori)

2. देश और काल सम्प्रत्यय नहीं हैं बल्कि शुद्ध प्रत्यक्ष हैं (Space and Time are not concepts but pure percepts)

देश और काल आनुभविक नहीं हैं

कांट के अनुसार देश और काल प्रागनुभविक हैं। ये किसी भी ज्ञान के पूर्व विद्यमान रहते हैं। इन्हें प्रागनुभाविक नहीं मानने पर वस्तुओं की दैशिक कालिक स्थिति को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। हम दिन-रात, आज-कल आदि तभी कह सकते हैं जब हमें पहले से ही काल का ज्ञान हो। इसी प्रकार नजदीक दूर आदि शब्दों का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब हमें पहले से Space का ज्ञान हो। अत: देश और काल आनुभाविक न होकर प्रागनुभाविक

है। वस्तुओं का एक साथ होना Space पर निर्भर है जबकि घटनाओं का क्रमिक रूप से घटित होना काल पर निर्भर है। स्पष्ट है कि देश और काल की अवधारणा वस्तुओं पर निर्भर नहीं है बल्कि समस्त दैशिक कालिक संबंध ही देश और काल पर निर्भर है।

देश और काल को गुण या संबंध भी नहीं माना जा सकता। गुणों के विनाश की बात सोची जा सकती है। पुनः गुण द्रव्य आश्रित होते हैं, परंतु हम देश और काल से रहित वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते। दूसरी ओर हम वस्तु रहित देश और काल की कल्पना कर सकते हैं। स्पष्ट है कि देश और काल को वस्तुओं का गुण या संबंध नहीं माना जा सकता।

कांट के अनुसार ज्यामिति एवं अंकगणित की अनिवार्यता एवं सार्वभौमता की व्याख्या करने के लिए भी देश और काल को प्रागनुभाविक मानना आवश्यक है। ज्यामिति Space पर आधारित है जबकि अंकगणित Time पर आधारित है। इन दोनों में अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति की जाती है। अब यदि देश और काल को प्रागनुभाविक न मानकर आनुभाविक माना जाए तो फिर इस पर आधारित ज्यामिति और अंकगणित की अनिवार्यता एवं सार्वभौमता की व्याख्या नहीं हो पायेगी।

देश और काल सम्प्रत्यय नहीं है बल्कि शुद्ध प्रत्यक्ष हैं (Pure form of Intuition)

कांट के अनुसार सम्प्रत्यय (concept) के निर्माण के लिये अनेक उदाहरणों की आवश्यकता होती है। जैसे मनुष्यत्व के निर्माण के लिये भिन्न भिन्न मनुष्यों का होना जरूरी है जबकि Space भी एक है और काल भी एक है। हम केवल अपनी व्यवहारिक सुविधा के लिये देश और काल को भिन्न भिन्न भागों में बांटते हैं। अतः देश और काल सम्प्रत्यय (concept) नहीं है, क्योंकि इसका कोई वास्तविक उदाहरण नहीं मिलता।

कांट के अनुसार देश और काल शुद्ध संवेद्य है। ये इन्द्रिय संवेदनाओं के माध्यम से ज्ञात नहीं है। इसलिए इन्हें शुद्ध संवेद्य कहा गया है। ये हमारी सभी संवेदनाओं के प्रागनुभाविक आकार है।

सम्प्रत्यय concept में गुणों की संख्या अपने उदाहरणों से कम होती है। उदाहरणों में अनेक गुण पाये जाते हैं जबकि सम्प्रत्यय में भी उसके केवल अनिवार्य एवं सार्वभौम धर्म को ही सम्मिलित किया जाता है। यहां देश और काल को इस संदर्भ में भी सम्प्रत्यय नहीं कहा जा सकता। देश और काल के तथाकथित उदाहरणों में जितने गुण हैं वे सभी गुण देश और काल में भी पाए जाते हैं।

सम्प्रत्यय को अपने सभी उदाहरणों का योग नहीं कहा जा सकता। जैसे मनुष्यत्व सभी मनुष्यों का योग मात्र नहीं है। दूसरी ओर देश और काल अपने सभी उदाहरणों के योगमात्र हैं।

यहां कांट देश और काल को Infinite Given Magnitude कहते हैं अर्थात् देश और काल के जितने भी खंड है वे सभी देश और काल के सीमित एवं आंतरिक खंड है क्योंकि वास्तव में देश और काल असीम एवं अखंड हैं।

यहां देश और काल को pure percept कहने का आशय केवल इसकी सूचना देना है कि संवेदनाएं देश और काल के माध्यम से ही प्रत्यक्षित होती हैं। बिना देश और काल के संवेदनाओं का प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है। देश और काल रूपी विशुद्ध प्रत्ययों का ज्ञान इन्द्रिय संवेदन न होकर प्रागनुभाविक रूप से होता है।

आलोचना

1. रसेल अपनी पुस्तक History of Western Philosophy में कहते हैं कि यदि देश और काल आत्मनिष्ठ हैं तो हम कुछ दैशिक कालिक संबंधों को सदैव एक ही तरह का क्यों देखते हैं? हम हमेशा यही देखते हैं कि दो आंखों के बीच नाक है। यदि देश और काल आत्मनिष्ठ हैं तो फिर वस्तुओं को एक निश्चित दैशिक स्थिति में देखने का कोई आधार नहीं है।

2. रसेल के अनुसार देश और काल की अवधारणा वस्तु सापेक्ष है। वस्तुओं एवं घटनाओं से बिल्कुल पृथक, भिन्न, स्वतंत्र, देश और काल की कल्पना नहीं की जा सकती। आधुनिक विज्ञान भी इसका समर्थन करता है।

3. देश और काल के संबंध में कांट के विचार वस्तुनिष्ठ एवं तार्किक प्रमाणों पर आधारित नहीं है बल्कि वे पूर्वाग्रह एवं पूर्व निर्धारित लक्ष्यों पर आधारित है। यदि देश और काल प्रागनुभाविक हैं तो फिर उनके ज्ञान को लेकर प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। यदि वे अनुभवगम्य हैं तो फिर वे संभाव्य हो जाएंगे। यदि हमारी बुद्धि उन्हें जानती है तो फिर वे सम्प्रत्यय (concept) हो जाएंगे। इस प्रकार यहां देश और काल की अवधारणा कांट के दर्शन में विसंगति उत्पन्न कर देती है।

4. देश और काल संबंधी कांट की अवधारणा आधुनिक विज्ञान द्वारा समर्थित नहीं है। कांट ने देश और काल को परस्पर पृथक माना परंतु आधुनिक युग में आइंस्टीन ने देश और काल की सापेक्षता का सिद्धांत प्रस्तुत कर इसका खंडन किया है।

5. कांट ने space के तीन आयाम (Dimension) माने हैं- लंबाई, चौड़ाई, ऊंचाई। परंतु आइंस्टीन ने लंबाई, चौड़ाई और ऊंचाई के साथ साथ Time को Space का चौथा आयाम माना। इस प्रकार Time भी Space का एक आयाम है। इस रूप में कांट की अवधारणा विज्ञान समर्थित नहीं है।

6. कांट देश और काल को प्रागनुभाविक आकार कहते हैं जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार देश और काल से परे वस्तु का अपना वास्तविक स्वरूप क्या है, इसे जाना नहीं जा सकता।

इस प्रकार कांट की देश और काल की अवधारणा अज्ञेयवाद (Agnosticism) की ओर ले जाती है। वे ज्ञान की व्याख्या करने की बजाय ज्ञान को ही असंभव बना देते हैं।

बुद्धि विकल्प/कोटियां/पदार्थ (Categories)

कांट ने अपनी पुस्तक The Critique of Pure Reason के दूसरे भाग अतीन्द्रिय बोध (Transcendental Analytic) बुद्धि की कोटियों की चर्चा की है। कांट के अनुसार ज्ञान के निर्माण में दो प्रक्रियाओं का पूरा होना आवश्यक है।

1. इन्द्रिय संवेदनाओं का संवेदन शक्ति के दो प्रागनुभविक आकारों अर्थात् देश और काल के माध्यम से प्राप्ति। (संवेदनाएं ज्ञान की सामग्री हैं, परंतु ये अपने आपे में अव्यवस्थित एवं असंबद्ध होती है। अत: अपने आप में ज्ञान नहीं।)

2. देश और काल के माध्यम से संवेदनाओं का बुद्धि (understanding) तक पहुंचना तथा वहां स्थित बारह बुद्धि विकल्पों (categories) के सांचे में ढलकर ज्ञान के रूप में निर्मित होना। (अव्यवस्थित संवेदनाओं को अव्यवस्थित एवं समन्वित कर ज्ञान का निर्माण)।

बुद्धि (Understanding) में बारह मूल धारणाएं होती हैं जिनके आधार पर वह अव्यवस्थित संवेदनाओं को व्यवस्थित कर ज्ञान का रूप देती है। बुद्धि की इन्हीं मूल धारणाओं को कांट 'बुद्धि विकल्प' (Categories) कहते हैं।

कांट द्वारा वर्णित बुद्धि के बारह विकल्प (Categories) आकारिक तर्कशास्त्र के बारह परामर्शों Judgement के अनुरूप हैं। इन कोटियों के चार वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में तीन-तीन कोटियां हैं।

परिमाण (Quantity) के आधार पर

निर्णय	बुद्धि की कोटियां	उदाहरण
1. पूर्णव्यापी	1. एकत्व	1. सभी मनुष्य मरणशील है।
2. अंशव्यापी	2. अनेकत्व	2. कुछ मनुष्य ईमानदार हैं।
3. एकवाची	3. सम्पूर्णत्व	3. राम ईमानदार है।

गुण (Quality) के आधार पर

1. भावात्मक	4. वास्तविकता (Reality)	1. मनुष्य विचारशील है।
2. अभावात्मक	5. अभाव या निषेध (Negation)	2. पशु विवेकी नहीं है।
3. अपरिमितात्मक (Infinite)	6. सीमा (Limitation)	3. आत्मा अमर है।

संबंध (Relation) के आधार पर

1. निरपेक्ष	7. द्रव्य तथा गुण	1. अग्नि ऊष्ण है।
2. हेत्वामिश्रित	8. कारण तथा कार्य	2. यदि पानी बरसता तो जमीन गीली हो जाती।
3. वैकल्पिक	9. क्रिया तथा प्रतिक्रिया	3. या राम ईमानदार है या बुद्धिमान है।

विधि (Modality) या प्रकार के आधार पर

1. संदेहात्मक	10. संभावना-असंभावना	1. मंगल ग्रह पर जीवन हो सकता है।
2. विधानात्मक	11. भाव-अभाव (Existence-Non-existence)	2. यह मेज पांच फीट लंबी है।
3. अनिवार्य	12. अनिवार्यता-आपातिकता	3. दो और दो का योग चार होता है।

इस प्रकार कांट 12 कोटियों की चर्चा करते हैं जो 12 परामर्शों के अनुकूल है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक कोटि एक विशेष प्रकार के परामर्श के रूप में ज्ञान को ढालती है। कांट इसे परामर्शो के आधार पर बुद्धि विकल्पों की स्थापना कहते हैं। बुद्धि की इन कोटियों या विकल्पों में ढलकर ही ज्ञान स्थायित्व का रूप लेता है।

इंद्रिय संवेदनाओं को ज्ञान के रूप में ढलने की प्रक्रिया में कांट तीन चरणों का उल्लेख करते हैं-

1. संवेदनाओं का सम्मिश्रण या संग्रह (Apprehention) : असंबंधित संवेदनाओं का क्रम एवं व्यवस्था में सम्मिश्रण।

2. संवेदनाओं की पुनः अभिव्यक्ति (Reproduction) : पूर्व में प्राप्त संवेदनाओं की पुनः अभिव्यक्ति ताकि बाद में प्राप्त होने वाली संवेदनाओं से इसका सामंजस्य हो सके।

3. प्रत्यभिज्ञा (Recognition) : इस क्रिया में आत्मा अपने विगत अनुभवों के आधार पर किसी वस्तु को पुनः पहचान लेती है। इसमें पूर्व में प्राप्त संवेदनाओं का बाद में प्राप्त संवेदनाओं से संयोग होता है।

इन तीनों क्रियाओं के संश्लेषण के लिए यह अनिवार्य है कि एक ही आत्मचेतना हो जो प्रत्यक्षीकरण, स्मरण और पहचानने की तीनों प्रक्रियाओं का संचालन करे। इसे कांट ने Transcendental unity of apperception कहा है अर्थात् ज्ञान प्रक्रिया में एक आत्मचेतना का रहना अंतिम शर्त है जिसके द्वारा ज्ञान संभव होता है।

बुद्धि विकल्पों का तात्विक निगमन (Metaphysical Deduction of Categories)

कांट ने कोटियों की संख्या ज्ञात करने और उनकी उत्पत्ति दिखाने हेतु तात्विक निगमन किया है। कांट के अनुसार कोटियों का आधार बुद्धि है। बुद्धि के दो कार्य है :

1. निर्णय में विभिन्न सम्प्रत्ययों को परस्पर संबंधित करना।

2. इन्द्रिय-संवेदनों को किसी विषय के सम्प्रत्यय से परस्पर संबंधित करना।

कांट के अनुसार यदि हम यह जान लें कि निर्णय के आकार कितने हैं तो फिर उसी के आधार पर बुद्धि के सम्प्रत्ययों को जान सकते हैं। कांट के परंपरागत तर्कशास्त्र में जितने आकारों को माना गया है, उन्हीं के आधार पर वह सम्प्रत्ययों का निर्माण करता है।

कांट के अनुसार यह बारह बुद्धि विकल्प प्रत्येक ज्ञान या अनुभव की आवश्यक शर्ते है। हमारा संपूर्ण व्यावहारिक ज्ञान इससे निर्मित है। परंतु ये बुद्धि विकल्प अनुभवजन्य नहीं है, बल्कि अनुभव स्वयं इन पर आधारित है। कांट के अनुसार चूंकि बुद्धि विकल्पों के संदर्भ में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं-

1. इनमें प्रथम छः स्थैतिक या अचल है, क्योंकि ये वस्तुओं के स्वभाव को बताते हैं। अंतिम छः गत्यात्मक (Dynamic) हैं।

2. ये बारह बुद्धि-विकल्प चार वर्गों में विभाजित है और प्रत्येक विभाग के अंतर्गत तीन विकल्प आते हैं। इनमें प्रत्येक तीसरा विकल्प प्रथम दो विकल्पों का समन्वय है, परंतु यह उन दोनों का योगफल मात्र नहीं है। यह एक नवीन विकल्प है।

3. इन चार वर्गीकरणों में संबंधात्मक वर्गीकरण सबसे महत्वपूर्ण है, क्योंकि बुद्धि का प्रमुख कार्य संबंध स्थापित करना है। इससे जगत को व्याख्या में विशेष मदद मिलती है।

4. बुद्धि-विकल्प संवेदनों को व्यवस्थित कर ज्ञान का रूप देते हैं। विज्ञान में सार्वभौमिकता एवं अनिवार्यता का कारण-बुद्धि विकल्प ही है। परंतु ये विकल्प व्यावहारिक क्षेत्र तक सीमित है। संगत रूप से इनका प्रयोग परमार्थ के संदर्भ में नहीं किया जा सकता।

बुद्धि विकल्पों का अतीन्द्रिय निगमन (Transcendental Deduction of Categories)

यहां निगमन का प्रयोग तार्किक अर्थ में न करके विधि के अर्थ में किया गया है। कांट के अनुसार इन्द्रिय संवेदन का देश काल से घनिष्ठ संबंध है, क्योंकि संवेदनाओं के प्राप्ति देश और काल से होकर ही होती है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उत्पन्न होता है कि आखिर बुद्धि के सम्प्रत्यय का औचित्य क्या है?

अतीन्द्रिय निगमन में बुद्धि के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। अपने Critique of Pure Reason मे कांट ने अतीन्द्रिय निगमन को दो भागों में बांटा है- 1. आत्मनिष्ठ निगमन और 2. वस्तुनिष्ठ निगमन।

आत्मनिष्ठ निगमन में कांट यह दिखाते हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिये बुद्धि के सम्प्रत्यय अनिवार्य है। देश-काल के बिना इन्द्रिय संवेदन संभव ही नहीं है। अतः यहां औचित्य का प्रश्न नहीं उभरता। परंतु कोटियों की स्थिति इससे भिन्न है, क्योंकि बिना कोटियों के भी इन्द्रिय संवेदन संभव है। केवल इन्द्रिय संवेदन के आधार पर किसी विषय का ज्ञान नहीं होता। बुद्धि के सम्प्रत्यय के द्वारा ही संवेदन विषय के संवेदन बनते हैं। यहां कांट का तात्पर्य है कि किसी भी विषय के प्रत्यक्ष में एक तरफ इन्द्रिय-संवेदन होता है लेकिन केवल अव्यवस्थित संवेदन से ज्ञान नहीं होता। संवेदन से ज्ञान तब होगा जब इन संवेदनों को सम्प्रत्यय से संयोजित किया जाए। जब इन्द्रिय संवेदन के विषय बुद्धि के सम्प्रत्यय के द्वारा एक दूसरे सं संबंधित किये जाते हैं तभी विषय का ज्ञान होता है। इसीलिए बुद्धि के सम्प्रत्यय विषय के ज्ञान के लिए अनिवार्य है। इसलिए कांट कहता है कि संवेदन की अपेक्षा बुद्धि के सम्प्रत्यय अधिक महत्वपूर्ण है।

इस तरह कांट कहता है कि बिना बुद्धि के सम्प्रत्ययों के किसी भी विषय का ज्ञान नहीं होता। यही कोटियों का औचित्य है, अर्थात् संवेदनों को विषय के ज्ञान के रूप में परिवर्तित करने का आधार बुद्धि विकल्प है। बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है। इसका ये अर्थ नहीं है कि बुद्धि प्रकृति को उत्पन्न करती है, इसका अर्थ है- बुद्धि ही प्रकृति को ज्ञान का विषय बनाती है, अर्थात् बुद्धि के द्वारा वस्तुनिष्ठ ज्ञान संभव है।

आलोचना

1. हीगल के अनुसार न तो बुद्धि के विकल्प बारह है और न ही उन्हें आत्मनिष्ठ माना जा सकता है। इनके अनुसार बुद्धि के विकल्प अनेक है। साथ ही ये विचार और वास्तविक दोनों की कोटियां है। इनके अनुसार विचार के सम्प्रत्यय की सत्ता के सम्प्रत्यय है। इस प्रकार वे तर्कशास्त्र एवं तर्कमीमांसा को एक कर देते हैं।

2. कॉलिनवुड के अनुसार यह सही है कि कोटियां ज्ञान की आवश्यक है परंतु कोटियां सदैव एक समान नहीं रहती। प्रत्येक युग के साथ कोटियां परिवर्तित होती रहती हैं अर्थात् कोटियों का कोई स्थायई निश्चित स्वरूप नहीं है।

3. लेविस के अनुसार यह सत्य है कि बिना सम्प्रत्यय के ज्ञान नहीं होता, रंतु प्रत्येक व्यक्ति सम्प्रत्ययों का चुनाव स्वयं करता है।

4. कांट के अनुसार कारणता का नियम एक बुद्धि विकल्प होने के कारण अनिवार्य एवं प्रागनुभविक है, परंतु क्वान्टम फिजिक्स में यह माना जाता है कि कारणता का नियम सभी स्थितियों में अनिवार्यता नहीं रखता।

महत्व : इस बात पर एकता है कि बिना सम्प्रत्ययों के केवल संवेदनों से ज्ञान संभव नहीं है। कोटियां ज्ञान की अनिवार्य शर्त है।

प्रज्ञा के प्रत्यय तथा विप्रतिषेध (Ideas of Reason)

कांट हमारी ज्ञान शक्ति के तीन आधार मानते हैं-

1. संवेदनशील (sensibility) 2. बुद्धि (understanding) 3. प्रज्ञा (Reason)

संवेदनशक्ति ज्ञान की सामग्री या उपादान प्रस्तुत करती है और बुद्धि उन्हें आकार प्रदान करती है। संवेदनशील अपने प्रागनुभविक आकारों देश और काल के माध्यम से बाहर से संवेदनाओं को ग्रहण करके उन्हें प्रत्यक्ष का रूप देती है। फिर, बुद्धि इन प्रत्ययों को अपनी प्रागनुभविक कोटियों द्वारा व्यवस्थित करके ज्ञान Synthetic apriori judgement का रूप देती है। ऐसा ज्ञान गणित और भौतिक विज्ञान में पाया जाता है। कांट के अनुसार यथार्थ ज्ञान की सीमा यही तक है परंतु वे यह भी स्वीकार करते हैं कि हमारे अंदर तात्विक या आदर्शज्ञान प्राप्ति की लालसा बनी रहती है। यही काम प्रज्ञा करती है।

प्रज्ञा के अंदर तीन अति सामान्य प्रत्यय है- 1. आत्मा का प्रत्यय, 2. जगत का प्रत्यय, 3. ईश्वर का प्रत्यय।

आत्मा के प्रत्यय का अर्थ है- सभी आतंरिक प्रत्ययों की समग्रता। जगत के प्रत्यय का अर्थ है- सभी बाह्य अनुभवों की समग्रता। जबकि ईश्वर के प्रत्यय में आत्मा और जगत दोनों का संश्लेषण हो जाता है। अर्थात् ईश्वर का प्रत्यय दोनों की एकता है। यही कारण है कि कांट ने ईश्वर के प्रत्यय को 'प्रत्ययों का आदर्श' (Ideal of Reason) माना है।

कांट के अनुसार इन तीनों का विषय रूप में ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि ज्ञान तभी संभव होता है जब इन्द्रियसंवेदन एवं बुद्धि विकल्पों दोनों का प्रयोग किया जाए। यहां बुद्धि विकल्पों का प्रयोग संभव नहीं है, क्योंकि इन तीनों का इन्द्रिय संवेदन प्राप्त नहीं होता। अतः इसे केवल पूर्व मान्यता के रूप में माना जा सकता है।

प्रज्ञा (Reason) बुद्धि से मिले निर्णयों का वर्गीकरण करती है और उनमें संबंध स्थापित करके अपने तीन प्रत्ययों के अंतर्गत लाकर समष्टि का रूप देती है। इस तरह वह इनके आधार पर प्रज्ञा के तीन आदर्शमूलक विज्ञानों की रचना करती है-

1. प्रज्ञात्मक विश्व विज्ञान (Rational Cosmology)
2. प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान (Rational Psychology)
3. प्रज्ञात्मक ईश्वर विज्ञान (Rational Theology)

ज्ञान के इस आदर्श को आदर्श ही समझना चाहिए यथार्थ नहीं। क्योंकि इनकी सामग्री अनुभव से नहीं मिलती। अतः इन्हें यथार्थ मान लेना 'पारमार्थिक भ्रम' (अतीन्द्रिय भ्रम) ही कहा जाएगा। ये भ्रम भी तदनुरूप तीन प्रकार के होते हैं-

1. विप्रतिषेध (Antinomies)
2. आत्मा संबंधी भ्रम (Paralogism)
3. प्रज्ञा का परम आदर्श (ईश्वर) (Ideal of Reason)

विप्रतिषेध (Antinomies)

प्रज्ञा विश्व को संपूर्णता के बारे में जानने की कोशिश करती है। परंतु विश्व की संपूर्णता का हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। इसलिए प्रज्ञा द्वारा रचित विश्व विज्ञान में अंतर्विरोध होते हैं। कांट के अनुसार विप्रतिषेध का अर्थ है कि किसी भी सिद्धांत से संबंधित दो परस्पर विरोधी मत हो सकते हैं। दोनों के संदर्भ में समान बल की युक्तियों दी जा सकती है। कांट ने इस ताह के चार विरोध बतलाए हैं जिनमें से हरेक के अंतर्गत दो कल्पनाएं आती हैं पक्ष और प्रतिपक्ष। ये चार प्रकार के विरोध है–

1. परिमाण संबंधी विप्रतिषेध

पक्ष : विश्व देश और काल में आदि और सांत है। किसी काल में उसकी सृष्टि हुई है और उसका अन्त भी कभी होगा।

प्रतिपक्ष : विश्व अनादि और अनंत है, अतः यह देश और काल में अपरिमित है।

2. गुण संबंधी विप्रतिषेध :

पक्ष : विश्व के मूल में अविभाज्य परमाणु है।

प्रतिपक्ष : विश्व अविभाज्य परमाणुओं से नहीं बना है।

3. संबंध पर आधारित विप्रतिषेध

पक्ष : स्वतंत्र कारण हो सकता है और सभी कुछ कारण कार्य शृंखला से जकड़ा हुआ नहीं है।

प्रतिपक्ष : स्वतंत्र कारण संभव नहीं, सभी कुछ नियतिवाद से जकड़ा हुआ है।

4. विधि संबंधी विप्रतिषेध :

पक्ष : विश्व का कारण या आधार कोई निरपेक्ष तत्व है।

प्रतिपक्ष : विश्व का कोई निरपेक्ष आधार नहीं है।

वे विप्रतिषेध पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों में तुल्य बल की युक्तियां प्रस्तुत करती हैं परंतु ये परसपर विरोधी हैं, अतः इनमें से किसी को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

परंतु इन्हीं विरोधों में मानों जीवन के चरम लक्ष्य छुपे हुए हैं। इसलिए दर्शन में कोई पक्ष को तो कोई प्रतिपक्ष को अपनाया हुआ दिखाई देता है। नेतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से पक्ष को महत्व दिया जाता है। दूसरी ओर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपक्षों को अपनाया जाता है। यदि दोनों प्रकार के विचारक यदि अपने मत को केवल आदर्श स्वरूप समझकर हठवाद से बचें तो विज्ञान के परिवर्द्धन के साथ साथ धर्म और आचार का भी संरक्षण होगा।

विप्रतिषेध ऐसे विषयों पर चिंतन के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं जो वास्तव में प्रत्यक्षातीत हैं। प्रत्यक्षातीत होने के चलते ये ज्ञानातीत हैं। ज्ञानातीत होने के कारण उन पर संदेह भी नहीं किया जा सकता। इनके प्रति संदेह करना उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना कि उनके बारे में ज्ञान का हठ करना। कांट का कथन है कि 'पक्ष और प्रतिपक्ष के इस युद्ध में एक दूसरे को

घायल करने की अपेक्षा दोनों एक दूसरे को थकाते अधिक है। जब ये दोनों दल थककर चूर हो जायेगे तब इन्हें पता चलेगा कि ये व्यर्थ में ही लड़ रहे थे और तभी इनमें सहयोगात्मक स्थिति उत्पन्न होगी।'

स्पष्ट है कि Antinomies (विप्रतिषेध) विश्व संबंधी हमारे ज्ञान की सीमा का निर्देश करते हैं। धर्म और नैतिकता की स्थापना एवं व्याख्या के संदर्भ में भी ये उपयोगी हैं।

व्यवहार और परमार्थ (Phenomena and Noumena)

कांट की ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत संश्लेषणात्मक प्रागनुभवकि निर्णय मानव-ज्ञान के प्रतिमान हैं। संश्लेषणात्मक निर्णयों में एक अंश संवेदनों और दूसरा अंश बुद्धि-विकल्पों से संबंधित होता है। इसके अतिरिक्त जो संवेद्य है, वह देश-काल से परिच्छिन्न होता है। अनुभव का विषय आभास होता है। जो आभास नहीं है, वह अनुभव का विषय नहीं हो सकता है। अत: मानव-बुद्धि अनुभव की उस सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती है जिसके अंतर्गत वस्तुएँ प्रदत्त होती हैं। काण्ट के अनुसार बुद्धि के प्रागनुभविक संप्रत्ययों को प्रयोग इन्द्रियानुभव पर करना ही तर्कत: उचित हो सकता है। अनुभव की सीमा से परे बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग अनुचित है। हमारी संवेदनाएँ पारमार्थिक स्वलक्षणों से उत्पन्न होती हैं और देश-काल रूपी संवेदना के आकारों से होकर बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचती हैं। किन्तु संवेदनों को उत्पन्न करने वाले पारमार्थिक स्वलक्षणों को काण्ट अज्ञेय मानता है। संवेदनाओं की स्त्रोत स्वलक्षण वस्तुएँ स्वत: असंवेद्य हैं। जो असंवेद्य है, उसका ज्ञान नहीं हो सकता है। काण्ट के अनुसार स्वलक्षण वस्तुएं देश-काल रूपी संवेदना के आकारों से परे होने के कारण असंवेद्य हैं। असंवेद्य होने के कारण बौद्धिक संप्रत्ययों के द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती हैं। अत: काण्ट उन्हें **'अज्ञेय'** (Unknowable) मानता है। हमारा ज्ञान केवल व्यावहारिक जगत् (Phenomena) अथवा आभासों तक ही सीमित है। हमारा व्यावहारिक जगत् का ज्ञान यथार्थ (Real), सार्वभौम (Universal) एवं अनिवार्य होता है। किन्तु देश-काल, अनुभव और बुद्धि-विकल्पों से परे होने के कारण पारमार्थिक स्वलक्षण हमारे लिए काल्पनिक हैं। काण्ट का दावा है कि नि:संदेह इस व्यावहारिक जगत् के परे कोई सत्ता है, जो व्यवहार का आधार है। किन्तु काण्ट का यह दावा आस्था पर आधारित है, न कि ज्ञान पर। हम इसे न तो दर्शन (ज्ञानमीमांसा) के द्वारा और न विज्ञान के द्वारा जान सकते हैं।

शाब्दिक दृष्टि से व्यवहार (Phenomena) एक संवेद्य विषय और परमार्थ (Noumena) बौद्धिक चिंतन का विषय है, अर्थात् परमार्थ संवेद्य अनुभव का विषय नहीं है। काण्ट ने इन दोनों में ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से भेद किया है। यद्यपि व्यवहार और परमार्थ का यह विभाजन ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से किया गया है, तथापि इससे तत्त्वमीमांसीय समस्याएँ भी विचारणीय हो जाती हैं। काण्ट स्वयं यह कहता है कि पारमार्थिक स्वलक्षणों का अस्तित्व है, परन्तु उन्हें जाना नहीं जा सकता है। वास्तव में, स्वलक्षण वस्तुएँ हैं, इसे काण्ट श्रद्धा के आधार पर स्वीकार कर लेता है। ये स्वलक्षण वस्तुएँ स्वरूपत: अर्थात् अपने आप में कैसी हैं? इसे नहीं जाना जा सकता है। मनुष्य केवल उनका आभासी स्वरूप ही जान सकता है, जिसे काण्ट ने व्यवहार (Phenomena) कहा है। हम भौतिकी के क्षेत्र में विभिन्न सिद्धांतों की रचना और प्राक्कल्पना इन्हीं आभासों के आधार पर करते हैं। यदि हमें वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप अर्थात् स्वलक्षणों का ज्ञान हो जाता, तो व्यावहारिक विज्ञानों की आवश्यकता ही न होती।[1]

व्यावहारिक जगत् बुद्धि-विकल्पों से अनुशासित है, किन्तु उनका प्रयोग परमार्थों पर नहीं हो सकता है। व्यावहारिक जगत् इन्द्रिय संवेदनों से संबंधित है। इसके विपरीत परमार्थ बौद्धिक संवेदना के विषय हैं। किन्तु काण्ट के अनुसार मनुष्य में बौद्धिक संवेदना की शक्ति का अभाव है। मनुष्य में न तो बौद्धिक संवेदना (Intellectual Intuition) होती है और न उसको प्राप्त करने की कोई संभावना है। हाँ, यह अवश्य है कि हम बौद्धिक संवेदना की संभावना के बारे में सोच सकते हैं। काण्ट के कुछ आलोचकों के अनुसार परमार्थ की बौद्धिक संवेदना या प्रतिभान (Intellectual Intution) संभव है, किन्तु वास्तव में, इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है। **पेटन** के अनुसार काण्ट बाह्य जगत् की वस्तुओं के कारण के रूप में परमार्थिक स्वलक्षणों का अनुमान नहीं करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्वलक्षणों को प्रत्येक वस्तु में उपस्थित या व्याप्त मानता है। काण्ट-दर्शन के मर्मज्ञ पेटन काण्ट में बौद्धिक प्रतिभान की संभावना को स्वीकार करते हैं। इसे आस्था का विषय भले माना जाय, किन्तु काण्ट ऐसे किसी ज्ञान का दावा नहीं करता है। देश-काल से परे होने के कारण असंवेद्य स्वलक्षणों की ऐन्द्रिक संवेदना नहीं प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार वे हमारी संवेदनाओं से स्वतंत्र हैं।

काण्ट के अनुसार यदि हमारे संवेदनों का कोई स्त्रोत न होता तो संवेदनाएँ केवल हमारे मन की रचना होतीं। इस प्रकार वे काल्पनिक हो जातीं। हमारा मन और बाह्य जगत्, ये दोनों व्यावहारिक (सांवृत्तिक) आभास हैं, अतः ये स्वयं इन्द्रिय-प्रदत्तों के स्त्रोत नहीं हो सकते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि हमारे इन्द्रिय-प्रदत्तों (संवेदनाओं) का स्त्रोत व्यावहारिक जगत् से स्वतंत्र है। इससे स्पष्ट है कि हमारी संवेदनाओं के स्त्रोत पारमार्थिक स्वलक्षण हैं, जो अज्ञेय होने के कारण अनिर्वचनीय हैं। परमार्थ के अतीन्द्रिय होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। प्रत्यक्षों के अभाव में बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग पारमार्थिक स्वलक्षणों पर नहीं किया जा सकता है। असंवेद्य परमार्थों को देश-काल भी परिच्छिन्न नहीं कर सकते हैं। इस आधार पर काण्ट के दर्शन का निष्कर्ष यह है कि प्रत्यय (संवेदनों) के अभाव में पारमार्थिक स्वलक्षणों का ज्ञान नहीं हो सकता है। इस प्रकार परमार्थ हमारे लिए अज्ञेय है।

प्रश्न उठता है कि यदि परमार्थ अज्ञेय है, तो हमें परमार्थ की अज्ञेयता का ज्ञान कैसे हो सकता है? दूसरे शब्दों में, हम यह कैसे कह सकते हैं कि परमार्थ है? परन्तु उसे जान नहीं सकते हैं? क्या काण्ट का यह दावा न्यायोचित है कि परमार्थ की सत्ता है? यदि परमार्थ है, तो क्या यह अस्तित्व के बुद्धि-विकल्पों से सम्बद्ध नहीं कर देता है? हेगल और उसके अनुयायियों ने काण्ट के अज्ञेयवाद और द्वैतवाद को चुनौती दी। **हेगल के अनुसार अज्ञेयवाद स्वतः अंतर्विरोधग्रस्त है। यदि परमार्थ अज्ञेय है, तो हमें उसके अज्ञेय होने का भी ज्ञान नहीं हो सकता है। काण्ट के दर्शन की हेगल के द्वारा की गई यह आलोचना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।** वस्तुतः, जो बुद्धि स्वलक्षण वस्तु तथा आभास में भेद करती है और स्वलक्षण वस्तुओं को अज्ञेय मानती है, उसके द्वारा स्वलक्षण वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करना कुछ विचित्र-सी बात लगती है। आगे चलकर हेगल काण्ट की स्वलक्षण वस्तुओं तथा बौद्धिक चेतना के सिद्धांतों में समन्वय करके एक निरपेक्ष तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन करता है। वस्तुतः, स्वयं काण्ट ने भी ऐसी संभावना व्यक्त की है कि हो सकता है कि हमारे प्रत्यक्षों तथा प्रागनुभाविक संप्रत्ययों के स्त्रोत एक हों। परन्तु काण्ट इस संभावना को संभावना ही रहने देता है। वह इसे जानने का दावा नहीं करता है। **शोपेनहावर** के अनुसार काण्ट के द्वारा पारमार्थिक स्वलक्षणों से आभासों का किया गया भेद उसके दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है।[1]

वस्तुतः पारमार्थिक सत्ता के स्वरूप के विषय में विज्ञान अथवा धर्म के द्वारा किया गया कोई भी प्रयास एक प्राक्कल्पना मात्र है, क्योंकि काण्ट के अनुसार तर्कबुद्धि संवेदना की सीमाओं से परे कभी भी नहीं जा सकती है।[2] **याकोबी** के अनुसार, बिना स्वलक्षण वस्तुओं को स्वीकार किए हुए काण्ट ने आलोचनावाद को नहीं समझा जा सकता है। किन्तु आलोचनावाद को समझ लेने पर स्वलक्षण वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करना असंभव हो जाता है। इससे प्रतीत होता है कि काण्ट के दर्शन में पारमार्थिक स्वलक्षण ऐसी सीढ़ी के समान है जिसकी उपयोगिता लक्ष्य तक पहुँच जाने पर समाप्त हो जाती है।

वास्तव में, काण्ट परमार्थ को अज्ञेय इसलिए कहता है, क्योंकि हमें इसका भावात्मक ज्ञान (Positive Knowledge) नहीं हो सकता है। काण्ट की ज्ञानमीमांसा से स्पष्ट है कि भावात्मक ज्ञान निर्णायत्मक होता है, जो बुद्धि-विकल्पों एवं प्रत्यक्षों दोनों के सम्मिलित व्यापार और सम्मिश्रण से बनता है। असंवेद्य होने के कारण परमार्थ का भावात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः परमार्थ के विषय में कोई निर्णय संभव नहीं है। वस्तुतः सार्थक निर्णयों के दो महत्वपूर्ण पक्ष उद्देश्य और विधेय हैं। चूँकि समस्त ज्ञान निर्णयात्मक होता है और अस्तित्व का प्रयोग विधेय के रूप में नहीं हो सकता है, इसलिए 'परमार्थ है' यह कोई ज्ञान नहीं है। काण्ट के अनुसार अस्तित्व सदैव उद्देश्यवाचक होता है। 'परमार्थ है' यह कोई निर्वय नहीं है, बल्कि उद्देश्य मात्र है। दूसरे शब्दों में, पारमार्थिक स्वलक्षण हैं, अर्थात् अस्तित्वयुक्त हैं, यह कथन न तो कोई निर्णय है और न कोई विधिमूलक प्रामाणिक ज्ञान। इससे स्पष्ट है कि काण्ट के अनुसार पारमार्थिक स्वलक्षणों का निर्णयात्मक ज्ञान असंभव है। मानव-ज्ञान के आदर्श-स्वरूप संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय केवल व्यावहारिक जगत् की सीमा में ही संभव हैं। उनका प्रयोग स्वलक्षण वस्तुओं के संबंध में संभव नहीं है। इस विशेष (पारिभाषिक) अर्थ में ही काण्ट को अज्ञेयवादी कहा जा सकता है। **इससे स्पष्ट है कि काण्ट के दर्शन में अज्ञेयवाद का अर्थ ज्ञान का नितांत अभाव नहीं है। पारमार्थिक स्वलक्षणों का अज्ञान केवल मानव-ज्ञान की सीमा का निर्धारण है।** ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से इन्द्रिय संवेदनों पर स्वलक्षणों का प्रभाव पड़ता है, क्योंकि संवेदन स्वलक्षणों से उत्थापित (उत्पन्न) होते हैं। वास्तव में, मानव-ज्ञान के विषय व्यावहारिक जगत् की सीमा परमार्थों से ही निर्धारित होती है। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से स्वलक्षण ही व्यावहारिक जगत् के आधार है। व्यावहारिक जगत् की व्यवस्था का उद्घाटन बुद्धि करती है। चूँकि व्यावहारिक जगत् व्यवस्थित है, इसलिए व्यवहार के आधार स्वलक्षणों को भी उद्घाटन बुद्धि के परे है। अतः परमार्थ के तात्त्विक स्वरूप के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। यह अवश्य है कि काण्ट आस्था के आधार पर व्यवहार जगत् के तात्त्विक आधार स्वरूप स्वलक्षणों को व्यवस्थानुकूल मानता है।

यद्यपि परमार्थ पर बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है, तथापि उनकी ओर विशुद्ध बुद्धि-विकल्पों (Pure Categories) के द्वारा संकेत किया जा सकता है। काण्ट के अनुसार परमार्थ पर केवल आकारयुक्त बुद्धि-विकल्पों (Schematized Categories) का प्रयोग वर्जित है। इससे स्पष्ट है कि विशुद्ध बुद्धि-विकल्पों के द्वारा परमार्थ का प्रामाणिक ज्ञान नहीं हो सकता है। उनका निश्चयात्मक ज्ञान भले ही न हो, फिर भी उनका अनिश्चित ज्ञान संभव है। यहाँ अनिश्चित ज्ञान का तात्पर्य कोरा-चिंतन है, जिसमें देश-काल और आकार-युक्त बुद्धि-विकल्प निहित नहीं है। इस प्रकार हमारे ज्ञान की सीमा और चिंतन की सीमा में मौलिक अंतर है। पारमार्थिक स्वलक्षण हमारे ज्ञान की सीमा को निर्धारित करते हैं क्योंकि हमारा ज्ञान

केवल व्यवहार तक सीमित हैं। पारमार्थिक स्वलक्षण ही व्यावहारिक जगत् के तात्त्विक आधार हैं। किन्तु हमारे चिंतन की सीमा में मौलिक अंतर है। पारमार्थिक स्वलक्षण हमारे ज्ञान की सीमा से अधिक विस्तृत है। चिंतन के लिए संवेदनाओं का होना आवश्यक नहीं है। अतः हम परमार्थ के बारे में भले ही न जान सकें, किन्तु उसके बारे में सोच सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि काण्ट पारमार्थिक स्वलक्षणों के बारे में चिंतन को संभव मानता है। इसके अतिरिक्त स्वलक्षणों का निषेधमूलक ज्ञान भी संभव है। यह निषेधमूलक ज्ञान मानव-ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। दूसरे शब्दों में, मानव-ज्ञान केवल व्यावहारिक जगत् तक ही सीमित है। जो उससे परे है, उसका ज्ञान नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से परमार्थ अनिर्वचनीय है, अर्थात् विध्यात्मक दृष्टि से उसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। उस पर किसी विधेय अथवा गुण का आरोपण नहीं किया जा सकता है। ऐसी ही मान्यता भारतीय दर्शन में **अद्वैत वेदांतियों और बौद्धों** की भी रही है। बौद्ध और अद्वैत-वेदांती परमार्थ को भाषा अथवा वाणी और तर्कबुद्धि दोनों से परे मानते हैं। बौद्ध दर्शन में पारमार्थिक चिंतन से संबंधित प्रश्नों को अव्याकृत प्रश्नों की संज्ञा दी गई है। बौद्ध दार्शनिक **नागार्जुन** ने परमार्थ को बुद्धि की चारों कोटियों से परे माना है।[1]

बौद्ध और वेदान्त **'नीति-नेति'** पद्धति से ही परमार्थ का संकेत करते हैं। काण्ट और शंकराचार्य, ये दोनों विचारक आनुभविक जगत् को आभास मानते हैं। उनके अनुसार मानव-मस्तिष्क की रचना ही ज्ञान के सीमित होने के कारण है। मानव-बुद्धि से जिसका ज्ञान प्राप्त होता है, वह केवल आभास है। शंकराचार्य के अनुसार यह हमारी दृष्टि का एक बहुत बड़ा दोष है, जिसके कारण हम अद्वैत तत्त्व को अनेक रूपों में देखते हैं। वस्तुतः शंकर और काण्ट दोनों ही दार्शनिक ज्ञान की उपाधियों के प्रश्न को अनुभवमूलक विधि की अपेक्षा आलोचनात्मक विधि से हल करने का प्रयास करते हैं। किन्तु अद्वैत-वेदान्ती पारमार्थिक सत्ता के साक्षात्कार के लिए अपरोक्षानुभूति का सहारा लेते हैं। यह अपरोक्षानुभूति रहस्यवाद की ओर ले जाती है। इस अपरोक्षानुभूति को भारतीय दर्शन में **'अशेष-प्रमाण'** (पूर्ण-प्रमाण) कहा गया है। इसके विपरीत, अन्य प्रमाणों को अपूर्ण अथवा **'शेष-प्रमाण'** कहा गया है।[2]

इसके विपरीत, काण्ट किसी रहस्यवादी साधना अथवा अपरोक्षानुभूति (प्रतिभान) का सहारा नहीं लेता है। 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' (The Critique of Pure Reason) में उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक एवं बुद्धिवादी है। इस ग्रंथ में वह बुद्धि एवं ज्ञान की संरचना का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करता है। वह कहता है कि मानव-बुद्धि विमर्शात्मक (Discursive) होती है। चूंकि बुद्धि किसी चीज को अपरोक्ष रूप से जानने का साधन नहीं हो सकती है, इसलिए उसे प्रतिभानात्मक (Intuitive) नहीं कहा जा सकता है। विमर्शात्मक बुद्धि स्वलक्षणों के विषय में केवल चिंतन कर सकती है, किन्तु उसे नहीं जान सकती है। काण्ट के द्वारा ज्ञान और चिंतन में किया गया भेद महत्वपूर्ण है। हम इन्द्रियानुभव के अभाव में भले ही किसी वस्तु को न जान सकते हों, फिर भी उसके विषय में चिन्तन कर सकते हैं। परमार्थ के बारे में हमारा चिंतन प्रामाणिक ज्ञान का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सकता है। अतः परमार्थ को अज्ञेय कहने में कोई अंतर्विरोध नहीं हो सकता है।

कॉपरनिकसीय क्रांति एवं बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है (Copernican Revolution and Understanding makes Nature)

कांट ने स्वयं अपने दर्शन को 'कॉपरनिकसीय क्रांति' कहा है। नक्षत्र विज्ञान में कॉपरनिकस से पहले यह अवधारणा प्रचलित थी कि पृथ्वी अपने स्थान पर स्थिर है तथा सूर्य

उसके चारों ओर परिक्रमा करता है। कॉपरनिकस ने इस सिद्धांत का खंडन किया और उसने भू-केंद्रिंत सिद्धांत के स्थान पर सूर्य केंद्रित सिद्धात प्रतिपादित किया। अर्थात् सूर्य स्थित है और पृथ्वी आदि उसकी परिक्रमा करते हैं। इस प्रकार कॉपरनिकस ने पूर्व प्रचलित धारणाओं में आमूल परिवर्तन ला दिया।

कांट ने भी अपनी पूर्व प्रचलित मान्यताओं में व्यापक परिवर्तन किया है। कांट के पूर्व सामान्यत: यह मान्यता थी कि विषय (ज्ञेय) के अनुरूप ही ज्ञान का निर्माण होता है परंतु ऐसा मानने पर अनुभववादियों के समान यह भी मानना होगा कि विषय का ज्ञान इन्द्रिय अनुभव से होता है। लॉक ने अपनी अनुभववादी ज्ञानमीमांसा में वस्तु को ही ज्ञान का केंद्रबिंदु माना था। इनके अनुसार बुद्धि कोरी पट्टी (Tabula Rasa) के समान होती है। जो बाह्य जगत से प्राप्त संवेदनाओं को कैमरे के समान ग्रहण करती है। स्पष्ट है कि ज्ञान की स्थिति में प्रमुख एवं सक्रिय भूमिका वस्तु की है बुद्धि की भूमिका गौण एवं आरंभ में निष्क्रिय है।

अनुभव आधारित ज्ञान में अनिवार्यता एवं सार्वभौमता नहीं होती। अत: ज्ञान यदि ज्ञेय से निर्धारित होता है तो फिर वैसी स्थिति में ज्ञान की अनिवार्यता एवं सार्वभौमता की व्याख्या नहीं हो पाती। कांट ने इस अवधारणा को बदल दिया। कांट के अनुसार ज्ञेय का निर्धारण ज्ञान के द्वारा होता है अर्थात् बुद्धि की प्रकृति का निर्माण करती है (Understanding makes nature) । कांट की इस नवीन विचारधारा की अभिव्यक्ति उनके इस कथन से होती है कि -'बुद्धि प्रकृति का निर्माण उन सामग्रियों से करती है जिन्हें वह स्वयं निर्मित नहीं करती।' (Understanding makes nature out of the materials is doesn't make) ।

कांट के अनुसार बुद्धि प्रकृति की दास नहीं है बल्कि प्रकृति का निर्माण करती है। यहां निर्माण का आशय उत्पन्न करना नहीं है। यहां इस वाक्य का प्रयोग ज्ञानमीमांसीय संदर्भ में किया गया है। यहां इसका आशय है कि बुद्धि ही प्रकृति को ज्ञान का विषय बनाती है और बुद्धि के द्वारा ही इसका वस्तुनिष्ठ ज्ञान संभव है। दूसरे शब्दों में, ज्ञेय ज्ञान के अनुरूप होता है।

कांट इसके विपरीत यह कहते हैं कि बुद्धि विकल्पों के आरोपण के बिना कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकती। बाह्य जगत से प्राप्त संवेदनाएं अव्यवस्थित होते हैं। ये देश और काल के माध्यम से होते हुए बुद्धि विकल्पों तक पहुंचते हैं। जब 12 बुद्धि विकल्पों के माध्यम से इन्हें संबंधित और सुव्यवस्थित किया जाता है; तभी ज्ञान का निर्माण होता है। ज्ञेय का निर्धारण ज्ञान के द्वारा होता है। बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है। स्पष्ट है कि बाह्य जगत को सुव्यवस्थित और नियमित करने में बुद्धि का योगदान है। इस प्रकार यहां कांट ने वस्तुकेंद्रित ज्ञानमींमासा के स्थान पर मानवकेंद्रित ज्ञानमीमांसा को प्रतिष्ठा दी है।

कांट के दर्शन में तत्वमीमांसा की स्थिति

कांट के अनुसार हम केवल उन्हीं विषयों को जान सकते हैं जिनकी हमें संवेदना मिलती है। हमें केवल प्राकृतिक जगत की संवेदना मिलती है जो हमें देश और काल के माध्यम से प्राप्त होती है। दूसरी ओर प्रज्ञाशक्ति अनुभव एवं बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण करना चाहती है। जब प्रज्ञा अनुभव की उपेक्षा कर उससे परे बुद्धि विकल्पों का प्रयोग करने के लिए बाध्य करती है, तो फिर वहां अनुभवातीत भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अनुभव से परे किसी अन्य तथ्य पर बुद्धि विकल्प का प्रयोग असंगत है। यह अनुचित प्रयोग ही अनुभवातीत तत्वमीमांसा की उत्पत्ति का कारण होता है। इसलिए कांट अतीन्द्रिय तत्वमीमांसा की सिद्धि के प्रयासों का खंडन करते हैं, उसे असंगत बताते हैं।

कांट के अनुसार जो विचार एवं इन्द्रिय अनुभव का विषय नहीं है, उनके संबंध में निर्णायक रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं है। अतः अतीन्द्रिय तत्वमीमांसा के रूप में तत्वमीमांसा असंभव है। किंतु तत्वमीमांसा को असंभव कहने का आशय न तो उसका निषेध काता है और न ही वह सिद्ध करना है कि वह निरर्थक है। अतीन्द्रिय तत्वमीमांसा को असंभव कहने का आशय केवल इतना ही है कि वह तर्कबुद्धि द्वारा ज्ञेय नहीं है। ईश्वर, आत्मा एवं जगत के मूल तत्व मानव ज्ञान के आनुभविक विषय नहीं है। मानव ज्ञान केवल प्राकृतिक जगत तक सीमित है जिसको हमें संवेदना प्राप्त होती है। इससे परे धर्म और नैतिकता का क्षेत्र है। आस्था एवं विश्वास के आधार पर ही तत्वमीमांसीय सत्ताओं को स्वीकार किया जा सकता है। इन्हें तर्क देकर सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः कांट का कहना है कि अंतर्वर्ती तत्वमीमांसी (Phenomena) संभव है परंतु अतिवर्ती तत्वमीमांसा (Noumenon- Thingh in itself) संभव नहीं है। उल्लेखनीय है कि कांट ने ईश्वर के अस्तित्व, आत्मा की अमरता एवं संकल्प की स्वतंत्रता को व्यावहारिक बुद्धि की मांग के अनुरूप नैतिकता की पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार किया है।

कांट के अनुसार कारणता सिद्धांत की स्थिति

कांट के अनुसार कारण-कार्य संबंध बुद्धि का एक विकल्प है। इसे केवल अनुभाविक जगत की घटनाओं के संबंध में ही लागू किया जा सकता है, जिसकी संवेदना हमें देश और काल के माध्यम से प्राप्त होती है। इसके आधार पर किसी अनुभवातीत सत्ता अर्थात ईश्वर आदि की सिद्धि नहीं की जा सकती। उल्लेखनीय है कि अधिकांश ईश्वरवादी, ईश्वर के अस्तित्व सिद्धि के लिये कारणता सिद्धांत का प्रयोग करते हैं जबकि देश और काल से परे अनुभवातीत सत्ता के संदर्भ में इसका प्रयोग संगत रूप से नहीं किया जा सकता।

उल्लेखनीय है कि ह्यूम ने कारण कार्य सिद्धांत को अनुभाविक माना था और ऐसा मानकर उन्होंने कारण और कार्य के मध्य की अनिवार्यता का खंडन किया था। काण्ट इसे बुद्धि के विकल्प के रूप में स्वीकार करते हैं। वे इसे प्रागनुभाविक मानते हैं और इसी आधार पर वे भौतिकी में अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान की व्याख्या का प्रयास करते हैं।

ईश्वर के अस्तित्व सिद्धि संबंधी प्रमाणों की आलोचना (Criticism of the Proofs for the Existence of God)

जर्मन समीक्षावादी दार्शनिक कांट के अनुसार हमारा सारा ज्ञान प्रत्यक्ष या इन्द्रिय संवेदन से आरंभ होता है। ये संवेदन परस्पर भिन्न अव्यवस्थित एवं स्वतंत्र होते हैं। कांट के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व सिद्धि के तीन तर्क संभव है। इसमें सत्तामूलक प्रमाण ही मौलिक तर्क हैं, जबकि प्रयोजनमूलक एवं कारणमूलक इसी पर आधारित है। ईश्वर के अस्तित्व सिद्धि के लिए दिए गए प्रमाणों की कांट निम्नवत् समीक्षा करते हैं-

सत्तामूलक प्रमाण (Ontological Argument) की समीक्षा

संत एन्सेलम, डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनित्ज आदि ने प्रत्यय सत्तामूलक प्रमाण (एकमात्र प्रागनुभविक प्रमाण) का समर्थन किया है। कांट ने इसके खंडन के क्रम में डेकार्ट के प्रमाण को ध्यान में रखा है। डेकार्ट ने पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया था। जैसे त्रिभुज के समप्रत्यय में तीन भुजाओं का होना निहित है। उसी

प्रकार पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय में उसका अस्तित्व भी निहित है। अत: ऐसे कथनों को निषेध नहीं किया जा सकता।

1. कांट के अनुसार यदि विधेय उद्देश्य में निहित है तो फिर वह प्रतिज्ञप्ति अनिवार्य होगी और उसका निषेध संभव नहीं होगा। परंतु यदि कोई प्रतिज्ञप्ति अनिवार्य है तो यह आवश्यक नहीं कि उस प्रतिज्ञप्ति का उद्देश्य भी अनिवार्य होगा। केवल उद्देश्य का ही निषेध करने में कोई व्याघात नहीं है। यदि पूर्ण ईश्वर को मानें तो फिर उसका अस्तित्व भी अनिवार्य मानना होगा परंतु यदि 'ईश्वर नहीं है' ऐसा माना जाए जो फिर कोई व्याघात उत्पन्न नहीं हो, अर्थात् उद्देश्य का निषेध करने पर व्याघात उत्पन्न नहीं होगा।

2. कांट के अनुसार सत्तामूलक युक्ति में अस्तित्व को एक गुण के रूप में लिया गया है जबकि अस्तित्व कोई गुण नहीं है। वस्तुत: अस्तित्व गुण से पहले होता है। यदि अस्तित्व को गुण मानने की भूल की गई तो फिर उस अस्तित्वरूपी गुण के आश्रय के रूप में किसी अन्य अस्तित्व की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार ऐसा मानने पर इस प्रमाण में अनावस्था दोष की स्थिति पैदा हो जाती है।

3. कांट के अनुसार सत्तामूलक प्रमाण (Ontological Argument) में आत्माश्रय दोष भी है। यहां ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने से पहले ही स्वीकार कर लिया गया है। इसे हम एक न्याय वाक्य के माध्यम से प्रस्तुत कर सकते हैं–

जो पूर्ण है वह सत् है।

ईश्वर पूर्ण है

अत: ईश्वर सत् है।

यहां निष्कर्ष आधार–वाक्य के रूप में पहले से ही स्वीकृत हैं परंतु यहां ईश्वर को पूर्ण मानने का कोई तर्क नहीं दिया गया है।

4. कांट के अनुसार वास्तविकता केवल इन्द्रियानुभव से प्राप्त होती है। प्रत्यय चाहे साधारण वस्तु के बारे में हो या पूर्ण वस्तु के बारे में, प्रत्ययों से वास्तविकता नहीं प्राप्त की जा सकती। कांट अपने मत को स्पष्ट करने के लिए एक उदारहण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि कोई यह धारणा बनाए कि उसके पाकेट में 100 डालर है तो वास्तव में इसकी सिद्धि नहीं हो पाती।

5. जिस साम्यानुमान (Analogy) के आधार पर सत्तामूलक प्रमाण दिया गया है वह दोषपूर्ण अनुमान है। त्रिभुज की परिभाषा से त्रिकोणपन का निष्कर्ष सिद्ध होता है जोकि एक प्रत्यय मात्र है। इसी प्रकार ईश्वरीय सत्ता के विचार से ईश्वरीय विचार की सत्ता सिद्ध होती है, उसके वास्तविक अस्तित्व की सिद्धि नहीं होती।

अत: ईश्वर अस्तित्व सिद्धि हेतु दिया गया प्रत्यय सत्तामूलक तर्क उचित नहीं हैं।

विश्व संबंधी युक्ति (Cosmological Proof) की आलोचना

विश्वमूलक प्रमाण में जगत के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। इसके दो मुख्य रूप है 1. कारणतामूलक प्रमाण और 2. आकस्मिकतामूलक प्रमाण।

कारणतामूलक प्रमाण के अनुसार जगत की प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। न तो सीमित वस्तु अपना कारण हो सकती है और न ही असत् इसका कारण हो सकता है। अत: मूल कारण ईश्वर ही हो सकता है। यदि मूल कारण को न माना जाए तो

किस अनावस्था दोष की उत्पत्ति हो जाती है।

कांट के अनुसार यहां कारणता सिद्धांत का गलत प्रयोग हुआ है। कारणता सिद्धांत बुद्धि का एक विकल्प है जिसका प्रयोग एक संगत रूप से इंद्रियानुभव के विषय पर भी हो सकता है, अर्थात् संवेदनाओं पर ही हो सकता हैं। चूंकि ईश्वर देश काल से परे हैं, अत: ईश्वर का संवेदन प्राप्त नहीं होता। परिणामस्वरूप यह ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता। अत: यदि कारणता जैसे बुद्धि विकल्प का प्रयोग ईश्वर पर किया जाए तो फिर ज्ञान की नहीं बल्कि अतीन्द्रिय भ्रम (Transcendental illusion) की उत्पत्ति होगी।

कांट के अनुसार यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाए कि विश्व अपनी संपूर्णता में आकस्मिक है तो इस आकस्मिक विश्व में अनिवार्य सत्ता की स्थापना संभव नहीं है। अब अगर यह अनिवार्य सत्ता विश्वातीत है तो फिर उसे वास्तविक नहीं माना जा सकता।

वस्तुत: वैश्विक प्रमाण का मुख्य उद्देश्य यह है कि आपातिक वस्तुओं के आधार के रूप में अनिवार्य सत्ता की वास्तविकता सिद्ध करें। परंतु ऐसा करने पर तो यह सत्तामूलक प्रमाण का रूप धारण कर लेता है। जिस प्रकार पूर्ण (perfect) ईश्वर की भावना से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है उसी प्रकार यहां 'अनिवार्यता' की भावना से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया जा रहा है। अत: वैश्विक प्रमाण वास्तव में सत्तामूलक प्रमाण का ही परिवर्तित रूप है। इसीलिए सत्तामूलक प्रमाण की भांति यह भी ईश्वर की वास्तविकता को सिद्ध करने में असमर्थ है।

कांट कारण-कार्य पर आधारित वैश्विक प्रमाण के दूसरे रूप का खंडन करते हुए कहते हैं कि कारण-कार्य का नियम ऐसा नियम है, जिसका संबंध भौतिक जगत से है। हम इस नियम का उपयोग नहीं कर सकते हैं जो दृश्य या आनुभविक वस्तुएं है। परंतु ईश्वर प्रत्यक्षानुभव का विषय नहीं है। वह अनुभवातीत है। ऐसी स्थिति में ईश्वर के ऊपर इस नियम को लागू नहीं किया जा सकता। पुन: यहां ईश्वर को प्रथम कारण के रूप में स्वीकार करना मात्र अनवस्था दोष से अपने को बचाने का एक बहाना है।

फिर हम कारण-कार्य अर्थात् 'प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण है' को सत्य मानकर आगे बढ़ते हैं और इस क्रम में स्वभावत: उत्पन्न अनवस्था दोष से बचने के लिए आदि कारण के रूप में ईश्वर की वास्तविकता को स्वीकार कर लेते हैं। परंतु ऐसा करना कारणता-सिद्धांत के मूल पर प्रहार होगा, उसका उल्लंघन होगा। अत: यह विश्वसंबंधी युक्ति का यह रूप भी युक्तिसंगत नहीं है।

उद्देश्यमूलक प्रमाण (Teleological Proof)

कांट के अनुसार यह युक्ति केवल साम्यानुमान पर आधारित है। इसलिए इसका निष्कर्ष अंसदिग्ध नहीं हो सकता है।

फिर इस उद्देश्यमूलक प्रमाण से इतना ही सिद्ध होता है कि विश्व का कोई शिल्पकार (Architect) है, न कि इस विश्व का कोई सृष्टिकर्त्ता (Creator) है। सृष्टिकर्ता वह है जो विश्व के उपादान और उसके रूप दोनों का रयचियता हो परंतु शिल्पकार वह है जो किसी दी गई सामग्री या उपादन में बाहर से रूप आरोपित करता हैं उद्देशमूलक प्रमाण के अनुसार विश्व की व्यवस्था तथा सम्बद्धता स्वयं विश्व से है, यहां अपने आप नहीं आ सकता। किसी व्यवस्थापक परम सत्ता ने इसमें व्यवस्था आरोपित की है। अत: इससे स्पष्ट हो जाता है कि

भौतिक पदार्थ पहले से विद्यमान थे और इसे ईश्वर ने नहीं रचा है। ऐसी स्थिति में ईश्वर पूर्व स्थित भौतिक पदार्थ से परिमित हो जाता है। अत: उद्देश्यमूलक प्रमाण से अपरिमित निरपेक्ष परम सत्ता का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है।

यह युक्ति ईश्वर को स्रष्टा, निरपेक्ष परम सत्ता सिद्ध करने के बदले उसे मात्र एक व्यवस्थापक या शिल्पकार के रूप में प्रमाणित करती है। अत: यह युक्ति भी संगत नहीं है।

यद्यपि कांट ने इस उद्देश्यमूलक प्रमाण का खंडन किया है फिर भी वह इसे अन्य युक्तियों की अपेक्षा अधिक बौद्धिक मानते हैं एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।

इस प्रकार कांट के अनुसार ईश्वर की वास्तविकता सिद्धि के लिए दिए गए उपरोक्त सभी प्रमाण अयुक्तिसंगत है। ये सभी प्रमाण वस्तुत: सत्तामूलक प्रमाण के ही विविध चरण है। अत: कांट के अनुसार सत्तामूलक एकमात्र प्रमाण है जो अन्य सभी प्रमाणों की जड़ में पाया जाता है। इस प्रमाण से ईश्वर की वास्तविकता सत्ता की सिद्धि नहीं हो सकती। साराशंत: कांट कहते हैं कि शुद्ध बुद्धि के आधार पर ईश्वर को जानने का दावा मात्र एक भूल है। कांट इसे 'ईश्वराभास' कहते हैं।

बुद्धि के आधार पर ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। वास्तव में बुद्धि द्व ारा सभी चीजों की व्याख्या संभव नहीं, क्योंकि बुद्धि इन्द्रियानुभव तक सीमित है। केवल उन्हीं सत्ताओं का वास्तविक ज्ञान मिल सकता है जो देश और काल के माध्यम से हमें प्राप्त हो, जबकि ईश्वर देश-काल से परे सत्ता है। ऐसी स्थिति में बौद्धिक ज्ञान के आधार पर न तो ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है और न ही उसकी सत्ता का खंडन किया जा सकता है।

कांट ने ईश्वर के अस्तित्व सिद्धि के सैद्धांतिक प्रयासों का खंडन किया है, ईश्वर का नहीं। वस्तुत: विभिन्न तर्कों के खंडन से ईश्वर का अनस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यहां यह प्रश्न अब भी बना है कि ईश्वर है या नहीं। कांट ने बाद में आस्था के आधार पर नैतिकता की पूर्व मान्यता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है। कांट के अनुसार, 'ईश्वर में विश्वास आवश्यक है लेकिन इस रूप में आवश्यक नहीं है कि हम इसे सिद्ध करें।'

अनुदेशों की अवधारणा

अनुदेश वह नियम हैं, जो हम आचरण के संदर्भों में अपनी सक्रिय शक्तियों पर आरोपित करते हैं। ये नियम व्यवहारिक तर्कों का निष्कर्ष हैं जो यह बताते हैं कि व्यक्ति को किस प्रकार एक तर्कसम्मत ढ़ंग से कार्य करना चाहिए। ये मानव इच्छा को यह बताते हैं कि किस कार्य को करना चाहिए और किससे बचना चाहिए। *जी.एम.* में कांट कहते हैं कि जो इच्छा को करणीय का आदेश देता है उसे बुद्धि का आदेश कहते हैं और इसके लिए जो दिशा-निर्देश होते हैं उन्हें अनुदेश कहा जाता है। 'सभी अनुदेश कर्तव्य-रूप में होते हैं।' अनुदेश कर्तव्यों का पालन करने के लिये कहते हैं फिर चाहे वे स्वयं के लिए हों या किसी बाह्य उद्देश्य के लिए हो। उदाहरण के लिए, किसी को उत्तम स्वास्थ्य के लिए शारीरिक अभ्यास करना चाहिए, या अपने स्वयं से किये गये वादे के लिये करना चाहिए। एक बुद्धिपरक व्यक्ति को केवल उन्हीं आदेशों को मानना चाहिए, जो व्यावहारिक रूप से भले के रूप में हों और जो इच्छा के समक्ष का अनुगमन इस बात को सुनिश्चित नहीं करता कि व्यक्ति उचित कर्म ही करेगा, बल्कि बुद्धि केवल नियम देती है जो अनुदेशात्मक हैं और जो केवल यह बताते हैं की नीति निर्धारण में एक तर्कपरक व्यक्ति में क्या भाव होना चाहिए।

कांट सामान्यत: मानव आचार में व्यवहृत दो प्रकार के अनुदेशों को चिन्हित करते हैं। वे कहते हैं कि हमारे अनुदेश या तो सापेक्ष होते हैं या फिर निरपेक्ष। ये दो प्रकार के अनुदेश; सापेक्ष और निरपेक्ष अनुदेश व्यवहारिक बुद्धि के दो पहलुओं क्रमश: आनुभविक और परिशुद्ध, पर केंद्रित हैं। सापेक्ष अनुदेश किसी इच्छित उद्देश्य या रूचि की प्राप्ति में अच्छे या आवश्यक कार्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह कहना है कि व्यक्ति को विशेष रूचि से प्रेरित होकर किसी कार्य को सम्पन्न करना चाहिए। उदाहरण के लिए, 'यदि आप अपनी अच्छी प्रतिष्ठा बनाए रखना चाहते हैं, तो आपको ईमानदार होना चाहिए।' यहाँ हम दो बातों को चिन्हित कर सकते हैं, 'यदि', किसी व्यक्ति की इच्छा को व्यक्त करता है और इमानदार होना 'साधन' की बात करता है कि किसी वांछित लक्ष्य को किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए। यह अनुदेश करना चाहते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने में रूचि नहीं लेता है तो वह इमानदार होने के बंधन से मुक्त रहता है। अर्थात् वह इस अनुदेश द्वारा बाध्य नहीं हैं कि उसे ईमानदार रहना है। इसलिए सापेक्ष अनुदेश केवल उनके लिए अनिवार्य है जो कि लक्ष्य में रुचि लेते हैं। सापेक्ष अनुदेश में एक प्रासंगिक प्रश्न यह है कि यदि किसी क्रिया को करने का न कोई कारण हो और न कोई आशय तब क्यों कोई व्यक्ति किसी कार्य को करने के लिये अग्रसर होगा? सापेक्ष अनुदेश की वैधता कुछ निश्चित लक्ष्य या रूचि के साथ सशर्त मान्यता है।

किसी अनुदेश को 'यदि' की उपस्थिति सापेक्ष नहीं बनाती है। उदाहरण के लिए, "जब भी भूखे हो खाओ" इस वाक्य में 'यदि शब्द नहीं है फिर भी ये व्यक्ति के लिए बाध्यता प्रकट करता है, जो भूख शांत करने की इच्छा को व्यक्त करता है और व्यक्ति को एक विशेष क्रिया 'खाने' के लिए बाध्य करता है। इसलिए सापेक्ष अनुदेश की एकमात्र निर्णायक विशेषता यह है कि यह अभिकर्ता को केवल उसी शर्त पर कार्यानुमति देता है, जिसकी अभिकर्ता की इच्छा होती है। आपको किसी कार्य को तभी करना चाहिए जब उसका कोई निश्चित फल हो। कांट के शब्दों में, 'इच्छा में साधन की स्वीकार्यता अंतर्निहित है। साधन क्रिया संपन्न करने में अनिवार्य है और कर्ता की शक्ति में निहित है' (*जी.एम.,* के.के. 4 : 417, 27)।

व्यक्ति निर्धारित कार्य करके या फिर लक्ष्य से विरत होकर सापेक्ष अनुदेश को ग्रहण कर सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में, जब किसी व्यक्ति को अपनी अच्छी प्रतिष्ठा बनाए रखने में रूचि होती है तो वह अनुदेशों द्वारा निर्धारित अर्थों का पालन करता है। दूसरी ओर, एक अन्य व्यक्ति जिसे अपनी अच्छी प्रतिष्ठा का बिल्कुल ध्यान नहीं उद्देश्य प्राप्ति में उस व्यक्ति कि अरूचि का कारण इमानदार होने में उसकी असमर्थता या फिर मात्र स्वयं उद्देश्य में उसकी अरूचि हो सकती है। उस व्यक्ति को अभिरूचि की और सापेक्ष अनुदेश की माँगों को पूरा करने की भी आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह व्यक्ति अनुदेशों द्वारा बाधित नहीं है। फिर भी, ऐसे व्यक्ति अनुदेश को आवश्यक रूप से उपेक्षित भी नहीं करते हैं। सापेक्ष अनुदेश द्वारा निर्धारित किए गए कार्यों का त्याग स्वयं में ही अनुदेश की उपेक्षा का विषय नहीं है। यद्यपि, सापेक्ष अनुदेश का उन सापेक्ष अनुदेशों से कुछ लेना देना नहीं है, जहाँ कोई किसी दूसरे उद्देश्य के लिये कार्यों को करता है, या जहाँ पर कोई समान उद्देश्यों के लिए विभिन्न साधनों का उपयोग करता है। उदाहरण के लिये, उन मामलों में, जहाँ किसी व्यक्ति कि ईमानदार बनने की मंशा के साथ-साथ पवित्र व्यक्ति बनने की भी इच्छा हो, या एक ऐसा व्यक्ति जो अनुचित साधनों से प्रतिष्ठित व्यक्ति बनना चाहता है।

सापेक्ष अनुदेश इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये निश्चित अथवा पूर्ण साधनों को अनिवार्य रूप से लागू नहीं करता है। प्रस्तावित साधनों और अभिव्यक्त इच्छाओं में कोई

आवश्यक संबंध नहीं हैं। उपर्युक्त उदाहरण में, केवल ईमानदार होना ही व्यक्ति को प्रतिष्ठित नहीं करेगा बल्कि यह भी माना जाता है कि प्रस्तावित साधन अच्छे और अनिवार्य होने चाहिए; यद्यपि साधन किसी को प्रतिष्ठित होने की सुनिश्चितता प्रदान नहीं करते। यदि आप अपनी अच्छी प्रतिष्ठा बनाना चाहते हैं, तो आपको ईमानदार होना पड़ेगा, यह उस उपाधिक प्रस्ताव के समान नहीं है जिसमें कहा गया है कि 'यदि आप ईमानदार हैं तो आप प्रतिष्ठित होंगे।' इसमें पूर्ववर्ती पद, जो शर्त को अभिव्यक्त करता है, से एक अनिवार्य परिणाम निगमित होता है। तर्कशास्त्र के नियम में से एक नियम यह है कि सत्य सोपाधिक कथन में, यदि पूर्ववर्ती भाग सम्पुष्ट है तो परिणाम भाग को भी सम्पुष्ट होना चाहिए। भले ही परिणाम का पुष्टीकरण अनिवार्य रूप से पूर्ववर्ती भाग के पुष्टीकरण को अपादित न करता हो। सापेक्ष अनुदेश हमें यह आश्वासन देता है कि प्रस्तावित साधन से आशय यह है कि वे प्रतिकूल नहीं हैं और अच्छे हैं और उनमें कुछ संबंध भी है। उनमें से कुछ अनिवार्य संबंध को बताते हैं और कुछ अनावश्यक को लेकिन कम से कम उद्देश्यों के लिए कुछ वैधता या उपयोगिता को अवश्य प्रदर्शित करते हैं।

कांट दो प्रकार के सापेक्ष अनुदेशों में भेद करते हैं; कौशल के नियम और विवेक-सम्मति। कुशलता के नियम में यह प्रश्न नहीं होता कि लक्ष्य तार्किक या अच्छा है या नहीं। यह मामला इतना भर है कि लक्ष्य को पाने के लिए क्या करना चाहिए? अथवा क्या प्रस्तावित साधन इच्छित परिणाम प्राप्त कराने वाले है या नहीं? कांट एक ऐसे डॉक्टर का उदाहरण देते हैं, जो रोगी की चिकित्सा कराने के लिए अपने ही नुस्खों का उपयोग करता है, और एक ऐसा बन्दी जो अपने शिकार को मारने के लिए अपने स्वयं के साधनों का प्रयोग करता है। कौशल के नियमों के अनुसार, दोनों कार्य समान भाव के हैं और प्रत्येक अपने उद्देश्य को पूर्णतया प्राप्त करने के लिए कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त, कौशल के नियमों के लिए एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि ये नियम सभी के लिए उपयुक्त नहीं है। सापेक्ष अनुदेश के इस उदाहरण को देखें, यदि आप एक अच्छे संगीत शिक्षक बनना चाहते हैं, तो आपको संगीत ढ़ंग से सीखना पड़ेगा। इस उदाहरण में, यद्यपि कोई संगीत अच्छे से सीखता है, लेकिन हो सकता है उसे आगे चलकर संगीत सिखाने का अवसर न मिले। बाद में हो सकता है उसे आगे चलकर संगीत सिखाने का अवसर न मिले। बाद में हो सकता है कि वह किसी कारण ावश किसी और क्षेत्र में सम्मिलित हो जाए, जैसे कि चिकित्सा क्षेत्र में। व्यक्ति द्वारा सीखी गयी कुशलताओं का उपयोग करना या न करना उसके द्वारा चयन किए गए क्षेत्र पर सम्मिलित अनुदेशों को कांट ने समस्यात्मक कहा है। क्योंकि जिन उद्देश्यों की प्राप्ति की इच्छा है उन्हें प्राप्त करने का प्रयास किया भी जा सकता है और उन्हें छोड़ा भी जा सकता है। संक्षेप में, कौशल के नियमों द्वारा प्रस्तावित साधन और साध्य केवल कुछ लोगों के लिये ही रूचि कर हो सकते हैं। कभी-कभी क्रिया की उत्पादकता मुख्यत: प्रस्तावित साधनों द्वारा इच्छित फल प्रदान करने की योग्यता पर निर्भर करती है।

विवेक-सम्मति कौशल के नियमों से अलग है। कौशल के नियमों के विपरीत इनका उपयोगी होना निश्चित है। कांट प्रसन्नता का उदाहरण लेते हैं। यद्यपि, मानव के प्रसन्न रहने के भिन्न ढ़ंग हो सकते हैं और चुने हुए क्षेत्रों और महत्व के अनुसार व्यक्ति के हित समय और स्थान के संदर्भ में भिन्न हो सकते हैं। यह कथन कि 'प्रत्येक व्यक्ति सदैव अपने-अपने ढ़ंग से प्रसन्न रहने का प्रयास करता है। कांट के लिए विवेक स्वयं के सर्वोच्च शुभ के चयन के साधनों का एक कौशल है। 'विवेक' शब्द दोहरे अर्थ में प्रयुक्त होता हैं; सांसारिक

विवेक और व्यक्तिगत विवेक। प्रथम दूसरों को उनके स्वयं के उद्देश्य प्राप्ति के लिए प्रेरित करने का कोशल है। द्वीतीय, व्यक्ति के स्वयं के सीमित लाभों के साथ इन उद्देश्यों को संयुक्त करना है। प्रथम का मूल्य बाद के मूल्य के लिए अपचयित हो जाता है। यदि किसी के पास प्रथम प्रकार का कौशल है और द्वीतीय का अभाव है तो वह चालाक तो कहा जाएगा किन्तु अविवेकी चालाक। विवेक-सम्मति कौशल के नियमों के समान समस्यात्मक प्रकृति की नहीं होती हैं। यह उन सिद्धांतों में अभिव्यक्त होती है जो बाध्यकारी होते हैं और सभी के लिये अनुकरणीय होती हैं।

सापेक्ष अनुदेश के विपरीत, निरपेक्ष अनुदेश की मौलिक विशेषता उसकी सुनिश्चित, निशर्त और सार्वभौमिक प्रकृति हैं। निरपेक्ष आदेश, 'कार्य को बिना किसी बाह्य बाध्यता (उद्देश्य) के स्वयं में अनिवार्य रूप से करणीय मानता है' (जी.एम.ए.के., 4:414-416,25-26) । निरपेक्ष या स्पष्ट अनुदेश किसी अभिकर्ता की विशेष रूचि की परवाह किए बिना अनिवार्य और तार्किक कार्यवाहियों की पुष्टि करता है। निरपेक्ष अनुदेश के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं। आवश्यकता पड़ने पर किसी की सहायता करनी चाहिए, किसी को अपने निजी लाभ के लिये नहीं करना चाहिए, किसी को सूचना को छुपाना नहीं चाहिए, किसी को अपने अनुसार सभी को कार्य करने की अनुमति देनी चाहिए। प्रथम उदाहरण को लें। किसी व्यक्ति की जरूरत में सहायता करना अपने किसी पूर्व अनुमित या भविष्य के लाभ से संचालित नहीं होना चाहिए। यह इस तथ्य से आता है कि बौद्धिक अभिकर्ता परोपकार के प्रासंगिक सिद्धांत से नियन्त्रित होकर सहायता करना चाहता है।

यदि कोई व्यक्ति दूसरों की सहायता अपनी किसी पूर्व रूचि के कारण करता है तो उस रूचि की अनुपस्थित में वह दूसरों की सहायता करने का प्रयोजन नहीं ढुंढ़ पाएगा। और इस प्रकार वह दूसरों की सहायता करने जैसे उदार कार्य को नहीं करेगा। इस प्रकार, यह सापेक्ष अनुदेश बन जाता है न कि नैतिक अनुदेश। अत:, नैतिक अनुदेश पूर्णतया नैतिक होते हैं, जो कि स्वयं में कर्तव्य की भावना को आदेशित करते हैं और इस प्रकार सापेक्ष अनुदेशों से भिन्न होते हैं।

कांट के निरपेक्ष अनुदेश के साथ अपने नैतिक नियमों की अवधारणा को चिन्हित किया है। नैतिक नियमों के मौलिक कारक क्रिया के विषय नहीं है बल्कि नियम, जैसे कि सार्वभौमिक, का एक रूप है। क्रिया का नैतिक मूल्य इच्छा के सिद्धांत में मिलता है न कि उद्देश्यों, जो ऐसी क्रियाओं से प्राप्त होते हैं, में। नैतिक नियम कार्यों को किसी बाह्य साध्यों की अपेक्षा स्वयं में अच्छे या अनिवार्य मानते हैं। अभिकर्ता की रुचि क्रियाओं के प्रदर्शन में होती है। कार्य को केवल कार्य के लिये किया जाना चाहिए न कि किसी बाह्य उद्देश्य से प्रेरित होकर करना चाहिए। अर्थात निरपेक्ष आदेश के रूप में नैतिक सिद्धांत व्यवहारिक बौद्धिक अभिकर्ता के लिये निर्शत अवशम्भावी नैतिक कार्यों की संस्तुती करते हैं।

कांट के अनुसार, सापेक्ष आदेशों में साधन-साध्य संबंध न केवल अपर्याप्त बल्कि नैतिकता के सिद्धांतों की माँग के प्रतिकूल होता है। सापेक्ष अनुदेश केवल कुछ क्रियाओं के कुछ कारण प्रदर्शित करते हैं जो किसी तरह से नैतिकता से संबंधित हो सकते हैं लेकिन नैतिकता के सिद्धान्तों से पूर्णत: प्रतिबद्ध नहीं होते। अत:, प्रस्तावित साधन और लक्षित साध्य दोनों नियमों की एक प्रणाली के दो अलग-अलग पहलू होते हैं और साध्य केवल प्रस्तावित साधनों से ही प्राप्त होते हैं। कांट नैतिक अनुदेशों के निर्धारण में इस प्रकार के साधन-

साध के भेद को स्वीकार नहीं करते हैं। वो मानते हैं कि नैतिकता के सर्वोच्च सिद्धांत सार्वभौमिक, अनिवार्य, शर्तविहीन और निरपेक्ष होने चाहिए और उन्हें निरपेक्ष अनुदेश के रूप में व्यक्त होना चाहिए।

नैतिक नियमों की अवधारणा

बचपन से ही कांट ऊपर 'तारों भरे स्वर्ग' और 'मन में स्थित नैतिक नियमों'; दो व्यवस्थाओं, भौतिक और नैतिक को लेकर विचारशील थे। इस क्रम में, वे यह जानना चाहते थे कि सभी अनुभवजन्य बौद्धिक प्राणियों सहित मानव के लिए "नैतिकता की क्या प्रकृति होनी चाहिए?" अपनी इस खोज में उन्होंने नैतिकता की प्रकृति या नैतिक नियमों को निरपेक्ष अनुदेश के रूप में प्राप्त किया। दर्शन के इतिहास में निरपेक्ष अनुदेश की खोज का श्रेय कांट के नैतिक दर्शन को जाता है। कांट के व्यवहारिक दर्शन को उनके नैतिक सिद्धांत के केन्द्र बिन्दू निरपेक्ष आदेश से पृथक करके नहीं समझा जा सकता है। कांट *जी.एम.* में तर्क देते हैं। कि सीमित बौद्धिक प्राणियों के लिए किसी भी नैतिक तर्क को निरपेक्ष आदेश पर आधारित करके ही समझा जा सकता है। प्रत्येक पुष्ट नैतिक निर्णय के मूल में निरपेक्ष अनुदेश का सिद्धांत होना चाहिए। क्योंकि बुद्धि की यह मांग है कि प्रत्येक व्यवहारिक बौद्धिक अभिकर्ता के लिये नैतिक नियम निरपेक्ष और आदेश होने चाहिए। कांट के लिए, नैतिक नियम एक संश्लिष्ट प्रागनुभविक कथन है। कोई कथन संश्लिष्ट तब होता है जब विधेय पहले ही विषय की अवध ारणा में निहित रहता है, अन्यथा यह विश्लेषाणात्मक होता है। कोई कथन तब प्रागनुभविक होता है। कांट का यह विचार कि नैतिक नियम एक संश्लिष्ट प्रागनुभविक कथन होता है समस्याओं से घिरा हुआ है। कांट इस समस्या को ऐसे रखते हैं कि "संश्लिष्ट प्रागनुभविक निर्णय कैसे संभव है" (कांट, *सी.पी.आर.*, बी. 73,91)।

कांट के अनुसार, सभी व्यवहारिक बौद्धिक प्रणियों के लिए नैतिक नियम केवल अभिकर्ता की स्वायत्त स्वतंत्रता में निहित है। नैतिकता के श्रोत बौद्धिक प्राणी की बिना किसी बाह्य कारक से प्रभावित हुए स्वयं के लिये विधानों को बनाने की स्वतंत्रता की क्षमता में पाये जाते हैं। केवल ऐसे नैतिक नियम ही वस्तुनिष्ठ, सभी बौद्धिक प्राणियों के लिये निरपेक्ष एवं अनिवार्य रूप से बाध्यकारी हो सकते हैं। नैतिक नियमों के निर्धारण में अभिकर्ता की व्यवहारिक प्रकृति से संबंधित किसी भी प्रकार के संयोगों की कल्पना इनकी शुद्धता को प्रभावित करती है। नैतिक नियमों को मूलत: बौद्धिक अर्थात प्रागनुभविक तथा सार्वभौमिक होना चाहिए। है। नैतिक नियम का सामान्य सूत्र सार्वभौमिक नियम का सूत्र कहलाता है जिसे ऐसे पढ़ा जाता है; "उस नैतिक नियम के तहत कार्य करो जिसे उसी समय सार्वभौमिक बनाया जा सके"। कांट के प्रागनुभविक नैतिक नियम का सार्वभौमिक अनुप्रयोग है। ये बौद्धिक नैतिक प्राणी को सार्वभौमिक विधि दाता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। नैतिक सूत्र की सार्वभौमिक वैधता की बाध्यता किसी की नैतिकता को निर्धारित करने का पर्याप्त आधार है। किसी एक व्यक्ति के लिए बाध्यकारी या स्वीकृत अथवा अस्वीकृत नैतिक सूत्र समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों पर लागू होना चाहिए। नैतिक अभिकर्ता का कृत्य शुद्ध व्यवहारिक बुद्धि पर आधारित होता है। उनमें सापेक्षता नहीं होती है। व्यवहारिक सिद्धांतों में हमारा सूत्र यह है कि "हमारे अन्दर हमारे कृत्यों को सार्वभौतिक नियम बनाने की इच्छा होनी चाहिए"। शुद्ध व्यवहारिक बुद्धि का विशेष कार्य स्व:वैधानिकता के लिये बौद्धिक प्राणी की स्वतंत्रता की मूल सार्वभौमिक प्रकृति की परिकल्पना करना और उसे निरपेक्ष आदेश के रूप में प्रस्तुत करना है। नैतिक नियम

बौद्धिक प्राणी की सार्वभौमिक प्रकृति को और इच्छा की फलित बौद्धिक बाध्यताओं, जो स्वयं को स्वतंत्र किन्तु नैतिक रूप से बाध्यकारी के रूप में अभिव्यक्त करती है, को निर्धारित करते हैं। प्रत्येक बौद्धिक प्राणी को नैतिक नियमों से बाध्य होकर कार्य करना चाहिए। कांट के अनुसार, बौद्धिक प्राणी अपने सिद्धांतों का स्वयं निर्माता है और यदि वह उनके अनुसार कार्य करता है तो वह अपने ही स्वायत्त नियमों का पालन करता है।

नैतिक कर्तव्यों के आधार के निर्धारण में कांट किन्हीं अनुभवजन्य कारकों को स्वीकार नहीं करते हैं। बौद्धिक प्राणियों के लिए सार्वभौमिक उद्देश्य और निरपेक्ष नैतिकता प्रदान करने की क्षमता केवल शुद्ध व्यवहारिक बुद्धि में है। मानव प्रकृति के अनुभवजन्य कारक आकस्मिक होते हैं। उन पर निर्थरता बुद्धि के स्वयं व्यवहारिक होने की शक्ति को प्रभावित करेगी। इस प्रकार, वे बौद्धिक प्राणियों के नैतिक नियम के आधार नहीं होने चाहिए। मानव के अनुभव जन्य और अर्थपूर्ण कारक यह स्पष्ट करने में असमर्थ हैं कि बौद्धिक प्राणियों के लिए क्या होना चाहिए। 'मानव क्या है' से बौद्धिक प्राणी को 'क्या होना चाहिए' से आपादित नहीं होता है। नैतिक नियमों को स्वयं के निर्धारक आधार के रूप में युद्ध व्यवहारिक बुद्धि को रचना चाहिए। निरपेक्ष आदेश के रूप में नैतिक नियम को कर्तव्य परक होना चाहिए। कृत्य के मानदंड होना चाहिए। मानवीय अवस्था में, जब इच्छा नैतिक कर्तव्य के चुनाव और रूचिकर इन्द्रिय लाभ के मध्य द्वंद्व का सामना करती है, शुद्ध बुद्धि विषयनिष्ठ और निरपेक्ष नैतिक नियम की प्रागनुभविक बौद्धिक सम्भावना, जो सभी स्थान पर, सभी समय में, और सभी व्यक्तियों के लिये वैध होती हैं, को प्रस्तुत करती है।

कांट के लिए, शुभ संकल्प बुद्धि कि शुद्ध व्यवहारिक शक्ति द्वारा निर्धारित इच्छा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह स्वयं में शुभ है। यह अकेले कर्तव्य से कार्य के संचालन की माँग करता है। अन्य सभी कारक नैतिक निर्धारक के मामले में अप्रासंगिक है। कर्तव्य की अवधारणा मानव संवेदनात्मकता की शुभ की अवधारणा के तहत नहीं आती है। यदि कोई व्यवहारिक शुभ से संचालित होकर कार्य करता है तो यह बुद्धि की स्वायत्ता से विचलन है। व्यवहारिक शुभ से संचलित क्रिया सापेक्ष नैतिक नियम को प्रदर्शित करती है। कांट कहते हैं कि यदि हम, नैतिक नियम से पूर्व, इच्छा के निर्धारक तत्व के रूप में किसी विषय को शुभ मानते हैं और तब इससे सर्वाच्च व्यवहारिक सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं तो यह सदैव विसंगति लेकर आता है और नैतिक सिद्धांतों को विस्थापित कर देता है। कांट विवेक हीन शुभ सकल्प की बात नहीं करते। बिना बुद्धि के संदर्भ के उन्हें शुभ स्वीकार्य नहीं है। साथ ही, इससे यह भी तात्पर्य नहीं है कि कांट की व्यवहारिक दर्शन में शुभ सकल्प ही एक मात्र शुभ वस्तु है। कांट *जी.एम.* में कहते हैं कि बुद्धिमत्ता, बुद्धि, न्याय, शक्ति, धन, सम्मान, यहाँ तक की स्वास्थ्य आदि शुभ हैं लेकिन तभी जब संकल्प, जो कि मानव मन पर इनके प्रभावों को नियंत्रित करता है, शुभ हो। कांट बताते हैं कि हम अपने सुख और दुख को स्वयं के उच्च संतोष या असंतोष के स्तर, जैसे कि नैतिक, के संदर्भ में जांचते हैं। नैतिक नियम यह निश्चित करता है कि हमें कार्य में कब रत होना चाहिए और इच्छा की किन विरोधी स्थितियों में कार्य करने से बचना चाहिए। एक नीतिशास्त्री के रूप में कांट कर्तव्य और रूचि के मध्य के द्वंद्व से मुख्य रूप से सम्बंधित है। ऐसी स्थिति में बुद्धि को सकल्प का निर्धारण करना होता है ताकि सकल्प इन्द्रिय सुख की अपेक्षा कर्तव्यानुसार कार्य कर सके।

कांट का मानना है कि नैतिक नियम एक विचार के रूप में ईश्वर, स्वर्गदूतों, मनुष्यों और अन्य सभी बौद्धिक प्राणियों के लिए वैध है। अत:, नैतिक नियम की निरपेक्ष प्रकृति केवल

विवेक और संवेदनात्मकता वाले सीमित प्राणीयों के लिये ही वैध होती है। ऐसे व्यवहारिक बौद्धिक प्राणियों के लिए नैतिक नियम निरपेक्ष है, क्योंकि वे नैतिक नियमों के अवलोकन में दबाव का अनुभव करते हैं। नैतिक अनुदेश उनके लिये नैतिक नियम निरपेक्ष नहीं है बल्कि 'पवित्रता के नियम' है क्योंकि वे असीमित बुद्धि को धारण करते हैं। कांट लिखते हैं "... किसी अत्यधिक आदर्श प्राणी के संकल्प के लिये नैतिक नियम पवित्रता के नियम' हैं लेकिन अन्य सभी सीमित बौद्धिक प्राणियों के लिए ये 'कर्तव्य के नियम' है, नैतिक अनिवार्यताएं हैं। नैतिक नियमों के लिए सम्मान और कर्तव्य के लिये प्रेम के द्वारा उसके क्रियाकलापों का निर्धारण करने वाले है" (*सी.पी.आर.ए.* के 5.82,106)। शुद्ध संकल्प से भिन्न, मानव संकल्प नैतिक नियमों के साथ अनिवार्य रूप से पहचान नहीं करता है। हम सीमित प्राणियों के पास *पवित्र संकल्प* नहीं होता है। मानव इन्द्रिय रसों से स्वतंत्र नहीं है। व्यवहारिक प्राणी के रूप में हम अपने इन्द्रिय आवेगों से प्रभाविक होते हैं। हम संवेदना के चलायमान कारकों के द्वारा प्रभावित होते हैं। हमारे अंदर अपने इन्द्रिय रोगों के पीछे भागने की प्रवृत्ति है। मानव सहित सभी व्यवहारिक प्राणीयों के लिये इन रोगों से बचना असम्भव है। यद्यपि, हमारे अंदर इन रोगों के प्रभाव से स्वयं को स्वतंत्र रखने के संकल्प की स्वतंत्रता है। नैतिक नियम मानव संकल्प की स्वयत्ता की अभिव्यक्ति है। यह इन्द्रिक प्रभावों से स्वतंत्र करके स्वयं को जाचने की स्वतंत्रता है। नैतिक नियम, इस प्रकार, इन्द्रिय प्रभावों से स्वतंत्र करके स्वयं को जाचने की स्वतंत्रता है। नैतिक नियम, अत:, इन्द्रिय संवेगों से प्रभावित बौद्धिक प्राणीयों के लिये निरपेक्ष आदेश हैं।

नैतिकता की मान्यताएँ

कांट नैतिक कर्तव्य के अनुप्रयोगों, जैसे, 'नैतिक जीवन की क्या नियति है?' 'नैतिक कर्तव्य का वास्तव में क्या परिणाम होता है?' 'अच्छे रहने की शर्तों को कैसे पूरा किया जा सकता हैं' आदि पर अनुचिंतन के द्वारा बुद्धि की कुछ निश्चित मान्यताओं को प्रतिपादित करते हैं। ये मान्यताएं हैं, अभिकर्ता की स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता और ईश्वर का अस्तित्व। कांट ने इन मान्यताओं की *सी.पी.आर.* के 'शुद्ध व्यवहारिक बुद्धि की द्वंद्वात्मकता' में चर्चा की है। वह कहते हैं, "ये मान्यताएं नहीं है बल्कि व्यवहारिक सिद्धांतों के दृष्टिकोण से पूर्वधारणाएं हैं" (*सी.पी.आर.,* ए.के. 5:132, 167)। शुद्ध व्यवहारिक बुद्धि की मान्यताओं के आधार पर मानव नैतिक कर्तव्यों संबंधी प्रश्नों के उत्तर देने में समर्थ हो जाता है। ये मान्यताएं नैतिक नियमों के द्वारा प्रमाणित होती हैं। आइए इन मान्यताओं के कांट के व्यवहारिक दर्शन में महत्व पर चर्चा करें।

कांट के सैद्धांतिक साक्ष्य के अनुसार मानवीय बुद्धि की प्रकृति के कारण बौद्धिक प्राणी का स्वतंत्र होना असंभव है। हम संज्ञानात्मक ज्ञान के लिए स्वतंत्रता संबंधित कोई अनुभवजन्य आंकड़े प्राप्त नहीं कर सकते हैं, क्योंकि स्वतंत्रता इन्द्रियों की पकड़ से बाहर की वस्तु है। कांट के लिए, बाह्य अनुभवजन्य दुनिया में उपस्थित भौतिक वस्तु के रूप में स्वतंत्रता के अनुभव की असम्भाव्यता स्वतंत्रता की सम्भावना का खण्डन नहीं करती है। वह कहते हैं कि संकल्प की स्वतंत्रता और बौद्धिक जगत का सदस्य होना दोनों व्यवहारिक दृष्टि से वैध कल्पनाएं हैं। स्वतंत्रता को केवल प्रागनुभविक शुद्ध व्यवहारिक बुद्धि के द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। यह बुद्धि की अंतदृष्टि पर स्वत: ही अपनी अनिवार्य क्रियाओं द्वारा स्थापित है। कांट कहते हैं कि "हमें अनिवार्य रूप से प्रत्येक संकल्पधारी बौद्धिक प्राणी में स्वतंत्रता,

जिसके तहत ही कोई प्राणी कार्य कर सकता है, को स्वीकार करना चाहिए... हम संभव रूप से ऐसी किसी मानव बुद्धि के बारे में नहीं सोच सकते जो सचेत रूप से अपने सिद्धांतों की स्वयं निर्माता होती है" (*जी.एम. ए.के.* 4:448, 50)। नैतिक नियम और नैतिक क्रिया के लिए महत्वपूर्ण स्वतंत्रता की अवधारणा मानव को बुद्धि के शुद्ध व्यवहारिक प्रयोग से स्वतंत्रता की मान्यताओं को अनुमति करने के लिए बाध्य करती है। स्वतंत्रता की शुद्ध व्यावहारिक मान्यताएं ही सैद्धांतिक बुद्धि द्वारा स्वीकार्य होती हैं, क्योंकि सैद्धांतिक बुद्धि स्वतंत्रता की सम्भावना को सिद्ध करने में असमर्थ है और बुद्धि की व्यवहारिक आधार पर स्वतंत्रता की कल्पना न तो स्व:विरोधी है और न ही हमारे इन्द्रिय जगत का निषेध करती है।

स्वतंत्रता की संभावना के बारे में ज्ञान नैतिक नियमों से प्राप्त किया जा सकता है। नैतिक नियम ही स्वतंत्रता की धारणा प्रदान करते हैं। कांट कहते हैं कि नैतिकता के बारे में हमारा ज्ञान स्वतंत्रता के ज्ञान को लेकर आता है। हमारी नैतिक चेतना स्वतंत्रता के हमारे ज्ञान की आधार भूमि मानी जाती है। स्वतंत्रता को सत् या 'नैतिक नियमों के कारण' के रूप में समझा जा सकता है जबकि नैतिक नियमों को 'इस स्वतंत्रता के ज्ञान के कारण' के रूप में समझा जा सकता है जबकि नैतिक नियमों को 'इस स्वतंत्रता के ज्ञान के कारण' के रूप देखा जा सकता है। स्वतंत्रता को तीसरे शब्द से भी जाना जा सकता है जिसे कांट बौद्धिक अभिकर्ता और नैतिक क्रियाकलापों, संकल्प और संकल्प का विषय, का संश्लेषण करने के लिए प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् नैतिक नियम के आधार के रूप में स्वतंत्रता की पूर्वकल्पना के अतिरिक्त स्वतंत्रता नैतिक क्रिया, जहां स्वतंत्र संकल्प नैतिक नियम से बाध्य होकर नैतिक रूप से कार्य करने का विकल्प चुनता है, में भी पूर्व कल्पित होती है। नैतिक नियम और क्रिया का स्त्रोत कर्त्ता की स्वतंत्रता, जो स्वयं को स्वायत्ता और बाध्यता के रूप में व्यक्त करती है और जो बदले में कर्त्ता से नैतिक क्रिया की मांग करती है, में खोजा जा सकता है। अत:, संकल्प की स्वतंत्रता नैतिकता के द्वारा प्रमाणित होती है। ईश्वर और अतरत्व का विचार, दो अन्य शुद्ध व्यवहारिक मान्यताएं हैं। नैतिक नियमों के मूल के रूप में स्वतंत्रता को प्राप्त करके कांट पुन: नैतिकता की अवधारणा की तरह ईश्वर और अमरत्व के विचार को प्रमाणित करते हैं। स्वतंत्रता की अवधारणा की तरह ईश्वर और अमरत्व के विचार को परिकल्पित बुद्धि से सिद्ध या असिद्ध नहीं किया जा सकता है। वे विषयगत वास्तविकताओं की पुष्टि करने के लिए कोई सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। कांट के अनुसार, इन मान्यताओं को केवल शुद्ध व्यावहारिक बुद्धि की मान्यताओं के रूप में ही समझा जा सकता है। नैतिकता ही किसी को ईश्वर और अमरत्व की भावना की ओर अग्रसर करती है।

नैतिक नियमों को अमरत्व और ईश्वर की मान्यताओं की मूलत: आवश्यकता नहीं है। ये विचार नैतिक जीवन में उनकी प्रासंगिकता के कारण से शुद्ध व्यावहारिक बुद्धि द्वारा कल्पित किये जाते हैं। ये नैतिक नियमों के लिए श्रद्धा की भावना सुनिश्चित करते हैं। नैतिक प्रयास इन्हीं अनिवार्य पूर्वधारणाओं के माध्यम से जीवन शक्ति और क्षमता प्राप्त करते हैं। नैतिक प्रयास इन्हीं अनिवार्य पूर्वधारणाओं के माध्यम से जीवन शक्ति और क्षमता प्राप्त करते हैं। ईश्वर और अमरत्व में विश्वास व्यवहारिक अभिकर्ता के सम्मुख सर्वोच्च स्त्रोत और एक उपयुक्त समय ताकि वह अपना सद्गुणी जीवन पूर्ण रूप से जी सके और नैतिक विश्व की स्थापना के लिए कार्य कर सके, प्रस्तुत करता है। व्यवहारिक बौद्धिक प्राणी अनिवार्य रूप से अपनी स्वीकृत इच्छाओं के विषयों की पूर्ती के लिये शाश्वत ईश्वर और साथ ही साथ अपने नैतिक कृत्यों के लिये पारितोषिक की कल्पना करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति अपने

पूर्ण शुभ के लिये ही नैतिक नियमों का पालन करता है। मानव के लिए शुभ विचार परम आवश्यक है। चूँकि सद्गुणों और आनन्द की ऐसी पूर्ण और उच्च ऐकता का व्यवहारिक साक्ष्य नहीं है अथवा कम से कम आकस्मिक रूप से प्राप्त है, यह व्यवहारिक रूप से अनिवार्य है कि हम स्वयं को समझाएं कि हमारे नैतिक कृत्य व्यर्थ नहीं जाते बल्कि पूर्ण शुभ की ओर लेकर जाते हैं। व्यवहारिक आधार का ऐसा चिंतन हमारी नैतिक कर्तव्य के पथ पर चलने में सहायता करता हैं साथ ही, नैतिक सिद्धांत के रूप में ईश्वर को दण्ड के आधार पर नैतिक नियमों का प्रस्तुत कर्त्ता नहीं माना जा सकता क्योंकि कोई भी बाह्य दबाव (दण्ड) कर्त्ता की नैतिक स्वयत्ता को नष्ट कर देता है।

कांट के अनुसार, नैतिक नियम स्वायत्ता के नियम हैं इसलिये उन्हें स्वत: वैधानिक होना चाहिए। अब, कांट का विचार यह है कि बौद्धिक प्राणी को नैतिक नियमों का पालन करना चाहिये। नैतिक जीवन ईश्वर को प्रसन्न करने का सबसे अच्छा माध्यम है। कांट का मानना है कि ईश्वर को हम नैतिक जीवन के अतिरिक्त किसी और ढ़ंग से ईश्वर को प्रसन्न करने का विचार धार्मिक भ्रम मात्र है। ईश्वर की झूठी सेवा है। यद्यपि कांट ऐसी सर्वोच्च सत्ता, जिसकी इच्छा सब के लिये नियम है, विचार से सहमत है। अन्य शब्दों में, नैतिक नियम से इसलिये बाध्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि यह ईश्वर की इच्छा है, बल्कि इसलिये क्योंकि यह शुद्ध बुद्धि की स्वायत्ता पर आधारित है। कांट नैतिकता के क्षेत्र में व्यवहारिक अस्तित्वाद स्वीकार करते हैं। उसका ईश्वर विचार एक ऐसे रचनाकार को मानता है जिसने एकता, अन्तरसंबंधिता और उद्देश्यपूर्ण विश्व की रचना की है। ऐसी सर्वोच्च सत्ता का विचार ने ज्ञान-वर्धन में प्रोत्साहन करता है। ऐकता, संबंधता और उद्देश्यता वाला यह विश्व सर्वोच्च सत्ता के साथ मिलकर नैतिक जीवन जीने के लिये मानव को प्रेरित करता है।

कांट मानते हैं कि हमारे विश्वास नैतिक नियमों की हमारी स्वीकृति से बँधे हैं। कांट व्यक्ति के ईश्वर अथवा अमरता संबंधी विश्वास का विरोध नहीं करते हैं, बल्कि वे केवल धार्मिक विश्वासों को आधार मानकर नैतिकता और ईश्वर के अस्तित्व सिद्धि की सैद्धांतिक संभावना का विरोध करते हैं। कांट के ईश्वर और अमरता के लिए तर्क इतने शक्तिशाली है कि उन्हें दैनिक जीवन में अनदेखा नहीं किया जा सकता है। कांट ईश्वर और अमरता के रूप में पुन: प्रतिपादित करके सशक्त बना सकते हैं। वह धार्मिक विश्वासों को नैतिकता पर आध ारित हैं। नैतिकता की मांग के अनुसार धार्मिक मान्यताओं, जैसे कि ईश्वर का अस्तित्व और अमरता, को प्रतिफलित किया जाता है। ये मान्यताएं ऐसे अनिवार्य प्रत्यय हैं जो नैतिक नियमों की स्वीकृति संभव बनाते हैं और ये नैतिक अभिवृत्तियों से उत्पन्न तार्किक विश्वास होते हैं। स्वतंत्रता विरोध उत्पन्न नहीं करती है बल्कि नैतिक नियमों को संभव बनाती हैं।

अत:, कांट के अनुसार, पूर्ण रूप से धार्मिक आस्था से स्वतंत्र नैतिकता धर्म की ओर जाती है। संक्षेपा में, ईश्वर और अमरता का विचार हमारे व्यावहारिक प्रायोजनों के लिए शुद्ध बुद्धि की मान्यताएं हैं। ये नैतिक नियमों के लिए श्रद्धा की स्थापना या अनुभवजन्य तर्कसंगत प्राणियों में नैतिकता सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक व्यावहारिक पूर्वधारणाएं हैं। इन मान्यताओं के संबंध में उनकी प्राथमिक रूचि नैतिकता की सत्यता की खोज करना है। साथ ही, अनिवार्य व्यवहारिक मान्यताओं के रूप में ईश्वर और अमरता का विचार स्वायत्त नैतिक नियम की सम्भावना का समर्थन कर सकता है।

काण्ट के दर्शन का मूल्यांकन

काण्ट न केवल यूरोप के, बल्कि विश्व के महान दार्शनिकों में से एक हैं। प्लेटो, अरस्तू और हेगल के अतिरिक्त काण्ट के स्तर (कोटि) का शायद ही कोई पाश्चात्य दार्शनिक हुआ हो। उसने अपने युग में प्रचलित विचारधाराओं का अनुशीलन करके यह निष्कर्ष स्थापित किया कि बुद्धिवाद और अनुभववाद की अपनी-अपनी सीमाएं हैं। इन सीमाओं का अतिक्रमण करना एक अनधिकार प्रयास है। काण्ट से पूर्व समस्त यूरोपीय चिंतन **ह्यूम** के संशयवादी प्रहारों से चिन्तित और हतप्रभ था। ह्यूम के द्वारा कारण-कार्य नियम की अनिवार्यता, सार्वभौमिकता और वस्तुनिष्ठता को तार्किक आधार पर न स्वीकार करने से दर्शनशास्त्र के साथ-साथ विज्ञान के क्षेत्र में भी हलचल मच गयी। काण्ट के आलोचनावाद में ज्ञानमीमांसा का तार्किक आधार पर स्थापित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया। उसने ह्यूम करी आशंकाओं को निराधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया। ह्यूम के संशयवाद का प्रमुख कारण यह अनुभववादी मताग्रह है कि समस्त ज्ञान अनुभव जन्य है। इसके विपरीत बुद्धिवादियों ने अनुभव की उपेक्षा करके समस्त ज्ञान का स्त्रोत जन्मजात प्रत्ययों को मान लिया। यह दूसरे प्रकार का रूढ़िवादी (Dogmatic) मताग्रह है। काण्ट ने इन दोनों विचारधाराओं का मूल्यांकन करके यह सिद्ध कर दिया कि दोनों मत एकांगी हैं। किन्तु वह एक निष्पक्ष आलोचक की दृष्टि से इन दोनों विचारधाराओं के विध्यात्मक (Positive) पक्षों को किसी न किसी रूप में अपनी ज्ञानमीमांसा में ग्रहण कर लेता है। काण्ट के द्वारा अनुभव को ज्ञान का उपादान (Matter) और बुद्धि-विकल्पों को ज्ञान का आकार (Form) कहना इसका परिचायक है। वह अपनी ज्ञानमीमांसा में सार्वभौमिकता, अनिवार्यता एवं निश्चितता के साथ-साथ नवीनता एवं यथार्थता को सम्मिलित करके बुद्धिवाद और अनुभववाद में समन्वय करता है। अतः काण्ट की ज्ञानमीमांसा का अपना ऐतिहासिक महत्व है।

उल्लेखनीय है कि काण्ट की अनेक मान्यताएं **न्यूटनीय भौतिकी** और **यूक्लिडीय ज्यामिति** से प्रभावित रही हैं। इनसे प्रभावित होकर काण्ट ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि सार्वभौम एवं अनिवार्यता तथा यथार्थ एवं नवीन ज्ञान गणित, भौतिकशास्त्र आदि के क्षेत्र में संभव है। किन्तु काण्ट के युग की वैज्ञानिक मान्यताओं में आज संशोधन हो चुका है। आज भौतिकी के क्षेत्र में यह स्वीकार किया गया है कि भौतिक नियम अनिवार्य और सार्वभौम नहीं, बल्कि संभाव्य (प्रायिक) होते हैं। भविष्य में इन नियमों के असत्य होने की संभावना बनी रहती है। यद्यपि गणित के निर्णय अनिवार्य और सार्वभौम होते हैं, तथापि वे आनुभविक (Empirical) नहीं होते हैं। अतः गणितीय नियमों के लिए अनुभव आवश्यक नहीं होता है। इसके अतिरिक्त समसामयिक युग में ज्यामिति (गणित) के क्षेत्र में बहुत विकास हुआ है। आज ऐसे अनेक गणितीय सिद्धांतों की स्थापना हो चुकी है जिसमें देश (Space) का कोई उपयोग नहीं रह गया है। उदाहरण के लिए **हिल्बर्ट के अधिगणित** (Metamathematics) में रचना का कोई उपयोग नहीं है। रचना की उपयोगिता न होने से देश का कोई उपयोग नहीं होता है। इस प्रकार आधुनिक गणित पर्याप्त रूप में अमूर्त हो गया है। अतः उसका परिमाण या मात्रा (Quantity) और देश (Space) से कोई अनिवार्य नहीं रह गया है।[1]

अतः विज्ञानों के स्वरूप और ज्ञान के आदर्श संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों के बारे में काण्ट का मत अब असत्य हो चुका है। आज लाइबनित्ज के इस मत को पुनः सत्य माना जा रहा है। कि गणित के कथन विश्लेषणात्मक और प्रागनुभविक होते हैं। किन्तु इन त्रुटियों के होते हुए भी काण्ट के इस मत से असहमत होना कठिन है कि मानव की प्रत्यक्षमूलक

चेतना में बुद्धि के कुछ प्रागनुभविक संप्रत्यय (बुद्धि-विकल्प) निहित होते हैं। ये प्रागनुभविक संप्रत्यय ज्ञान के अतीन्द्रिय कारक हैं।

काण्ट के विरुद्ध एक आक्षेप यह है कि उसके आलोचनावाद का तार्किक परिणाम द्वैतवाद है। इस द्वैतवाद का पर्यवसान अज्ञेयवाद में होता है। उसने ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के बीच में एक द्वैत स्थापित कर दिया। आगे चलकर **हेगल** और उसके अनुयायियों ने काण्ट के अज्ञेयवाद को चुनौती दी। **हेगल के अनुसार अज्ञेयवाद स्वतः अंतर्विरोधग्रस्त है। यदि परमार्थ अज्ञेय है तो हमें उसकी अज्ञेयता का भी ज्ञान नहीं हो सकता है।** तत्त्व को अज्ञेय कहने का अर्थ यह है कि हमें उसके बारे में कम से कम इतना ज्ञान है कि वह है। यदि कोई वस्तु वास्तव में अज्ञेय है तो उसे अज्ञेय नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार अज्ञेयवाद के कारण काण्ट का दर्शन अंतर्विरोधों से आक्रांत हो जाता है। एक ओर ता काण्ट यह दावा करता है कि **'स्वलक्षण वस्तुएँ'** (Things in themselves) अज्ञेय हैं, वही दूसरी ओर यह कहा जाता है कि स्वलक्षण वस्तुएं हमारे संवेदनों के कारण हैं। प्रश्न उठता है कि उन्हें एक साथ अज्ञेय एवं 'संवेदनों का कारण' कैसे कहा जा सकता है? काण्ट-दर्शन के कुछ आलोचकों के अनुसार, पारमार्थिक स्वलक्षणों का **बौद्धिक प्रतिभान** (Intellectual Intuition) संभव है। काण्ट के एक प्रमुख अनुयायी (शिष्य) **एच. जे. पेटन** के अनुसार, काण्ट बाह्य जगत् की वस्तुओं के कारण के रूप में पारमार्थिक स्वलक्षणों का अनुमान नहीं करता है, बल्कि यह स्वलक्षणों को प्रत्येक वस्तु में व्याप्त मानता है। इससे स्पष्ट है कि पेटन काण्ट के दर्शन में बौद्धिक प्रतिभान की संभावना को स्वीकार करते हैं। किन्तु काण्ट के दर्शन की प्रस्तुत विवेचना से स्पष्ट है कि वह संवेदनावाद और रहस्यवाद दोनों को अस्वीकार कर देता है। मनुष्य न तो विशुद्ध संवेदनों (संप्रत्ययों के अभाव में) को ग्रहण कर सकता है और न स्वलक्षणों का साक्षात्कार कर सकता है क्योंकि काण्ट के अनुसार प्रज्ञा प्रतिभान से युक्त नहीं होती है। यही कारण है कि मानव स्वलक्षणों को नहीं जान सकता है।

जर्मन के महान दार्शनिक **शोपेनहावर** शेलिंग के प्रत्ययवाद से प्रभावित थे। किन्तु उन्होंने शेलिंग के दर्शन को काण्ट का ऋणी माना है। **शोपेनहावर** ने काण्ट के दर्शन को पढ़कर कहा था– **जो अस्पष्ट अथवा गूढ़ (Obscure) है वह सदैव महत्वहीन नहीं होता है। फिक्टे और शेलिंग इसका लाभ लेकर ही तत्त्वमीमांसा का भव्य प्रासाद खड़ा करने के लिए प्रोत्साहित हुए।"**[1] काण्ट के अनुसार स्वलक्षण भले ही ज्ञेय न हों, परंतु वे चिन्त्य हैं। स्वलक्षणों के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि उनके बारे में उद्देश्य-विधेयपरक कथनों (निर्णयों) के माध्यम से कुछ नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः वह मानव-बुद्धि को विमर्शात्मक मानता है, प्रतिभानयुक्त (Intuitive) नहीं। बुद्धि किसी चीज को साक्षात् रूप से जानने का साधन नहीं हो सकती है। हमारा वस्तु-तथ्य से साक्षात् सम्पर्क अनुभव के द्वारा ही संभव है। परमार्थ अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे होने के कारण अज्ञेय है। अतः परमार्थ को अज्ञेय कहने में कोई अंतर्विरोध नहीं है। वास्तव में, काण्ट ने 'शुद्ध-बुद्धि' (प्रज्ञा) के विवेचन में निरीश्वरवाद, भाग्यवाद एवं चमत्कारिक ईश्वरवाद की मान्यताओं में असंगति दिखाकर आस्था के विषय (जैसे ईश्वर, आत्मा आदि) के लिए मार्ग-प्रशस्त कर दिया।

काण्ट ने आत्मा की द्रव्यवादी और अनुभववादी अवधारणा का खण्डन करके उसे एक विशुद्ध ज्ञाता (विषयी) कहा, जो समस्त ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा है। यह स्वतः सिद्ध है। समस्त बुद्धि-विकल्प आत्मा के आलोक से युक्त होकर संवेदनों को ज्ञान के रूप में रूपांतरित करते हैं। **यद्यपि विशुद्ध ज्ञाता स्वतः सिद्ध है, तथापि उसके स्वरूप को नहीं जाना जा सकता है। आत्मा एक पारमार्थिक सत्ता है। टी. एच. ग्रीन** ने तो यहाँ तक कह दिया कि

काण्ट के दर्शन में एक मात्र आत्मा ही सार्थक पारमार्थिक स्वलक्षण है। उसके ऊपर ही समस्त विषयों का ज्ञान एवं आभास आश्रित हैं। किन्तु आत्मा स्वयं कोई विषय नहीं है। इस दृष्टि से कुछ आलोचकों ने काण्ट की आत्मा सम्बंधी अवधारणा को **अद्वैतवादी शंकराचार्य** के आत्मवाद के पर्याप्त निकट माना है।[2]

यद्यपि काण्ट की कुछ मान्यताएं अद्वैत वेदांत से साम्य रखती हैं, तथापि उसका दृष्टिकोण अद्वैत वेदांत से भिन्न है। वह व्यवहार और परमार्थ, आत्मा और प्रकृति, बुद्धि-विकल्प और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (संवेदन), ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के बीच में स्पष्ट रूप से भेद करता है, अर्थात् वह द्वैतवादी है। वह यहाँ तक कहता है कि संवेदनों के अभाव में रिक्त बुद्धि-विकल्पों के द्वारा आत्मा भी विषय-ज्ञान की संरचना नहीं कर सकता है। आत्मा को तार्किक विषयी (Logical Subject) एवं समस्त ज्ञान का आधार मानते हुए भी काण्ट विषयों की सत्ता को स्वीकार करता है। इसके विपरीत अद्वैत वेदांत में, आत्मा से भिन्न कोई भी वस्तु पारमार्थिक दृष्टि से सत् नहीं हो सकती है।[1] वस्तुतः अद्वैत वेदांत एक आत्मवादी तत्त्वमीमांसा है। अद्वैत वेदांत में आत्मा तार्किक एवं तात्त्विक दोनों दृष्टियों से सत् है। इसके विपरीत काण्ट, दार्शनिक दृष्टि से एक ज्ञानमीमांसक है। वह तत्त्वविज्ञान के रूप में दर्शनशास्त्र को असंभव मानता है। वह मनुष्य में रहस्यात्मक अपरोक्षानुभूति अथवा बौद्धिक प्रतिभान की शक्ति को नहीं स्वीकार करता है। इससे स्पष्ट है कि कुछ बिन्दुओं पर भले ही **काण्ट एवं शंकर** में समानता मानी जाय, परंतु दोनों विचारकों के दृष्टिकोण एक दूसरे से मौलिक रूप में भिन्न हैं। इनमें से पहला (काण्ट) द्वैतवादी और दूसरा (शंकराचार्य) अद्वैतवादी है।

काण्ट के द्वैतवाद के कारण उसके दार्शनिक चिंतन में कुछ अंतर्विरोध का होना स्वाभाविक है। किन्तु उसके विरुद्ध उठायी गयी अधिकांश आपत्तियाँ आलोचकों के तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय पूर्वाग्रहों के कारण हैं। इसके अतिरिक्त काण्ट के युग की वैज्ञानिक मान्यताओं में संशोधन और परिवर्तन होने के कारण भी काण्ट के दर्शन की आलोचना की गयी है। वस्तुतः **दार्शनिक चिंतन सदैव अपने युग की वैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं से प्रभावित होता रहता है। काण्ट का दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है।** यदि काण्ट की दार्शनिक मान्यताओं का मूल्यांकन उस युग की दार्शनिक एवं वैज्ञानिक परिस्थितियों के आलोक में किया जाय तभी उसके दार्शनिक योगदान का न्यायोचित निरूपण किया जा सकता है। इन सीमाओं के होते हुए भी पाश्चात्य विचारधारा के इतिहास में काण्ट के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। उसके दर्शन का महत्व **केअर्ड** के इस कथन से ही आँका जा सकता है–

"हो सकता है कि कोई आधुनिक दर्शन काण्टवादी न हो, परन्तु उसे काण्ट के आचोलनावाद से होकर ही गुजरना पड़ेगा, अन्यथा, वह अनिवार्य रूप से अराजकतावादी और अप्रासंगिक हो जायेगा।"[2]

सारांश

अनिवार्य और सार्वभौमिक के रूप में प्रागनुभविक ज्ञान, जो कि *क्रिटिक* का लक्ष्य है, संबंधी पूर्ण निश्चितता की कांट की खोज उस दृष्टिकोण का परिणाम है जो केवल ईश्वर, जिसकी यथार्थता स्वयं समीक्षात्मक दर्शन के लिए अज्ञेय है, के लिए संभव है। तब यह या तो अंतरविरोध पूर्ण है या असंभव। संभावित अनुभव संबंधी वैधता के उपरान्त यह दृष्टिकोण सत्ता के असीमित ज्ञान की बात करता है ऐसा ज्ञान मानव के परे है। अनुभवों को संभव बनाने के क्रम में प्रागनुभविक सिद्धांत संबंधी अनुभवसतीत दावा गाड़ी के पीछे घोड़ा जोतने जैसा

है। शुद्धता और निश्चितता संबंधी संशलिष्ट प्रागनुभविक का अनिवार्य और सर्वव्यापी होने का दावा पूर्णत: अस्तित्वहीन को दर्शनिकिकृत करने के प्रयास जैसा है। अंत में, स्वयं *क्रिटिक* में कहा गया है कि "अनुभवातीत.... अनिवार्यत: मेरे लिये अज्ञेय है" (*सी.पी.आर.,* ए. 496/बी. 524)। अत: कांट के *क्रिटिकों* में और अधिक झाँकने की आवश्यकता है, विशेषकर *क्रिटिक* ऑफ प्रैक्टिकल रीजन में, कि कैसे मानव के जानने की प्रक्रिया में संश्लेषण की सार्वाधिक आधारभूत प्रक्रिया प्रभावित होती है।

प्रमुख शब्द

उत्तरानुभविक और प्रागनुभविक : ये दो प्रकार के ज्ञान में अंतर करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। प्रागुनभविक ज्ञान अनुभव से परे होते हैं (उदाहरण–सभी कवाँरे अविवाहित हैं)। उत्तरानुभविक ज्ञान या निर्णय अनुभव पर आधृत होते हैं (उदाहरण– कुछ स्नातक बहुत प्रसन्न हैं)।

अभ्यास प्रश्न

1. कांट का जीवन परिचय देते हुए उसके संशलेषणात्मक प्रागुनभाविक निर्णय व्याख्या कीजिए।
2. "देश और काल आनुभाविक नहीं है" कांट के इस कथन की समीक्षा करते हुए देश और काल की अवधारणा को समझाइए।
3. बुद्धि विकल्पों का तात्विक निगमन तथा अजीन्द्रिय निगमन क्या है? व्याख्या करे।
4. कांट के दर्शन में व्यवहार एवं परमार्थ क्या है? स्पष्ट करें।
5. कांट ने अपने दर्शन को 'कॉपरनिकस क्रान्ति' क्यों कहा है?
6. कांट के दर्शन में तत्वमीमांसा की अवधारणा को स्पष्ट करें।
7. कांट द्वारा ईश्वर के अस्तित्व सिद्धि के लिए दिए गए प्रमाणों की समीक्षा कीजिए।
8. कांट के नैतिक नियमों की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
9. सापेक्ष और निरपेक्ष अनुदेशों के बीच अंतर की व्याख्या करे।